## 🚓 श्री उत्तराध्ययन सूत्र 🚉 है

का

हिन्दी अनुकाद



मूल श्रानुवाद्क कविवय पंडित श्री नानचन्द्जी स्वामी के सुशिष्य

लघु शतावधानी पं० मुनि श्री सौभाग्यचंद्रजी म०

वीर संवत २४६१ ]

嗚

[ वि० स० १९९२

, मूर्व्य एक रुपया



दानवीर श्रीमान् सेठ हंसराजभाई लक्ष्मीचन्द श्रमरेली (काठियावाख)





## समर्पण

वंदनीय गुरुदेव

कविवर्षे श्री नानचंदजी स्वामिन !

श्रभ्यास, चिन्तन तथा श्रसाम्प्रदायिकता का इस सेवक में जो भी विकास हुश्रा है वह सब श्रापकी ही श्रसीम कृपा का फल हैं। इस श्राभारवश यह पुस्तक श्रापके कर-कमलों में सादर समर्पण करते हुए मुक्ते परम हर्ष होता हैं।

मुनि सौभाग्य



टानवीर श्रीमान सेठ हंसराजभाई लक्ष्मीचन्द श्रमरेली (.काठियावादः)



## समप्रण

## वंदनीय गुरुदेव कविवये श्री नानचंदजी स्वामिन्!

अभ्यास, चिन्तन तथा असाम्प्रदायिकता का इस सेवक में जो भी विकास हुआ है वह सब आपकी ही असीम क्रपा का फल है। इस आभारवश यह पुस्तक आपके कर-कमलों में सादर समर्पण करते हुए मुक्ते परम हर्ष होता है।

मुनि सौभाग्य

वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और नेकोपनीविश्व की दृष्टि में निज्ञान में क्या २ विदेशमाएँ हैं ? मोह मानम का निर्मा करने का उनके पास कीनहा स्मायन हैं ? आहि सभा अध्नी के उत्तर एउयमेंगन होने पर उन २ दृष्टियों से जो २ युद्धिआहा एगा उपके गाड़ सुरेशमें का निज्ञ मानस पट पर अंविन होता गया।

वैमें तो भगवान महायार के सना सूथी में शहान गरन असे पर्द हैं, किन्तु उनमें में सबसे पहिले उनगाण्यदम को बिट्यून नये देन में संरहा रित करने की भावना दक्षव होने के ही कारण थे, (१) सरजना, और (२) सर्वव्यापरना। और दर्शालये सबसे पहिले उनकी नर्गानमा देने की जिल्लासा सतत बना रहनी थी। उसके साथ ही खाम भिन्न व हिंह बिन्दुओं से जैन बाट्सय को गुजरानी भाषा में बिद्यान करने के मनोरय भी हदय में उदने रहते थे।

मानस्त्राण का नियम है:- 'जापर जार सथ्य स्टेहू सो नेहि निले, न कलु सन्देहू ।' जिसकी जैसी भावना होती है उसही पूर्ति के लिये साधन भी वैये ही मिल जाया करते हैं। मानों उन हार्दिक आन्दोलनों वा ही यह परिणाम था कि कुछ ही समय याद एक गर्पाजलामु भाई भी मिल गये। "महावीर के अमोल सर्वतोग्राही अमृत वधन घर घर में वर्षों न पहुँचे ?"—यह हार्दिक प्रेरणा उनके हृद्य में हृत्र मधा रही थी। उन भाई का नाम है श्री० छुधाभाई महासुग्नभाई। उनकी प्रेरणा में एक दूसरे सेवाभावो-बन्धु भो आ मिले और उनका नाम है श्री० जुदाभाई अमरशीभाई। उन तथा अन्य दूसरे सद्यहन्थों ने मिल पर परस्पर विचार करने के बाद खुदी र योजनाओं में में एक गास योजना निश्चित की।

टस योजना के फलस्वरूप 'महाबीर साहित्य प्रकाशन मंदिर' नाम की संस्कृत्थापित हुई। उसके जो २ बिहान, सभ्य हुए उनने सेवा-वृत्ति को सामने रख कर लोकसेवा के लिये बिलकुछ सस्ता साहित्य प्रका-शित करने का निश्चय किया। इस प्रकार अपनी तीन हार्दिक इच्छा को तत्काल ही फलवती होते . देखकर मुझे संतोप तो हुवा ही, परन्तु उसके साथ ही साथ मेरे संकल्प बल को भी सर्वोत्तम प्रोत्साहन मिला और इस दिशा में अधिकाधिक प्रयत्न करने का इस संस्था के द्वारा एक उत्तम सुभवसर मिला और उससे मुझे जो क्षाल्हाद हुआ उसका वर्णन निर्जीव शब्दों द्वारा कैसे किया जा सकता है ?

जब से श्री उत्तराध्ययन सूत्र का गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है तब से केवल ३ मासों में इसकी दो आष्ट्रितियां हाथों हाथ बिक गई , हैं। जैन एवं जैनेतर विद्वानों ने इस प्रकाशन की मुक्तकंठ से भूरि २ प्रशंसा की है और दिन पर दिन मांग हो रही है इससे विद्व होता है कि इस ग्रंथ को समाज ने खूब ही अपनाया है और इसी तरह की दूसरी उपयोगी आवृत्तियां यदि प्रकाशित की जांय तो वह समाज एवं धर्म, दोनों के लिये हितकर होगा — ऐसी आशा है।

हिन्दी भाषाभाषी जैन समाज भी इन प्रकाशनों का लाभ ले सके इस शुभ उद्देश्य से श्री स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स के जनरल सेक्रेटरीज़ श्रीमान् सेठ वेलजी लखमशी नष्यु तथा श्रीमान् चिमनलाल चक्नभाई सोलिसीटर ने महावीर साहित्य कार्यालय की अनुमित से "श्री हंसराज जिनागम विद्या प्रचारक फंड समिति" की तरफ से इस ग्रंथ को हिन्दी में अनुवादित कराकर प्रकाशित किया है और मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी भाषी बन्धु इसका पूर्ण रूप से लाभ लेंगे।

आज हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन सूत्र की दीपिका, टीका, अवचूरी निर्शुक्ति, भाष्य, चूर्णि, गुजराती तथा हिन्दी टीकाएं भिन्न २ संस्थाओं की तरफ से एक खासी संख्या में प्रकाशित हो चुकी हैं; तो फिर इस उत्तराध्ययन के अनुवाद में खास विशेषता क्या है ? इस प्रश्न का सीधा तथा सरल एक जवाब तो यही है कि उन सब के होने पर भी जैनवाङ्मय से जैनेतर वर्ग बिलकुल अजान ही बना हुआ है इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं

## श्रामुख

अजमेर अधिवेशन के समय अमरेनी निवासी श्रीमान् सेठ हंसराज भाई छड़मीचंदजी ने धार्मिक ज्ञान के प्रचार के लिये और आगमोद्धार के लिये अपनी कान्फरेन्स को १५०००) की रकम अर्पण की थी। इस फंड की योजना उसी समय जैन प्रकाश में प्रगट हो गई थी।

उस फंड में से यह प्रथम पुस्तक प्रकाशित की जाती है।

लघुशतावधानी पंडित श्री सोमाग्यचंदजी महाराज ने अपने आगमीं का गुजराती अनुवाद प्रगट करने का गुमकार्य ग्रुरु कर दिया है। और उसका प्रशासन श्री महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर अहमदावाद की तरफ से सुचारु से हो रहा है। अपने आगमों का सरल एवं सुंदर गुजराती अनुवाद सस्ते साहित्य के रूप में निकाल कर धार्मिक ज्ञान के प्रचार की इस सुन्दर योजना का लाभ हिन्दुस्थान के अन्य जैनी बन्धुओं को मिले। इस गुमाशय मे, इस योजना द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद श्रीर हंसराज जिनागम समिति ने प्रकाशित करने का निर्णय किया है।

इस हिन्दी अनुवाद को भी यथाशक्ति सरल और भाववाही बनाने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक की कीमत करीव लागत के बरावर ही रक्खी-गई है।

इसके वाद श्री दशवैकाटिक सूत्र का अनुवाद प्रकाशित किया नायगा। भाशा है कि जिस धर्म भावना से श्री हंसरान भाई ने यह योजना कीर - हैं, उसका पूर्ण सदुपयोग होगा।

> सेवक ज्वीमतुल्युल चकुभाई सहस्रती गित्रा भारती थे. स्था. जैन कान्य

#### वक्तव्य

<del>-}</del>-{--

के प्रति हृद्य में एक विशेष आकर्षण पैदा हुआ था और जियों र अन्य सूत्रों एवं प्रथों का अभ्यास होता गया त्यों र वह आकर्षण भिन्न र रूप में परिणत होता गया। उसके बाद तो हतर दर्शनों के, उसमें भी खास करके वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त हत्यादि दर्शनों फे साहित्य के अभ्यास एवं निरीक्षण करने का समय मिळता गया तथा इनके सिवाय अन्य प्रचळित मत, मतान्तर, दर्शन, बाद इन सब का अवळोकन जो कुछ भी होता गया त्यों र जैनदर्शन के प्रति कुछ विशेष मात्रा में अभिरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई और ऐसा होना स्वाभाविक भी था।

सबसे पीछे बौद्ध दर्शन के मौलिक ग्रंथ पढ़ने को मिले। उनका जैन साहित्य के साथ तुलनात्मक अभ्यास करने में बड़ा ही रस आया। बौद्ध साहित्य पढ़ जाने के बाद जैन साहित्य के प्रति आदर—माव विशेषतम हुआ ही, फिन्तु उसकी परिणति पहिले की अपेक्षा किसी दूसरे ही रूप में हुई। परंपरागत संस्कार से, जैनदर्शन यह विश्वव्यापी दर्शन है—ऐसा मान न्दक्ता था उसके बदले जैनदर्शन की विश्वव्यापकता किस तरह और क्यों है हन प्रश्नों पर विशिष्ट विन्तवन करने का जो अवसर मिला। वह तो बौद्ध धर्म के विशिष्ट वांचन के बाद ही और उसी वांचन का यह परिणाम है कि जैनधर्म पर पहिले की अपेक्षा और भी श्रद्धा भक्ति वढ़ गई; किन्तु इसकी हिंदाा कुछ दूसरी, हो तरफ रही और तब से यह दिनश्रय होता नया कि इन सर्व को तुलनात्मक हिंदे से विचार कर उन विशेषताओं को प्रकाश में लोगा चाहिये।

वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और लोकोपयोगिता की दृष्टि से जैनदर्शन में। क्या २ विशेषताएं है ? लोक मानस का निदान करने का उसके पास की नहां रसायन है ? आदि सभी प्रवनों के उत्तर हृदयमंथन होने पर दन २ दृष्टियों से जो २ बुद्धिबाह्य लगा उसके गाढ़ संस्कारों का चित्र मानस पर पर अंकित होता गया।

वैसे तो भगवान महावीर के सभी सूत्रों में असृत वचन भरे पड़े हैं, किन्तु टनमें से सबसे पहिले टत्तराध्ययन को विल्कुड नये ढंग से संस्कारित करने की भावना टक्क्व होने के हो कारण थे, (१) सरस्ता, और (१) सरस्ता, और (१) सर्वद्यापकता। और इमीलिये सबसे पहिले उसकी नवीनता देने की जिज्ञासा सतत वना रहनी थी। उसके साथ ही साथ भिन्न र दिए विन्दुओं से जैन वाड्मय को गुजराती भाषा में विकसित करने के मनोरथ भी हक्य में उठते रहते थे।

मानसशाख का नियम है:- 'जापर जाकर सथ्य सनेह सो तेहि मिले, न कहा सन्देह ।' जिसकी जैसी भावना होती है उसकी पूर्ति के लिये साधन भी वैपे ही मिल जाया करते है । मानी उन हार्टिक आन्दोलनी का ही यह परिणाम था कि कुछ ही समय बाद एक तत्विज्ञास भाई भी मिल गये । "महावीर के अमोल सर्वतीयाही असृत वचन घर घर में क्यों न पहुँचे ?"—यह हार्टिक प्रेरणा उनके हृदय में हुन्ह मचा रही थी । उन नार्ट का नाम है श्री० बुबाभाई महासुख्यमाई । उनकी प्रेरणा से एक दूसरे सेवाभावी—वन्धु मा आ मिले और उनका नाम है श्री० जूडाभाई अमरशीमाई । उन तथा अन्य दूसरे सड्यहस्थों ने मिल वर परस्पर विचार करने के बाद जुडी २ योजनाओं में से एक खास योजना निश्चित की।

टस पोजना के फण्य्वरूप महाबीर साहित्य प्रकाशन मंदिर' नाम भी मंग्यू स्थापिन हुई। टसके जो २ विद्वान, सभ्य हुए टनने देवा-पृत्ति को मामने रफ कर लोक्ष्मवा के लिये विटकुल सस्ता साहित्य प्रकान दिता करने का निश्चय किया। इस प्रकार अपनी तीन हार्दिक इच्छा को तत्काल हो फलवती होते देखकर मुझे संतोष तो हुवा ही, परन्तु उसके साथ ही साथ मेरे संकल्प बल को भी सर्वोत्तम प्रोत्साहन मिला और इस दिशा में अधिकाधिक प्रयत्न करने का इस संस्था के द्वारा एक उत्तम सुभवसर मिला और उससे मुझे जो शाल्हाद हुआ उसका वर्णन निर्जीव शब्दों द्वारा कैसे किया जा सकता है ?

जब से श्री उत्तराध्ययन सूत्र का गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है तब से केवल ३ मासों में इसकी दो आवृत्तियां हाथों हाथ बिक गई हैं। जैन एवं जैनेतर विद्वानों ने इस प्रकाशन की मुक्तकंठ से भूरि २ प्रशंसा की है और दिन पर दिन मांग हो रही है इससे सिद्ध होता है कि इस ग्रंथ को समाज ने खूब हो अपनाया है और इसी तरह की दूसरी उपयोगी आवृत्तियां यदि प्रकाशित की जांय तो वह समाज एवं धर्म, दोनों के लिये हितकर होगा — ऐसी आशा है।

हिन्दी भाषाभाषी जैन समाज भी इन प्रकाशनों का लाभ ले सके इस शुभ उद्देश्य से श्री स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स के जनरल सेकेटरीज़ श्रीमान् सेठ वेलजी लखनशी नष्पु तथा श्रीमान् चिमनलाल चक्रभाई सोलिसीटर ने महावीर साहित्य कार्यालय की अनुमित से "श्री हंसराज जिनागम विद्या प्रचारक फंड समिति" की तरफ से इस प्रंथ को हिन्दी में अनुवादित कराकर प्रकाशित किया है और मुझे पूर्ण आशा है कि हिन्दी भाषी बन्धु इसका पूर्ण रूप से लाभ लेंगे।

आज हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन सूत्र की दीपिका, टीका, अवचूरी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, गुजराती तथा हिन्दी टीकाएं भिन्न २ संस्थाओं की तरफ से एक खासी संख्या में प्रकाशित हो चुकी हैं, तो फिर इस उत्तराध्ययन के अनुवाद में खास विशेषता क्या है ? इस प्रश्न का सीधा तथा सरल एके जवाव तो यही है कि उन सब के होने पर भी जैनवाङ्मय से जैनेतर वर्ग बिलकुल अजान ही बना हुआ है इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं,

जैन भी उस वस्तु में लगभग अपरिचित से हैं और यह बात अपनी आधुनिक धार्मिक अन्यवस्था से भलीभाँति प्रकट हो रही है।

ऐसा होने के तीन कारण हैं:-

[१] सूत्रों की मूल भाषा की अज्ञानता।

[२] अनुवाद शैली की दुर्वोधिता।

[३] मूल्य की अधिकता।

शिष्ट साहित्य के प्रचार की दृष्टि से की गई यह योजना उक्त तीनों कठिनाइयों को दृर करने में उपयोगी होगी ऐसी आशा है।

## पद्धति

तुलनात्मक दृष्टि के संस्कारों की छाप मुझ पर कैसी एवं किस प्रकार की पड़ी है ? और उसमें में कहाँ तक सफल हुआ हूँ ? इन प्रश्नों का निर्णय तो स्वयं वाचक महानुभाव ही करेंगे किन्तु इस उत्तराध्ययन का सांगोपांग अनुवाद करते समय जो जो खास दृष्टियां लक्ष्य में रक्खी गई है उनके विषय में सक्षेप में अपना दृष्टिविन्दु उपस्थित करना मुझे आवश्यक जान पहुंता है।

(समाज-दृष्टि) नेनदर्शन यह दावा करता है कि वह विखब्यापी धर्म है और खुळे आम इस वात की घोपणा करता है कि मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार प्रत्येक जीव को है, मात्र आवश्यकता है योग्यता की। इसीलिये साधु, साध्वी और श्रावक, श्राविका इन चारों अंगों को 'संघ' की संज्ञा दी गई है और उन सब को मोक्षत्राप्ति का समान अधिकार भी दिया गया है। विचारणीय विषय यह है कि ऐसे उदार शासन (धर्म) के सिदान्तों में केवल एक ही पक्ष को लागु कोई एकान्त वचन केसे हो सकता है? इसिलिये गृहस्थ जीवन में भी त्याग हो सकता है और इसिलिये मगवान महावीर ने अणगारी (साधु) एवं अगारी (गृहस्थ) ये दो प्रकार के स्पष्ट मार्ग वताए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में एक जगह गृहस्थ के त्याग की महिमा का उल्लेख मिलता है:—

### "सन्ति एगेहिं भिक्खुहिं गारत्था संजमुत्तरा"

अर्थ-"बहुत से कुसाधुओं की अपेक्षा संयमी गृहस्थ उत्तम होते हैं"। सारांश यह है कि गृहस्थ जीवन में भी मोक्ष की साधना की जा सकती है और मर्यादित संयम धारण किया जा सकता है। सूत्रकारों के इस उदार आशय को उक्ष्य में रखकर यहां उस शैंछी का उपयोग किया गया है जो साधु एवं गृहस्थ इन दोनों को समान रूप से छागु पड़ती है।

[भाषादृष्टि] भाषा की दृष्टि से तथा आसपास के संयोगों को देखते हुए वास्तविक मौलिकता के निर्वाह के किये कुछ खास अर्थ किये गये हैं। यद्यपि उनमें परंपरा की मान्यता की अपेक्षा कुछ नवीनता अवश्य मालूम होती है किन्तु वह भिन्नता उचित है और सूत्रकारों के भाशय के अनुकूल होने से उनकी तरफ वाचकवर्ग अपनी सहिष्णुता दिखायेंगे इसी भाशा से उस भिन्नता को स्थान दिया गया है। भिन्नता के दो-चार दृष्टान्त यहां देने से विशेष स्पृष्टीकरण हो जायगा । 'नीयवट्टी' -यह प्राकृत शब्द है और इसका संस्कृत अर्थ 'नीचवर्ती' होता है। परंपरा के अनुसार इसका अर्थ गुरु से नीचे आसन पर बैठनेवाला, ऐसा प्रच-खित है। किंतु थोड़ा शान्त एवं गहरा विचार करने से <sup>6</sup>मालूम होगा कि चाह अर्थ बहुत ही संकुचित है, इतना ही नहीं प्रसंगानुसार असंगत भी है। इस शब्द का असली रहस्य अत्यन्त नम्रता सूचक है और तथानु-नात प्रसंग में 'मैं कुछ भी नहीं हूँ ऐसी नम्रतायुक्त भावनावाला, यह अर्थ विशेष प्रकरणसंगत एवं अर्थसंगत मालून होता है। इसी तरह 'गुरुणामु-ववाय कारए' में भी गुरु के समीप रहने का भाव, व्यंजना-शक्ति से केवल यही हो सकता है कि 'गुरु के हृदय में रहने वाला'; और न्यही अर्थ अधिक युक्त एवं व्यापक हो सकता है। क्या भगवान महावीर के सभी शिष्य उनके पास ही रहते थे ? इसीलिये वेसा अर्थ योग्य न न्लगनं से दूसरा अर्थ संबंधी खुलासा टिप्पणी में किया है इसी तरह दूसरे खुलासे भी यथायोग्य रीति से जहां २ प्रसंग एवं आवश्यकता माल्य पढ़ी हैं वहां २ किये हैं। [ अर्थदिए ] इसी प्रकार किन्हीं किन्हीं गाथाओं के अर्थ भी परंपरा से कुछ जुदे ही रूप में होते चले आ रहे है, जैसे:—

"सपूच्चमेवं न लभेज पच्छा एसोवमा सासयवाइयाणं विसीयई सिढिले आयुयम्मि कालोवणीए सरीरस्स भेए।"

#### संस्कृत द्याया

"सपूर्विमेवं न लभेत पश्चाद् एपोपमा शाश्वतवादिकानाम् विपीदित शिथिले आयुपि कालोपनीते शरीरस्य भेदे ।"

इसका अर्थ टटवा की परंपरा के अनुसार इस प्रकार होता है:-

"जो पहिले नहीं हुआ तो पीछे होगा"—ऐसा कहना ज्ञानी पुरुपों के लिये योग्य है, क्योंकि वे अपने अविष्यकाल को भा जानते हें, किंतु यदि सामान्य मनुष्य भी वैसा ही मानने लगे और अपनी उन्नति के मार्ग का अनुश्तीलन किये बिना ही रहे तो मृथ्यु समय उन्हें खेद करना पड़ता है।" ऐसा अर्थ करने से यहां ३ प्रश्न उठते हैं:—(१) चाल प्रसंग में इसनी के विषय में ऐसा कथन करना क्या उचित है? यदि कदाचित घटित भी हो तो भी शाञ्चतवादी विशेषण ज्ञानीवाची कैसे हो सकता हं? क्योंकि शाश्चतवादी एवं शाश्चतदर्शी इन दोनों में जमोन आसमान का अन्तर है। हरेक वस्तु को नित्य (शाश्चत) कह देना यह तो सब किसी के लिये सुलभ है किन्तु नित्य दर्शन तो केवर ज्ञानी पुरुप ही कर सकते हे? (३) ज्ञानी अर्थ करने पर भी क्या इन दोनों पट्टों का पूरा अर्थ वरावर घटित होता है? इन सब प्रश्नों का विचार करने पर जो अर्थ उचित मालुम देता है वह इस प्रकार है:—

"जो पहिले मास नहीं होता वह पीछे भी प्राप्त नहीं होता" अर्थात् समस्त जगत को रचना निश्चित है। पहिले जो था वही आज है और वहीं सदा बना रहेगा। छोक भी शाश्चत है और आत्मा भी शाश्चत है, हम उसमें कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते है ? तो फिर आत्मविकास. की आवश्यकता ही क्या रही ? इस तरह की शाश्वतवादियों ('नियति— बादियों ) की मान्यता होती हैं, किन्तु जब आयु शिथिल होती हैं तब उसकी भी वह मान्यता बदल जाती हैं और उस समय उसको खूब पश्चाताप होता है।''

[ अनुवाद शाँती ] अनुवाद दो प्रकार के होते है:—(१) शब्दार्थ प्रधान अनुवाद, और (२) वाक्यार्थ प्रधान अनुवाद। शब्दार्थ प्रधान अनुवाद में शब्द पर जितना लक्ष्य दिया जाता है उतना लक्ष्य अर्थ- संकलना पर नहीं दिया जाता। इससे शब्दार्थ तो स्पष्ट रीति से समझ में आ जाते हैं किन्तु भावार्थ समझने में बढ़ी देर लगती हैं। और कई बार तो बढ़ी किटनता भी मालूम होती है। किन्तु वाक्यार्थ प्रधान अनुवाद में शब्दों के फुटकर अर्थ गीण कर दिये जाते हैं परन्तु वाक्य रचना एवं शैली हतनी सुन्दर तथा रोचक होती है कि वांचक के हदय पट पर उसको पढ़ते पढ़ते उसके गंभीर रहस्य क्रमशः अंकित होते चले जाते हैं और अन्थ एवं अन्थकार के उद्देश इस शैली से मली प्रकार संपन्न होते हैं। इस ग्रंथ के अनुवाद में यद्यपि मुख्यतया इसी शैली का अनुसरण किया गया है फिर भी मुलगत शब्दों के अर्थों को कहीं नहीं छोढ़ा है और साथ हो साथ इसका भी यथाशक्य ध्यान रखा है कि भाषा कहीं टूटने न पाये और सबकी समझ में सरलता के साथ आसके - ऐसी सुबोध एवं सुगम्य हो।

[टिप्पणी] जैन तथा जैनेतर इनमें से प्रत्येक वर्ग को समझने में सरलता हो इस उद्देश्य से उचित आवश्यक प्रसंगों पर टिप्पणियां भी दी गई हैं। ये टिप्पणिया यद्यपि छोटी हैं किन्तु अपने श्लोक के अर्थ को विशेप स्पष्ट करती हैं। इसके साथ हो साथ प्रत्येक अध्ययन का रहस्य समझाने के लिये प्रायः सभी अध्ययनों के आदि तथा अन्त में छोटी र-टिप्पणियां दी गई हैं। पद्य शैलो कितनी ही सुन्दर एव विस्तृत वर्षों न हो किन्तु उसमें कुछ न कुछ विषय अकथ्य—अवर्णित—अध्याहार

## उपोद्घात

#### -----

भूगवान महावीर के उपलब्ध सूत्रों को दो विभागों में बाँटा है (१) अंगप्रविष्ट, और (२) अंगवाहा। अंगप्रविष्ट सूत्रों का गुंथन गणधरों (भगवान महावीर के पट्टिल्यों) ने किया है और अंगवाहा सूत्रों का गुंधन गणधरों ने तथा पूर्वाचार्यों ने किया है। किन्तु उन दोनों में उपदिष्ट तात्विक सूत्र भगवान महावीर एवं उनके पूर्ववर्ती तीर्थकरों के आत्मानुभव के ही प्रसाद है।

टत्तराण्ययन सूत्र का समावेश अंगवाह्य सूत्रों में होता है किर भी यह संपूर्ण सूत्र सुधमंत्वामी ( भगवान महावीर के ११ गणधरों में से पाँचमें, जिनका गोत्र अग्नि वैश्यायन था उन ) ने जंब्स्वामी ( सुधमें स्वामी के शिष्य ) को संबोधन करके कहा है; और उसमें जगह जगह "समयं गोयम मा पमायए", "कासवेण महावीरेण प्वमनलायं" ख्यादि आये हुए सूत्र इस बात की साक्षी देते हैं कि भगवान महावीर ने अपने जीवन काल में इन सूत्रों को गौतम के मित कहा था।

🛠 र्जन परम्परा के श्रनुसार उत्तराध्ययन का कालनिर्णिय

खेताम्बर मूर्तिप्जक तथा खेताम्बर स्थानकवासी इन दोनों सम्प्र-दायों को मान्य वसीस स्त्रों में यह एक उत्तम स्त्र है और अंग उपांग,

न्मूल और छेद इन चार विभागों में से मूल विभाग में इसकी गणना की जाती है।

भगवान महाबीर के मोक्ष जाने के बाद (बारह वर्ष पीछे गौतम स्वामी मुक्त हुए थे) उनके पाट पर ब्राह्मणकुलजात श्री सुधर्मस्वामी आये और वीर निर्वाण के २० वर्ष पीछे वे भी मुक्त हुए। उनके बाद उनके पाटपर श्री जंब्र्स्वामी विराजमान हुए—'(वीर वंशाविल, जैन 'साहित्य संशोधक)"

इस कथन पर से उत्तराध्ययन की प्राचीनता तथ अद्भुतता स्वयमेव रपष्ट हो जाती है।

पूर्वकालीन भारत—धार्मिक युग

भगवान महावीर का युग—एक धार्मिक युग तरीके माना जाता है। इस युग में तीन धर्म सुख्य थे; जिनके नाम वेद, जैन और बौद्ध धर्म हैं।

उस समय वेद और जैन ये दो धर्म प्राचीन थे, बौद्ध धर्म अवींचीन था। एक स्थान पर डाक्टर हमन जैकोबी आचारांग सूत्र की प्रस्तावना में लिखते हैं:—

"It is now admitted by all that Nataputta (gnatiputra), who is commonly called Mahavir or Vardhamana, was a contemporary of Buddh; and that the Niganthas (Nigranthas) now better known under the name of Jains or Arhats, already existed as an important sect at the time when the Buddhist church was being founded"

यह बात अब सर्वमान्य हो चुकी है कि नातपुत्र (ज्ञातिपुत्र) जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं, वे बुद्ध के समका-लीन थे और निगांथ (निग्रंथ) जो आजकल जैन अथवा आहँत नाम से ं रूप में रह ही जाता है, इन टिप्पणियों द्वारा यथाशक्य उस कमी की पति की है।

[संस्कार]—अर्थ करते समय सरल से सरल शब्द और केवल नोलचाल की भापा ही व्यवहन करने का बहुत अधिक ध्यान रक्ला है। न्वहुत से पारिभाषिक शब्दों में सुन्दरता लाने के लिये उनके मूल रहस्य की रक्षा करते हुए कहीं र पर भाषा संस्कार भी किया है, जैसे 'नियोगट्टी' अर्थात् नियोगर्थी, मोक्षार्थी। इस शब्द का जैन परिभाष में प्रायः इन्हीं अर्थों में उपयोग होता है किन्तु यदि इसी शब्द का सुमुल्ल किंवा मोक्षार्थी अर्थ में व्यवहार करें तो वह और भी विशेष सुन्दर एवं व्यापक होगा। इसी तरह अन्य बहुत से शब्द, जैसे कि, संग, कामगुण, गृद्धि आदि सभी परिभाषिक शब्दों को उचित प्रसंगों में प्रकरण संबंध तथा भाषा संबंधी आधुनिक संस्कारिता तथा शैली को निभाते हुए संस्कारित किया है। फिर भी सूत्र के मूल आश्रय में किंचिनमात्र भी फेरवदल न हो, इसका सर्वत्र एवं सर्वदा ध्यान रक्ला है।

[सूत्र की जीवन ट्यापकता] अहिंसा के सिद्धान्त का गंभीर प्रतिपादन, त्यागाश्रम की योग्यता, विद्वच्यापी प्रेम, स्त्री पुरुषों के समानाधिकार, संयम की महत्ता, कर्मावलंबी वर्ण व्यवस्था, जातिबाद का घोर खंडन, गृहस्थ श्रावक के कर्त्तव्य, आदि आदि इतने उत्तम पदार्थ पाठ भगवान महाबीर के प्रतिपादित प्रवचनों में स्पष्ट रूप से मिल जाते हैं कि आज के वर्तमान युग को धार्मिक दिशा की तरफ लेजाने में बहुत ही प्रोरणा-जनक सिद्ध होंगे। सूत्र की यह जीवनव्यापी दृष्ट स्पष्ट करने की तरफ इस तमाम अनुवाद में सविद्योप ध्यान रक्ला गया है।

( थ्रासाम्प्रदायिकता )—सामान्यतः केवल एक ही प्रकार की -साम्प्रदायिकता अथवा मान्यता को पुष्ट न करते हुये केवल तात्त्विक - बुद्धि पूर्वक ही कार्य करने के उद्देश को अन्त तक मध्ये नज़र रक्खा है। - इन सब दृष्टि यिन्दुओं को लक्ष्य में रखने का एक हो कारण है और वह यह है कि इस ग्रन्थ में अन्तर्भूत भगवान महावीर की प्रेरणात्मक वाणी का लाभ जैन, जैनेतर सब कोई ले सकें।

#### सहायक

इस अनुवाद में जो कुछ भी असाम्प्रदाधिकता आ सकी है वह सब-मेरे पूज्य गुरुदेव श्री नानचन्दजी महाराज की संस्कृति का ही अनुग्रह है, इतना ही नहीं किन्तु इस अनुवाद को सांगोपांग देख जाने तथा यथा-स्थान संशोधन कर अपने विशाल अवलोकन का लाभ उनने दिया है उस अनुपम एवं अनुल्य उपकार को हृदय से मान कर अपने कथन को: समाम करता हूँ।

'सन्तवाल'

घाटकोपर—मुंबई चातुमास्य निवास–सं० १९९**१**:

# उपोद्घात

#### ---

भगवान महावीर के टपलट्य सूत्रों को दो विभागों में बाँटा है (१) अंगप्रविष्ट, और (२) अंगदाहा। अंगप्रविष्ट सूत्रों का गुंथन गणधरों (भगवान महावीर के पट्टिशाप्यों) ने किया है और अंगदाहा सूत्रों का गुंधन गणधरों ने नथा पूर्वाचायों ने किया है। किन्तु उन दोनों में उपदिष्ट तात्विक सुत्र भगवान महावीर एवं उनके प्रवंबतीं तीर्थकरों के आत्मानुभव के ही प्रसाद है।

दत्तराध्ययन स्त्र का समावेश अंगवाहा स्त्रों में होता है फिर भी यह संपूर्ण स्त्र सुधर्मस्तामी ( भगवान महावीर के ११ गणधरों में से पाँचवें, जिनका गोत्र अग्नि वेंश्यायन था उन ) ने जंब्र्स्तामी ( सुधर्म स्त्रामी के शिष्य ) को संबोधन करके कहा है; और उसमें जगह जगह "समयं गोयम मा पमायए", "कासवेण महावीरेण एवमनखायं" झ्यादि आये हुए स्त्र इस बात की साक्षी देते हैं कि भगवान महावीर ने अपने जीवन काल में इन स्त्रों को गौतम के प्रति कहा था।

🛠 जैन परम्परा के श्रनुसार उत्तराध्ययन का कालनिर्ण्य

श्वेताम्बर मूर्तिप्जक तथा श्वेताम्बर स्थानकवासी इन दोनों सम्प्र-दायों को मान्य वसीस स्त्रों में यह एक उत्तम सूत्र है और अंग उपांग,

क्ष "उत्तराध्ययन नी श्रीलखाण" नामक निवध प्रोफेसर मिस्टर दवे महाशय ने लिखा है जो ज्यों का त्यों श्रागे दिया गया है। यहां ती मात्र जैन परम्परा की मान्यनानुसार विचार किया गया है।

न्मूल और छेद इन चार विभागों में से मूल विभाग में इसकी गणना की जाती है।

भगवान महावीर के मोक्ष जाने के बाद (बारह वर्ष पीछे गौतम स्वामी मुक्त हुए थे) उनके पाट पर ब्राह्मणकुरुजात श्री सुधर्मस्वामी आये और वीर निर्वाण के २० वर्ष पीछे वे भी मुक्त हुए। उनके बाद उनके पाटपर श्री जंब्स्वामी विराजमान हुए—'(वीर वंशाविल, जैन साहित्य संशोधक)"

इस कथन पर से उत्तराध्ययन की प्राचीनता तथ अज्ञुतता स्वयमेव

## पूर्वकालीन भारत-धार्मिक युग

भगवान महावीर का युग—एक धार्मिक युग तरीके माना जाता है। उस युग में तीन धर्म मुख्य थे; जिनके नाम वेद, जैन और बौद्ध धर्म हैं।

उस समय वेद और जैन थे दो धर्म प्राचीन थे, बौद्ध धर्म अर्वाचीन था। एक स्थान पर डाक्टर हमेंन जैकोबी आचारांग सूत्र भी प्रस्तावना में लिखते हैं:—

"It is now admitted by all that Nataputta (gnatiputra), who is commonly called Mahavir or Vardhamana, was a contemporary of Buddh; and that the Niganthas (Nigranthas) now better known under the name of Jains or Arhats, already existed as an important sect at the time when the Buddhist church was being founded"

यह बात अब सर्वमान्य हो चुकी है कि नातपुत्र (ज्ञातिपुत्र) जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं, वे बुद्ध के समका-लीन थे और निगांथ (निग्रंथ) जो आजकल जैन अथवा आहेंत नाम से विशेष प्रसिद्ध हैं, वे टस समय एक प्रभावशाली संघ के रूप में विद्य-मान थे जब कि बौद्धधर्म की स्थापना की जा रही थी।

इससे यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्य विद्वान, जो पहिले बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म को अर्वाचीन मानते थे, वे अब पुष्ट प्रमाण मिलने पर उसकी प्राचीनता को पूर्ण रूप से स्वीकार करने लगे हैं। इसके पहिले डॉ० वेबर, डॉ० लेसन प्रश्ति कुल उद्घट विद्वानों ने ऐसी भूल कैसे कर डाली—ऐसी यदि किसी को शंका हो तो उसका समाधान डॉ० हर्मन नेकोबी ने जैन सूबों की प्रस्तावना में इस प्रकार किया हैं:—

प्रो० छेसन ने इन दोनों धर्मों को एक ही माना है और वैसा मानने में निम्निछिखित चार कारण दिये हैं:—

- (१) भाषादृष्टिः—इद का संपूर्ण मौलिक साहित्य पाली भाषा में है किन्तु भगवान महावीर का साहित्य अर्घ मागधी भाषा में हैं। इन दोनों साहित्यों में उन्हें बहुत नंशों में भाषा की समानता दिखाई दो।
- (२) कई एक पारिभाषिक शब्द दोनों में एक ही हैं, जैसे कि जिन, शहैत, सर्वज्ञ, सिद्ध, बुद्ध, परिनिवृत्त, मुक्त आदि २।
  - (३) भतीत तीर्थद्वरों की प्रायः विलक्कल मिलती हुई गुण प्जा।
  - (४) अहिंसा आदि कई एक सिद्धान्सी की स्थूल समानता ।

किन्तु ढॉ॰ हमेन जैकोबी ने अपनी जैनस्त्रों की प्रस्तावना में इन चारों कारणों पर खूब ही विस्तृत विद्रलेपण कर वेट तथा बौद्ध धमें के सिद्धान्तों से जैन धमें के सिद्धान्त विल्कुल मिन्न हैं, इतना ही नहीं किन्तु अनेक विपयों में तो जैनधमें की बहुत सी विद्रोपताएं हैं इन वालों को अकाट्य प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाई हैं।

#### जैन धर्म का प्रचार

यहां पर एक शंका यह की जा सकती है कि जैन धर्म के विश्वन्यापी सिद्धांत होने पर भी बौद्ध धर्म के प्रचार के समान उसका प्रचार मारतवर्ष

- के सिवाय इतर देशों में क्यों नहीं हुआ ? इसके अनेक कारण हैं जिनमें निम्न छिखित कारण भी हैं:—
- (१) भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ की परंपरा की अपेक्षा अधिक कठोर विधिविधानों की स्थापना की थी जिससे जैन धर्म के प्रचा-रकों में मुख्य श्रमणवर्ग भारतवर्ष के वाहर नहीं जा सका था।
- (२) प्रचार करने की अपेक्षा धर्म के संगठन पर तत्काळीन जैन-संस्कृति का विशेष छक्ष्य रहा होगा।

इतना प्रसंगोचित विवेचन करने के बाद अब हम उत्तराध्ययन की विशेपता पर विचार करते हैं।

#### जैन धर्म के विशिष्ट मिद्धान्त

(१) ब्रात्मा का नित्यत्वः—आत्म। को परिणामी नित्य माननी चाहिये अर्थात्—एकान्त कृटस्थ नित्य अथवा केवल अनित्य—नहीं माननी चाहिये।

आरमा अखंड नित्य होने पर भी कर्मनशात् उसका परिणमन तो हुआ ही करता है जैसा कि कहा भी है:—

नो इंदियगेज्मो , अमुत्तमावा , अमुत्तमावा वि अ होइ निष्चे। अज्ञम्मत्यहेर्ड निययस्स बचा , संसारहेड च वयंति वघ ।

भर्थात्—आत्मा अमूर्तिक है और इसी कारण से वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष देखी नहीं जा सकती, उसको छुई नहीं जा सकती। और वह अमूर्त होने से निष्य है किन्तु अज्ञानवशात् वह कर्मवंधनों में जकदी हुई है और वही बंधन तो यह संसार है।

सांख्य दर्शन आतमा को क्टस्थ नित्य मानता है और बौद्ध धर्म इसे एकांत अनित्य मानता है। गहरा विचार करने पर ये दोनों ही सिद्धांतः, मामला दिखाई दे रहा है। छोटे जन्तुओं को बढ़े जन्तु, और उनसे बढ़े रनको खाकर अपना निर्वाह कर रहे है। और इस तरह स्वाधों के पार-स्परिक इन्द्र-युद्ध भिन्न २ क्षेत्रों में भिन्न २ रीति से चल रहे हैं। जहाँ कहीं भी देखों, जबर्दम्त खेंचातान, छीनाझपटी, मारामारी, काटाकाटी आदि के भीषण संबर्षण चलते नज़र आते हैं।

किन्तु जैनधर्म कहता है कि "इन घाद्य छड़ाइयों की अपेक्षा अन्दर की छड़ाई छड़ो। बाद्य छड़ाइयों को बन्द करो, तुम्हारा सच्चा कल्याण, तुम्हारा सच्चा हित, तुम्हारा सच्चा साध्य यह सब कुछ तुम में ही है। बाहर तुम जिस बम्तु की शोध कर रहे हो वह विलक्त मिथ्या है। अपने किसी भी सुख के छिये दूसरों पर अत्याचार हिंसा अथवा युद्ध करना आदि सभी ध्यर्थ हैं" जैसा कि कहा भी है:—

अप्पारामेव जुन्माहि किंते जुन्मेरा वन्मको । अप्पारामेव अप्पारा, वहत्ता सुहमेहर ॥ १ ॥ वया

तथा

वर मे ऋष्पा दंतो, संजमेरा तवेरा य। माह परेहिं टम्मंतो वैधरोहिं वहेहि य॥२॥

ग्रर्थः—(१) वाहर के युद्धों से क्या होनेवाला है ? (कुछ भी आत्मिसिंद्ध नहीं होती), इसिंख्ये आन्तरिक युद्ध करो। आत्मा के-संग्राम से ही सुख प्राप्त कर सकोगे।

(२) वाह्य बंध अथवा बन्धन से दमित होने की अपेक्षा संयम तथा तप के द्वारा अपना आत्मटमन करना यही उत्तम है।

(४) कर्म के अचल कायदे से पुनर्जन्म का स्वीकारः—

जड़, माया अथवा कमें से लिस चैतन्य जिस २ प्रकार की किया करता है उसका फल उसको स्वयं भोगना पढ़ता है। जैनदर्शन कहता है:-

"कडा्ण कम्माण न मोक्ख अत्थि" "किये हुए कमें को भोगे विना सुटकारा नहीं मिल सकता,।" कमें का नियम ही ऐसा है कि जब तक च्छसंका बीजसहित नाश न होगा तब तक शुभ अधवा अशुभ रूप से परंपरागत परिणमन होता ही रहेगा और जब तक कर्म से सम्बन्ध रहता है तब तक उस जीवास्मा को भिन्न भिन्न स्थानों में योजित करने के निमित्त भिकते ही रहेंगे और इस तरह पुनरागमन का चक्र चलता ही रहेगा।

मुश्च तथा तत्वज्ञान के जिज्ञासु को चार बातें जानने की खास जरूरत है। वे चार बातें ये हैं:—(१) आत्मा का स्वरूप, (२) संसार का कारण, (३) जन्म—जन्मांतर का कारण, और (४) उसका निवारण हन चारों बातों का ज्ञान जो यथार्थ रीति से हो जाय तो उसे अपने च्येहिक जन्म की सफलता के साधन उपलब्ध होते हैं, यह बात दूसरी है कि इन साधनों को प्राप्त कर वह अपने जन्म को सफल बनाने के प्रयत्न में लगे या न लगे। परन्तु जगत समस्त के प्रत्येक महान धर्म संस्थापक तथा तत्त्ववेत्ता ने इन मुख्य वस्तुओं को दृष्टि के समीप रख कर ही पृथक् पृथक् सिद्धातों का प्रतिपादन किया है तथा मुमुक्षुओं के लिये विविध प्रकार के कर्तव्य कर्मों का उपदेश किया है।

भगवान् महावीर के समय में वेद धर्म प्रचलित था यद्यपि उसके विधिविधानों में बहुत अधिक मात्रा में संकरता फैल गई थी। परन्तु इस धर्म के प्रचारकों तथा तत्व संशोध में को दृष्टि तो उपर्युक्त चार बातों ही की तरफ थी। एक स्मृति में यह लिखा है: — "किं कारणं ब्रह्म। कुतः स्म जाता जीवामः केन कव च सम्प्रतिष्ठिताः। केन सुखेतरेषु वर्ताणमह इति"॥

अर्थात्—क्या इस विश्व का कारण बहा है? (२) हम कहां से उत्पन्न
इए? किससे हम जीवित हैं? और कहां पर हम रह, रहे हैं? तथा (३)
इ:ख सुख में हम क्यों प्रकृत्त हैं?—हन तीनों प्रश्नात्मक स्मृति वाक्यों में
विश्व का कारण, आत्मा का स्वरूप (पहिचान), पूर्व जन्म—वर्तमान जन्म—
पुनर्जन्म का कारण और उसके निवारण के लिये सुख दु:ख के कारण के
संशोधन द्वारा क्र्वंब्य कर्म का विधान ये चारों ही प्रश्न समाविष्ट हैं।
वोदधर्म ने इन चारों प्रश्नों का निराकरण किस तरह किया है और उसमें

अपूर्ण मालम होते हैं क्योंकि यदि कृटस्थ नित्य मानेंगे तो इसमें परि-णमन नहीं हो सकेगा, जब परिणमन ही नहीं होगा तो बन्धन भी नहीं हो सकता और जहां बन्धन ही नहीं है वहां मुक्ति, निर्वाण या मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न ही कोई क्यों करेगा ? उसकी भी कुछ आवश्यकता नहीं रहेगी।

किन्तु हमें तो क्षण-क्षण में दुःख का संवेदन होता है, शरीर के अच्छे हुरे प्रत्येक प्रसंग में आत्मा श्रुमाश्रुम भावों का अनुभव करती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयं नित्य होने पर भी कर्म-चन्धनों से बंधी हुई है।

दूसरी तरफ यदि आत्मा केवल अनित्य ही होती, तो फिर पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि किसी वात की भी संभावना हो ही नहीं सकती और कर्म करनेवाली आत्मा ही जब नष्ट हो जाती है तो उसके किये हुए कर्मों का फल कौन भोगेगा ? इत्यादि प्रकार की अनेक असंबद्धताएं दिखाई देती हैं। यही कारण है कि जैनदर्शन ने आत्मा को परिणामी नित्य मानी है।

(२) संसार का ध्रनादित्वः—जैनदर्शन यह मानता है कि इस सृष्टि का उत्पन्न करनेवाला ईश्वर नहीं है। यह सृष्टि अनादि एवं अनंत है अर्थात् इसका कभी भी न तो प्रारंभ ही हुआ या और न कभी इसका अन्त ही होगा। यहुत ने धर्म यह मानते हैं कि प्रत्येक कार्य का कुछ न कुछ कारण अवश्य होता है और कारण के विना कार्य नहीं हो सकता। जैसे एक बढ़ा है, यह एक कार्य है तो उसका कारण (कर्ता) भी कुंभार है। कुंभार के विना घढ़ा नहीं वन सकता। इसी तरह छोटे बढ़े प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कर्ता अथवा प्रेरक अवश्य होता है। यह संसार (सृष्टि) भी एक कार्य है इसिल्ये इसका भी एक कर्ता है और उसीका नाम ईश्वर अथवा प्रकृतिशक्ति है।

यदि इन दलीलों को मान लिया जाय तो निम्नलिखित शंकाएँ पैदा कोती हैं:—

- (अ) यदि यावन्मात्र कार्यों का संचालक ईश्वर को मान लें तो जीवों को सुख दुःख देने में उसके ऊपर पक्षपाती होने का दोष भाता है (अर्थात् जो जीव सुखी हैं उन पर उसका प्रेम है और जो दुःखी हैं उन पर उसकी अवकृपा है) क्योंकि संसार में यह नियम है कि बिना इच्छा के कोई काम नहीं किया जाता और यह इच्छा होना इसीका अपर नाम राग-द्वेप है। और जो आत्मा राग-द्वेप से मलीन है वह सर्वज्ञ या परमात्मा ही कैसे हो सकती है ?
  - (ब) यदि सृष्टि उत्पन्न करनेवाली कोई शक्तिविशेष मानी जाय तो उसका कर्ता अथवा उसका स्वामी भी उसके अतिरिक्त किसी दूसरे को मानना हा पढ़ेगा और फिर इसका स्वामी, इस तरह स्वामियों की 'एक के बाद एक ऐसी परम्परा सी लग जायगी, जिसका कभी अन्त ही न होगा और इस तरह से अनवस्था दोष आ जायगा।
  - (क) ईश्वर अथवा उस अकल्प्य शक्ति पर आधार रखने से पुरुषार्थं के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता है। जब पुरुषार्थं ही कोई चीज़ नहीं नतीं जीवन भी न्यर्थं है और जब जीवन ही न्यर्थं है तो फिर जगत का कुछ कारण ही नहीं है। इसीलिये जैनधर्म कहता है:—

"अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य"

अर्थात् आत्मा ही अपने कर्मों की कर्त्री है और वही सुख-दुःख की -मोक्त्री है यदि मैं किसी दूसरे के कर्मों के कारण दिवत किया जांछ अथवा करूं में, और मोगे कोई दूसरा, तो यह वात बिलकुल हास्यास्पद एवं अधित मालूम होगी। इसीसे यह बात सिद्ध होती है कि इस सृष्टि को किसी ईश्वर अथवा शक्ति ने नहीं बनाया है, और न इसका कोई प्रेरक -ही है क्योंकि राग-द्वेष से रहित सिद्ध आत्मा का संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

(३) ब्यात्मसंत्राम—संसार में कहीं भी नजर फैलाओ, कहीं भी जीर किसी भी काल में देखों, सभी जगह 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का मामला दिखाई दे रहा है। छोटे जन्तुओं को बढ़े जन्तु, और उनमे बढ़ें उनको खाकर अपना निर्वाह कर रहे हैं। और इस तरह स्वायों के पार-रपिक हुन्ह-युद्ध मिल २ क्षेत्रों में भिन्न २ रीति से चल रहे हैं। जहाँ क्षीं भी देखों, जबर्दम्त खेंचातान, छीनाइपटी, मारामारी, काटाकाटी आदि के भीषण संबर्षण चलने नज़र आते हैं।

किन्तु नैनधर्म करता है कि "इन घाद्य छड़ाइयों की अपेक्षा अन्दर की छड़ाई लड़ों। बाद्य छड़ाइयों को बन्द करों, तुम्हारा सच्चा कल्याण, तुम्हारा सच्चा हित, तुम्हारा सच्चा साध्य यह सब कुछ तुम में ही है। बाहर तुम जिस बस्तु की द्योध कर रहे हो वह बिलकुछ मिथ्या है। अपने किसी भी सुन्द के लिये दूसरों पर अत्याचार हिंसा अथवा युद्ध करना आदि मसी ध्यर्थ है" नैमा कि कहा भी हैं:—

> श्रप्पाण्मित जुन्माहि किंते जुन्मेखा वन्मश्रो । श्रप्पाण्मित श्रप्पाणुं, कट्ता मुहमेहण॥१॥ तथा

वर में क्रपा देती, संजमेशा तेवेशा य। माई परेहिं दर्मती वैविशाहिं वहहि य॥२॥

ध्रार्थः—(१) बाहर के युद्धों से क्या होनेवाला है ? (कुछ भी भारमसिटि नहीं होती), इसिटिये आन्तरिक युद्ध करो। आत्मा के संग्राम में ही सुख प्राप्त कर मकीगे।

(२) बाह्य बंध अथवा बन्धन से दमित होने की अपेक्षा संयम तथा तप के द्वारा अपना आत्मदमन करना यही उत्तम है।

(४) कर्म के अचल कायदे से पुनर्जन्म का स्वीकारः—

. जद, माया अथवा कर्मी में लिस चैतन्य जिस २ प्रकार की किया करता है उसका फल उसकी स्वयं भोगना पदता है। जैनदर्शन कहता है:—

, "कटागा कम्मागा न माक्स अधिया "किये हुए कमीं को मोगे विना सुटकारा नहीं मिल, सकता।" कमें का नियम ही पेसा है कि नव तक- -उसका बीजसहित नाश न होगा तब तक शुभ अथवा अशुभ रूप से परंपरागत परिणमन होता ही रहेगा और जब तक कर्म से सम्बन्ध रहता है तब तक उस जीवारमा को भिन्न भिन्न स्थानों में योजित करने के निमित्त भिलते ही रहेंगे और इस तरह पुनरागमन का चक्र चलता ही रहेगा।

मुश्च तथा तत्वज्ञान के जिज्ञासु को चार वार्ते जानने की खास जरूरत है। वे चार वार्ते ये हैं:—(१) आत्मा का स्वरूप, (२) संसार का कारण, (३) जन्म—जन्मांतर का कारण, और (४) उसका निवारण हन चारों वार्तों का ज्ञान जो यथार्थ रीति से हो जाय तो उसे अपने पेहिक जन्म की सफलता के साधन उपलब्ध होते हैं, यह बात दूसरी है कि इन साधनों को प्राप्त कर वह अपने जन्म को सफल बनाने के प्रयत्न में लगे या न लगे। परन्तु जगत समस्त के प्रत्येक महान धर्म संस्थापक तथा तत्त्ववेत्ता ने इन मुख्य वस्तुओं को दृष्टि के समीप रख कर ही पृथक् पृथक् सिद्धातों का प्रतिपादन किया है तथा मुमुञ्जुओं के लिये विविध प्रकार के कर्तव्य कर्मों का उपदेश किया है।

भगवान् महावीर के समय में वेद धर्म प्रचलित था यद्यपि उसके विधिविधानों में बहुत अधिक मात्रा में संकरता फैल गई थी। परन्तु इस धर्म के प्रचारकों तथा तत्व संशोध में को दृष्टि तो उपर्युक्त चार वातों ही की तरफ थी। एक स्मृति में यह लिखा है: — "किं कारणं ब्रह्म। कुतः स्म जाता जीवामः केन कव च सम्प्रतिष्ठिताः। केन सुखेतरेषु वर्तानिमह इति"॥

अर्थात्—क्या इस विश्व का कारण ब्रह्म है ? (२) हम कहां से उत्पन्न इए ? किससे हम जीवित हैं ? और कहां पर हम रह रहे हैं ? तथा (३) दुःख-सुख में हम क्यों प्रवृत्त हैं ?—इन तीनों प्रश्नात्मक स्मृति वाक्यों में विश्व का कारण, आत्मा का स्वरूप (पहिचान), पूर्व जन्म-वर्तमान जन्म- पुनर्जन्म का कारण और उसके निवारण के लिये सुख दुःख के कारण के न्संशोधन द्वारा कर्तव्य कर्म का विधान ये चारों हो प्रश्न समाविष्ट हैं। व्येदधर्म ने इन चारों प्रश्नों का निराकरण किस तरह किया है और उसमें

कीनसी न्यूनता विशेषता है उसके सविस्तर विश्लेषण करने की आवश्य-कता नहीं है। उसका विचार तो स्त्र अन्थों में इतर महात्माओं के साथन जैन महात्माओं ने वड़ी अच्छी तरह से किया है।

महावीर स्वामी के समकालीन बुद्ध ने भी इसी श्रेणी का अनुसरण कर मुमुश्च धर्म का विधान किया है। जिस तरह तत्विवचारणा की दृष्टि से जैनधर्म, एवं वेदधर्म में मतभेद हैं उसा तरह बुद्ध के निर्णय तथा विधानों में भी मतभेद है। परन्तु यहां तो तत्त्वश्रेणी के साम्य पर ही हमें विचार करना है। बह्म, आत्मा, पूर्व जन्म, पुनर्जन्म, और उसके कारण की निवृत्ति की विचारणा अधीत इहलोक का कर्तव्य कर्म-ये सभी वार्ते बुद्ध तत्त्वदर्शन की श्रेणियां हैं। (१-२) भगवान्, ब्रह्म तथा आत्मा के शिक्तत्व को ही मानने से इन्कार करते हैं अर्थात् विद्य को अनादि और आत्मा को अवास्तविक मानते हैं किन्तु (३) कर्म विपाक से नाम रूपा-रमक इस बारीर को नाशवन्त जगतमें पुनः पुनः जन्म धारण करने पढ़तें हैं—ऐसा अवदय मानते हैं, और (४) इन जन्मों के पुनरावर्तन का कारण समझ कर जिसके द्वारा इस कारण का नाश हो उस मार्ग को स्वीकार करने का भी विधान करते हैं।

इन्हों चारों वालों का निराकरण भगवान महावीर उत्तराध्ययन स्त्र में लिस प्रकार से करते हैं तथा जो सारांग सामने उपस्थित करते हैं वह इस उपोड़वात के पूर्वार्थ में इस स्त्र के ही प्रमाण देकर जो निष्कर्य निकाल कर वताया है उसके कपर से देखा जा-सकता है। भारत के प्राचीन तस्वज्ञान की उपर्युक्त तीन सुख्य शाखाओं में से जैनधर्म की शाखा सुख्य नस्वों के विषय में क्या निर्णय करती है उसके जानने के इच्छुक जैन तथा जैनेतर महानुभावों को संतुष्ट करनेके समीचीन उद्देश्य से ही इस सुख्र को सब से पहिली पसंदगी देकर प्रकाशित किया है। मंगल प्रभात; ता० २२-१०-२४।

चातुर्मास निवास,

शांति निवास, श्रहमदावाद,

क्तवाल~

## उत्तराध्ययन सूत्र का परिचय

continue to

जैन धार्मिक प्रन्थों में उत्तराध्ययन का स्थान अनोखा है। उत्तराध्ययन आवश्यक, दशवैकालिक और पिंडनिर्युक्ति—इन चार सूत्रप्रन्थों को जैन-जनता मृल सूत्र तरीके मानती है। ये मूल सूत्र क्यों कहे जाते हैं यह भी जानने योग्य बात है । शार्पेन्टीयर नामक जर्मन विद्वान् की यह कल्पना है कि इन प्रन्यों को मूलसूत्र कहने का कारण यही मालूम होता है कि ये ग्रन्थ "Mahavira's own words' (Utt. Su. Introd. p. 32) अर्थात् स्वयं महावीर स्वामी के उपदेश ( शब्द ) इनमें गुंथे हुए हैं। उनका यह विधान दशवैकालिक को प्रत्यक्षरूप से लागू नहीं पड़ सकता<sub>र</sub> ऐसा कहकर मूलसूत्र का एक जुदा हो अर्थ Dr Schubring (डा॰ शूर्विंग ) करते हैं । वे कहते हैं कि "साधु-जीवन के प्रारम्भ में जो यमनियम आवश्यक हैं उनका इन अन्धों में उपदेश होने से इन अन्धों को 'मूलसूत्र' कहा जाता है- (Work plahaviras p. 1 Prof. Guerinot (प्रो॰ गेरीनो की यह मान्यता है कि ये प्रथ " Traites Originaux" अभर्यात् मूल ग्रंथ है, जिनके उत्पर अनेक टीकाएं, और निर्मुः क्तियां हुई हैं। टीका ग्रंथ का अम्यास करते हुए हम देखते हैं कि जिस अन्थ की टीका की जाती है, उसे सामान्यतः 'मूल-प्रंथ' कहा जाता है। दूसरी वात यह है कि जैन-धार्मिक प्रन्थों में इन प्रन्थों के ऊपर सबसे अधिक टीका अंथ किले गये हैं; इन्हीं कारणों से इन अंथीं को टीकाओं की अपेक्षा से मूल ग्रन्थ अथवा 'मूल-स्त्र' कहने की प्रथा पड़ी होगी ऐसी कल्पना होती है।

<sup>\*</sup> La Religion Jaina, p. 79

उत्तराध्ययन सृत्र का यह नाम क्यों पढ़ा 'इस विषय में भी थोड़ा मतभेद है। Leumann (ल्युमन) इसको "Later Readings" भथवा पीछ से ग्चे हुए अन्य मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में दलील देते हैं कि ये अन्य अंग अन्थों की अपेक्षा पीछे से रचे गये होने से इसको 'उत्तर'—अर्थात् वाद का अंथ कहा है। परन्तु उत्तराध्ययन के ऊपर जो टीका-अन्य लिखे गये हैं उनसे हमें यह वात माल्स्म होती है कि महावीर स्वामी ने अपने अन्तिम चौमासे में ३६ विना पृंछे हुए अक्तों के 'उत्तर' अर्थात् 'जवाव' दिये थे और वे ही इस अंथ रूप में संप्रहित हैं। यह दलील सत्य मानने के हमारे सामने सवल अमाण मौजूद हैं और 'उत्तर' शब्द का अर्थ उसमें और भी पूर्ति करता है, इसल्विय इस मत को अधिक प्रमाणिक मानने में काई भी आपिती नहीं है।

## उत्तराध्ययन सूत्र की निम्नलिखित श्रावृत्तियां सुप्रसिद्ध हैं

- Charpentier की आवृत्ति, उपोद्धात, टीका, टिप्पणी सहित (१९२२) (यह आवृत्ति उत्तम में उत्तम मानी जाकी है)।
   Achievesd' Eludes Orientales माला का १४ वॉ पृष्ठ
- २. जैन पुस्तकोद्धार माला का पुष्प नं० ३३, ३६, ४१
- उत्तराध्ययन स्त्र,-विजय-धर्मसृरिजी के शिष्य मुनि श्री जयन्त-विजयजी (आगरा, १९२३-२७, ३ मार्गो में )।
   उक्त प्रन्थ में खरतरगच्छीय उपाध्याय कमल संयम की टीका भी दी है।
- थ. अंग्रेज़ी भाषान्तर—Jacobi,Sacred Books of the East माला का पुष्प नं० ४५ वा—
- ५. इनके सिवाय भावनगर, छींबढ़ी छादि स्थानों में प्रसिद्ध हुई आवृत्तियां । इन सब की अपेक्षा यह गुजराती अनुवाद सबसे उत्कृष्ट ु ई । टिप्पणी, प्राक्षंयन, उपसंहार, प्वं वाक्यार्थ प्रधान भाषांतर

्र ति ये वातें इस आवृत्ति की उपयोगिता में एवं मीलिकता में वृद्धि करती हैं इसकी भाषा भी इतनी सरल दीख़ती है कि सभी कोई इसे बड़ी आसानी से समझ सकते हैं।

इस प्रथ में ३६ अध्ययन हैं जो पद्य में हैं और उसमें यमनियमों का मुख्यता से निरूपण किया गया है। शिक्षा के रूप में सूत्रात्मक शिक्षा-वाक्य, साधुओं में तितिक्षाभाव की तरफ प्रेरित करनेवाले प्रेरणा शील भावपूर्ण कथन तथा मोक्षप्राप्ति में जन्म, धर्म-िक्शा, श्रद्धा तथा संयम रूपी लाभचतुष्टय की उपयोगिता, सच्चे और भूं हे साधु का अन्तर, आदि २ विषय विशदता के साथ निरूपित किये गये हैं। इसके सिवाय विषय को स्पष्ट एवं सरल करने के लिये जगह २ छोटे २ सुंदर उदाहरण भी दिये गये हैं । चोर का उदाहरण, रथ हांकनेवाळे ( गाडीवान ) का उदाहरण, (अध्य० ६-- इलोक ३), तीन न्यापारियों का इप्टांत ं( अध्य० ७-इलोक १४-१६ ) भादि छोटे र दर्शत कुंदन में जहे हुए हीरे की तरह जगमगा रहे हैं। निमनाथ स्वामी की कथा यहां पहिली ही वार कही गई है। इनके सिवाय, संवादों की बहुसंख्या इस प्रथ की थुक खास विशेषता है। निमनाथ का संवाद हमें बुद्ध-ग्रंथ सुन्न निपात की 'प्रत्येक बुद्ध' की कथा की याद दिलाता है। हरिकेश तथा बाह्मण का संवाद, धार्मिक क्रिया एवं धार्मिक मृति के बलावल की तरफ इशारा करता है। पुराहित और उसके पुत्रों का संवाद साधु-जीवन की अपेक्षा गृहस्थ जीवन कितने अशों में न्यून है इस वात का प्रतिपादन करता है। यह संवाद महाभारत तथा बौद्ध जात ह में भी थोड़े से फेरफार के साथ र्यदेखाई देता है, इससे सिद्ध होता है कि उत्तराध्ययन सूत्र के कुछ पुराने भागों में से यह भी एक है। इस अंथ का आठवां अध्ययन -कापिलीय ( संस्कृत-कामिलीयन अर्थात् कपिल & सग्वन्धी) है और शांतिस्रि की टीका में करयथल कपिल की भी कथा दीगई है जो

सांख्य दर्शनकार कपिल के साथ इस कपिल का कोई सम्बन्ध नहीं है।

ब्राह्मण ग्रंथों के किएल के इतिहास से वहाशों में मिछती जुलती है। वाइसवें अध्ययन में श्रीकृष्ण की कथा आई है वह भी अनेक दृष्टियों की अपेक्षा में आकर्षक है। किंतु जैन-धर्म के इतिहास के लिये उपयोगी वस्तु तो तेइसवें अध्ययन में है-पाइवंनाथ और महावीर के शिष्यों के संवाद का यह प्रसंग है और उस संवाद में से मूल पार्श्वप्रवृत्त जैन-प्रचार कैसा था और उसमें महावीर ने क्या २ सुधार किये उसका कुछ थोड़ासा ख्याल आता है। उत्तराध्ययन (अध्ययन २५) का वस्तु तत्व) धर्मा पद के १म सर्ग (उदान) के साथ बहुत कुछ मिछता जुलता है। सचा बाह्मण किते कहते हैं इस विषय के ऊपर इस अध्ययन कई एक बहुत ही सुंदर सूत्र कहे गये हैं। इस ग्रन्थ का ऐसा विषय संग्रह है।

जैसा कि पहिले लिखा है, इस ग्रन्थ की अनेकानेक टीकाएं होचुकी है। और प्राचीन में प्राचीन टीकाएं भी इन मूलसूत्रों पर ही पाई जाती हैं इस परिस्थिति में उत्तराध्ययन की उक्त टीकाओं के विषय में कुछ-लिखना आवश्यक दिखाई देता है।

सवसे प्राचीन टीका भद्रवाहु की है जो 'निजुक्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका अन्य टीकाओं की अपेक्षा उपयोगी मानी जाती है वयाँकि उसमें जैन-धर्म सम्बन्धी प्राचीन जानकार की प्रभूतमात्रा में मिलती हैं। वाद की टीकाणुं उसवीं काताव्दी में लिखी गई हैं, जिसमें शांतिसुरिका माव विजय तथा देवेन्द्रगणि (सन् १०७३) की टोका मुख्य गिनी जाता हैं। ये टोनों व्यक्ति जैन-शासन के अलंकाररूप ये और अपने समय के प्रखर के विद्वान् थे यही कारण है कि इनकी टीकाओं में जगह जगह शास्त्रार्थ एवं खंडन मन्डन की झलक दिखाई देती है।

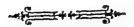
ं भाषा शास्त्रकी दृष्टि से देखने पर उत्तराध्ययन सूत्र की भाषा अर्ति आचीन ढंग की है। और, जैनग्रामों के जिन सूत्रों में सब से प्राचीन भाषा संग्रह की गई हैं उन्हीं में से यह ग्रंथ भी एक है। जैन-शासन में सबसे प्राचीन भाषा कायारांग ( आचारांग ) की है। उसके बाद की प्राचीन भाषा सूत्रगढांग ( सूत्र कृतांग ) की है और उसके बाद तीसरा स्थान उत्तराध्ययन सूत्र की भाषा का है ऐसा भाषा शास्त्रियों का मत है।

्र इस तरह उत्तराध्ययन की समालोचना स्थूल रूप से करने का यह-प्रयत्न किया है। उसमें यदि विद्वानों को कोई त्रुटि मालम पड़े तो वे उसे क्षमा करें। यही प्रार्थना है।

> त्र्यं. नं. द्वे, एम. ए., बी.टी., पी. एच. डी. (लंदन)

प्रोफेसर, गुजरात कालेज, श्रहमदावाद...

## अनुक्रमाणिका



-ग्रध्ययन

वृष्ठ

#### १--चिनयश्रुत

१

विनीत के लक्षण —अविनीत के लक्षण और उसका परिणाम-साधक का कठिन कर्तव्य—गुरुधमें —शिष्यशिक्षा—चलते, उठते, वैठते तथा भिक्षा लेने के लिये जाते हुए साधु का भाचरण।

#### २—परिपह

१२

भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न २ प्रकार के आये हुए आक-स्मिक संकरों के समय भिक्ष किस प्रकार सिहण्णु एवं शांत बना रहे आदि बातों का स्पष्ट उठलेख ।

#### `३—चतुरंतीय

રદ્

मनुष्यस्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा, संयम में पुरुपार्थ करना—इन चार आत्मविकास के अंगों का क्रमपूर्वक निर्देश—संसारचक्र में फिरने का कारण—धर्म कीन पाछ सकता है —शुभ कर्मी का सुन्दर परिणाम ।

#### ४-- असंस्कृत

38

जीवन की चंचलता—दुष्ट कर्म का दुःखद परिणाम—कर्मों के करनेवाले को ही उनके फल मोगने पढते हैं —प्रलोमनों में जागृति—स्वच्छंद को रोकने में ही सुक्ति है।

#### -५-- अकाममरणीय

३६

अज्ञानी का ध्येयज्ञून्य मरण─ऋरकर्मी का विलाप—भोगीं की आसक्ति का दुष्परिणाम—दोनों प्रकार के शेगों की उत्पत्ति—मृत्यु समय दुराचारी की स्थिति—गृहस्थ साधक की योग्यता—सच्चे संयम का प्रतिपादन—सदाचारी की गति—देव गति के सुखों का वर्णन—संयमी का सफल गरण।

६—ज्ञुल्लक निर्प्रथ

. ୫୫

धन, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि कर्मों से पीडित मनुष्य को शरणभूत नहीं होते—बाह्य परिग्रह का त्याग—जगत के यावनमात्र जीवों पर मैत्रीमाव—आचारशून्य वाग्वैदम्ध्य एवं विद्वत्ता व्यर्थ हैं—संयमी की परिमितता ।

७--- एलक

88

भोगी की बकरे के साथ तुळना—अधम गति में जानेवाले जीव के विशिष्ट लक्षण—लेशमात्र भूल का अति दुःखद परि-णाम—मनुष्य जीवन का कर्तव्य—कामभोगों की चंचलता।

~=-कापिलिक

210.

कपिल मुनि के पूर्वजन्म का वृत्तांत—ग्रुम भावना के अंकुर के कारण—पतन में से विकास—भिक्षुकों के लिये इनका सदु-पदेश—सूक्ष्म अहिंसा का सुन्दर प्रतिपादन—जिन विद्याओं से मुनि को पतन हो उनका त्याग—लोभ का परिणाम—नृष्णा का हूबहू चित्र—स्त्रीसंग का त्याग।

६-निमप्रवर्या

\$\$

निमित्त मिलने से निम राजा का अभिनिष्क्रमण—निमराजा के त्याग से मिथिला का हाहाकार—निम राजा के साथ इन्द्र का तारिवक प्रश्लोत्तर और उनका सुन्दर समाधान।

१०---द्रमपत्रक

30

वृक्ष के पके पत्ते से मनुष्य जीवन की तुलना—जीवन की उत्क्रान्ति का क्रम—मनुष्य जीवन की दुर्लभता—भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ आयुह्थितिका परिमाण—गौतम को उद्देश कर भगवान

महावीर का अप्रमत्त रहने का उपदेश—गीतम पर उसका प्रभाव और उनको निर्वाण की प्राप्ति होना ।

-११---वहुश्रुतपृज्य

83

ज्ञानी एवं अज्ञानी के रुक्षण—सधे ज्ञानी की मनोदशा—ज्ञान का सुन्दर परिणाम-ज्ञानी की सर्वोच्च उपमा।

-१२--हरिकेशीय

£ ==

जातिवाद का खण्डन—जातिमद का दुष्परिणाम—तपस्वी की व्याग दशा—गुद्ध तपश्चर्या का दिग्य प्रभाव—सची शुद्धि किस में है ?

र्३—चित्तसंभृतीय

११३

संस्कृति प्वं जीवन का सम्बन्ध—प्रेम का आकर्षण—चित्त प्वं संभूति इन दोनों भाइयों का पूर्व इतिहास—छोटी सी वासना के लिये मोग—पुनर्जन्म क्यों ?—प्रलोभन के प्रवल निमित्त मिलने पर मी व्यागी की दशा—चित्त संभूति का परस्पर मिलना—चित्त मुनि का उपदेश—संभूति का न मानना और घोर दुर्गति में जाकर पदना।

र्१४—इपुकारीय

१३०

ऋणानुवंध किसे कहते हैं ? छ साथी जीवों का पूर्व घृतान्त और इपुकार नगर में उनको पुनः इक्ट्रा होना—संस्कार की स्फूर्ति-परम्परागत मान्यताओं का जीवन पर प्रभाव—गृहस्थाश्रम किस लिये ? सचे वैराग्य की कसौटी—आत्मा की नित्यता का मार्मिक वर्णन—अन्त में छहां का एक दूसरे के निमित्तसे संसार त्याग और मुक्ति प्राप्ति।

-१५-स भिक्ख

१४७

आदर्श भिक्ष कैसा हो - इसका स्पष्टतथा इदयरपर्शी वर्णन।

## २६-- ब्रह्मचर्य समाधि के स्थान

१४४

सन, वचन, और काय से ब्रह्मचर्य किस तरह पाला जा सकता है उसके लिये १० हितकारी वचन—ब्रह्मचर्य की क्या आवश्यकता है ? ब्रह्मचर्य पालन का फल—आदि का विस्तृत वर्णन ।

#### -१७--पापश्रमणीय

**3**66

पापी श्रमण किसे कहते हैं ? श्रमण जीवन को दूपित करने बाले सुक्ष्मातिस्क्ष्म दोपों का भी चिकित्सापूर्ण वर्णन ।

#### -१**५—सं**यतीय

१७२

कंपिला नगरी के राजा संयित का शिकार के लिये उद्यान में जाना—एक छोटे से मौज मजा में पश्चात्ताप का होनां—गर्दभाली मुनि के उपदेश का प्रभाव—संयितराजा का गृहत्याग—संयित तथा क्षित्रय मुनिका समागम—जैन शासन की उत्तमता किसमें है— शुद्ध अन्तःकरण से पूर्व जन्म का स्मरण होना—चक्रवर्ती की अनु• पम विभूति के धारक अनेक महापुरुपों का आत्मितिहि के लिये त्यागमार्ग का अनुसरण तथा उनकी नामावली।

#### वर्—मृगापुत्रीय

१्रद

सुग्रीवनगर के वलमद राजाके तरुण युवराज मृगापुत्र को एक मुनि के देखने से भोगविकासों से वैराग्यभाव का पैदा होना- पुत्र का कर्तव्य—माता पिता का वात्सल्य—दीक्षा लेने के लिये आज्ञा प्राप्त करते समय उनकी तात्त्विक चर्चा—पूर्व जन्मों में नीच गतियों में भोगे हुए दुःखों की वेदना का वर्णन—आदर्श त्याग ग्रहण।

#### २०-महानिग्रंथीय

200-

श्रेणिक महाराज और अनाथी मुनि का आश्चर्यकारक संयोग-अद्यारण भावना-अनाथता तथा सनाथता का वर्णन-कर्मका कर्ता तथा भोका अत्मा ही है इसकी प्रतीति—आत्मा ही अपना शतु.
किं वा मित्र है— संत के समागमसे मगधपति को पेटा हुआ आनंद।

२१-समुद्र पालीय

२२१

चम्पानगरी में रहने वाले भगवान महावीर के शिष्य पालित का चरित्र—उसके पुत्र समुद्रपाल को एक चोर की दशा देखते ही रत्पन्न हुआ वैराग्य माव—उनकी अडग तपश्चर्या—त्यागका वर्णन।

२२--रथनेमीय

२२६

अरिष्टनेमि का पूर्वजीवन—तरुणवय में ही योग संस्कार की जागृति—विवाह के लिये जाते हुए मार्ग में एक छोटा सा निमिच मिलते ही वैराग्य का उत्पन्न होना—स्वोरत राजीमती का अभि-- निष्क्रमण—रथनेमि तथा राजीमती का एकान्त में आकिरमक मिलन —रथनेमि का कामातुर होना—राजीमती की शढगता—राजीमती के उपदेश से रथनेमि का जागृत होना—स्वीशिक्त का ज्वलंत दृष्टांत।

२३—केशिगौतमीय

२४४

श्रावस्तीनगरी में महामुनि केशाश्रमण से ज्ञानीमुनि गौतम का मिलना—गम्भीर प्रश्नोत्तर—समय धर्म की महत्ता— प्रश्नोत्तरों से सबका समाधान होना और भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित आचार का ब्रहण।

#### २४-समितियां

२६ंद

आठ प्रवचन माताओं का वर्णन—सावधानी एवं संयम का संपूर्ण वर्णन—केमे चलना, वोलना, भिक्षा प्राप्त करना, व्यवस्था रखना—मन, वचन और काय संयम की रक्षा आदि का विस्तृत वर्णन।

२५---यज्ञीय

२७=

ं याजक कीन हैं ?—यज्ञ कौनसा ठीक हैं ?—अग्नि कैसी होनी चाहिये ? ब्राह्मण किसे कहते हैं—येद का असकी रहस्य—सचायज्ञ- जातिवाद का घोर खण्डन—कर्मवाद का मन्डन—श्रमण, मुनि और तपस्वी किसे कहते है—संसार रूपी रोग की सची चिकित्सा-सच्चे उपदेश का प्रभाव।

#### २६-समाचारी

२८१

साधक भिक्षु की दिनचर्या—उसके १० भेदों का वर्णन— दिवस का समयविभाग—समय धर्म को पहिचान कर काम करने की शिक्षा—सावधानता रखने पर विशेष भार—घड़ी बिना दिवस तथा रात्रि ज्ञानने की समय पद्धित।

### -२७—खलुंकीय

३०४

गणधर गार्थ का साधक जीवन—गरियार बैकों के साथ हिल्यों की तुक्ता—स्वच्छंदता का दुष्परिणाम—शिष्यों की आवश्य-कता कहां तक है—गार्याचार्य का सबको निरासक्त भावसे छोड़कर एकान्त आत्मिचन्तन करना।

## २ - मोत्तमार्ग गति

३१०

मोक्ष मार्ग के साधनों का स्पष्ट वर्णन—संसार के समस्ततस्वों के तास्विक छक्षण—आत्मविकास का मार्ग सरछता से कैसे मिछ सकता है ?—

#### २६-सम्यक्त पराक्रम

320

जिज्ञासा की सामान्य भूमिका से लेकर अन्तिम साध्य (मोक्ष) प्राप्ति तक होनेवाली समस्त भूमिकाओं का मार्मिक, सुन्दर वर्णन— उत्तम ७३ गुण और उनके लाम।

#### ३०-तपोमार्ग

342

हर्मरूपी हैंघन को जलानेवाली अप्ति कौन सी ?—तपश्चर्या का वैदिक, वैज्ञानिक, तथा आध्यात्मिक हुन तीनों हिष्ट्यों से निरी-क्षण—तपश्चर्या के भिन्न २ प्रकार के प्रयोगों का वर्णन और उनका आरोरिक तथा मानसिक प्रभाष ।

## **३१—चर**णविधि

३६२

संसार यह पाठ सीखने की शाला है—प्रत्येक वस्तु में कुछ अहण करने योग्य, कुछ त्यागने योग्य और कुछ उपेक्षणीय गुण हुआ करते हैं उनमें से यहां एक से लेकर तेत्रीस संख्या तक की वस्तुओं का वर्णन किया है—उपयोग यही धर्म है।

#### ३२---प्रमाद्स्थान

३६७

प्रमादस्थानों का चिकित्सापूर्ण वर्णन—स्यास दुःख से छूटने का प्रकतम मार्ग-तृष्णा, मोह, और क्रोध का जन्म कहां से ? राग तथा देप का मूळ क्या है ? यन तथा इन्द्रियों के असंयम के दुष्परिणाम— सुमुक्ष की कार्यदिक्षा।

#### ३३---कर्मप्रकृति

३६०

जन्म-मरण के दुःखों का मूल कारण क्या है ? आठों कर्मों के नाम, भेद, उपभेद तथा उनकी जुदी २ स्थिति एवं परिणाम का संक्षित वर्णन ।

#### ३४—लेरया

थ3 इ

स्दम शरीर के भाव अथवा शुमाशुभ कमों के परिणाम-छ छेश्याओं के नाम, रंग, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, छक्षण, स्थान, स्थिति, गिति, नघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति आदि का विस्तृत वर्णन-किन २ दोषों एवं गुणों से असुन्दर एवं सुन्दर भाव पेदा होते हैं— स्थूल किया से स्दम मन का सम्बन्ध-कलुपित अथवा अप्रसन्न मन का आत्मा पर क्या असर पढ़ता है—मृत्यु से पिहले जीवन कार्य के फल का विचार।

#### १५--- ध्रणगाराध्ययन

308

गृह संसार का मोह—संयमी की जवाबदारी—त्याग की सावधानता-प्रलोमन तथा दोप के निमित्त मिलने पर समभाव कीन रख सकता है ? निरासिक की वास्तिषकता-प्रारीर ममत्वका थाग !

## ३६—जीवाजीवविभक्ति

**४१**४

संपूर्ण लोक के पदार्थों का विस्तृत वर्णन-मुक्ति की योग्यता-संसार का इतिहास-गुद्ध चैतन्य की स्थिति-संसारी जीवों की जुदी २ गतियों में क्या दशा होती हैं ?—एकेन्द्रिय, हीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों के भेद प्रभेदों का विस्तृत वर्णन-जड़ पदार्थों का वर्णन-सब की जुदी २ स्थिति-जीवा-त्मा पर कमें का क्या असर पड़ता है ? फलहीन तथा सफल मत्यु की साधना की कलुषित तथा सुन्दर भावना का वर्णन — इन सब वानों का वर्णन कर भगवान महावीर का मोक्षगमन।



चत्तारि परमंगाणि, दुह्रहाणीह जन्तुणो । माणुसत्तं सुई सद्धा, सजमिम य वीरियं ॥

कुसगो जह श्रोसिवन्दुएं, थावें चिट्ठई लावमाणएं । एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए॥

(२)

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए । तस्स वि संजमों से श्रो, श्रदिन्तस्स पिकिंचण ॥

त्र ९---४०

# == प्रारम्भ ==

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्मं य मोह्पमवं वद्नि । च जाद्मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइमर्एं वयन्ति ॥ कम्मुणा वस्मणी होइ, कम्मुणा होइ खत्तियो कन्मुणा होइ, मुद्दो हवइ कन्मुणा॥ ड० २५—३३ पाणिवहमुसावाया, श्रद्त्त मेहुण परिग्गहा विरश्रा । राई भोयणविरश्रो, जीवो भवड् श्रगासवी ॥ ट० ३०---०

## विनय-श्रुत

8

निय का अर्थ बहां अर्पणता है। जैनदर्शन के सिद्धानतानुसार, जब वह अर्पणता परमात्मा के प्रति
दिखाई जाती है तब उसे भिक्त कहते है किन्तु जब वह गुरुजनों
के प्रति दिखाई जाती है तब उसकी गणना स्वधर्म अथवा
स्वकतंत्र्य में की जाती है। इस अध्ययन में गुरु को जस्य कर
के, शिष्य तथा गुरु के पारस्परिक धर्मी का निरूपण किया
गया है।

श्र्पेणता-भाव के उदय होने से श्रहंकार का नाग होता है। जब तक श्रहंकार का नाश न होगा तब तक श्रात्मशोधन नहीं हो सकता श्रीर श्रात्मशोधन के मार्ग का श्रमुसरण किये बिना सर्च्या शान्ति एवं सुख की प्राप्ति नहीं होती। सभी जिक्कासुश्रों को श्रवलंबन (सत्संग) की श्रावश्यकता तो है ही।

#### भगवान बोलेः—

(१) संयोग (श्रासंक्तिमय ममत्व भाव) से विशेष रूप से

रिहत, तथा घरवार के वन्वनों से मुक्त ऐसे भिक्षु की विनय का उपदेश करता हूँ; उसे तुम कमपूर्वक सुनो।

- टिप्पर्गाः—यहां 'संयोग' का अर्थ आसिक है। आसीक के छूट जाने पर ही जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा जागृत होने पर ही बरवार का समाव दूर होता है। क्या ऐसी सावना का हम अपने जीवन में हमी २ अनुसब नहीं करते ?
- (२) जो गुरु की आजा का पालन करनेवाला हो, गुरु के निकट रहता ( अन्तेवासी ) हो, तथा अपने गुरु के इंगित तथा आकार ( मनोभाव तथा आकार ) का जानकार हो उसे 'विनीत' कहते हैं।
- टिप्पर्गाः—आज्ञापालन, प्रीति और चतुरता—ये तीनों गुण अर्पणता में होने चाहिये। निकट रहने का द्यर्थ पास रहना इतना ही नहीं है किन्तु गुरु के हदय में अपने गुणों द्वारा स्थान कर लेना है।
- (२) श्राज्ञा का उल्लंघन करने वाले, गुरुजनों के हृद्य से दूर रहने वाले, शत्रु समान (विरोधी) तथा विवेकहीन सायक को 'श्रविनीत' कहते हैं।
- ﴿ ४ ) जिस वरह सड़ी झितया सब जगह दुत्कारी जाती है उसी तरह रात्र समान, वाचाल (बहुत वोलने वाला ) तथा दुराचारी (स्वच्छंदी ) शिष्य सर्वत्र अपमानित होता है।
  - ﴿ ५) जिस तरह शुकर स्वादिष्ट श्रन्न के पौधे को छोड़कर विष्टा खाना पसन्द करता है उसी तरह स्वच्छंदी मूर्ख (शिष्य) सदाचार छोड़कर स्वच्छन्द विचरने में ही श्रानन्द मानता है।

(६) कुत्ता, शुकर श्रीर मनुष्य इन तीनों इप्टान्तों के भावे

- (श्राशय) को सुनकर अपने कल्याण का इच्छुक (शिष्य) विनय मार्ग में अपना मन लगावे।
- (७) इसलिये मोक्ष के इच्छुक और सत्यशोधक को विवेक-पूर्वक विनय की आराधना करनी चाहिये और सदाचार को बढ़ाते रहना चाहिये। ऐसा करने से उसको कहीं भी अपमानित अथवा निराश नहीं होना पड़ेगा।
- (८) श्रित शान्त बनो श्रौर मित्रभाव से ज्ञानी पुरुषों से उपयोगी साधन सीखो। निरर्थक वस्तुश्रों को तो छोड़ ही देना चाहिये।
- (९) महापुरुषों की शिक्षा से कुद्ध होना मूर्ख मनुष्य का काम है। चतुर होकर सहनशीलता रक्खो। नीच वृत्ति के मनुष्यों की संगति न करो। हँसी मजाक श्रीर खेल कूद भी छोड़ देने चाहिये।
- टिप्पग्ति—महापुरुष जव शिक्षा देते हों तब कैसा आचरण करना चाहिये
  ं उसका रुक्षण उपरोक्त गाथा में दिया है।
- (१०) कोप करना यह चांडाल कर्म है, यह न करना चाहिये। चयर्थ बंकवाद मत करो। समय की अनुकूलता के अनु-सार उपदेश अवए। कर फिर उसका एकान्त, में चिन्तन-मनन करना चाहिए।
- (११) भूल में यदि कदाचित चांडाल कर्म (क्रोध) हो जाय लो उसे कभी मत छुपात्रों। जो दोष हो जाय उसे गुरुजनों के समक्ष स्वीकार करो। यदि अपना दोष न हो तो विनयपूर्वक उसका खुलासा कर देना चाहिये।

टिप्पर्गी—चांडाल कर्म का आशय दुष्ट (निंदा) कर्म से है। उसमें अधर्म, अकर्त्तव्य, क्रोध, कपट और लंपटता का समावेश होता है।

- (१२) जैसे श्रिडियल टट्टू (श्रथवा गरियार बैल) को हमेशा चावुक लगाने की जरूरत होती है उसी तरह सुमुक्षु पुरुष को सहापुरुषों द्वारा ताड़ना की श्रपेक्षा न करनी चाहिये। चालाक घोड़ा जिस तरह चाबुक देखते ही ठीक मार्ग पर श्राजाता है, वैसे ही मुमुक्षु साधक को श्रपने पाप कर्म का भान होते ही उसे छोड़ देना चाहिये।
  - (१३) सत्पुरुपों की आज्ञा की अवज्ञा करने वाला और कठोर वचन कहने वाला दुराचारी शिष्य कोमल गुरु को भी कुद्ध कर देता है। उसी तरह, गुरु के मनोभाव को जान कर तदनुसार आचरण करने वाला विनीत शिष्य सचमुच कुद्ध गुरु को भी शान्त कर देता है।
  - टिप्पर्गा साधक दशा में होने के कारण गुरु तथा शिष्य दोनों ही के द्वारा मूल हो जाना सम्भव है किन्तु यहां पर शिष्य स्वन्धी प्रकरण होने से शिष्य क्तंत्य ही वताया गया है।
  - (१४) पूंछे विना उत्तर न दे। पूंछने पर श्रासत्य उत्तर न दे, क्रोध को शांत कर, श्राप्रिय बात को भी प्रिय वना कर बोले।
  - (१५) श्रपनी श्रात्मा का ही दमन करना चाहिये क्योंकि यह श्रात्मा ही दुईम्य है। श्रात्मदमन करने से इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है।
    - (१६) तप श्रौर संयम द्वारा श्रपनी श्रात्मा का दमन करना यही

उत्तम है ! श्रन्यथा (कर्म जन्य) मार श्रथवा दुसरे बन्धन मुक्ते दुमन करेंगे ही ?

- दिप्पणी—उक्त सूत्र को अपने आप पर घटाना चाहिये। संयम और तप से शरीर का दमन होता है। यह दमन स्वतन्त्र होता है, किन्तु जो दमन असंयम तथा उच्छृह्वल वृत्ति से होता है परतन्त्र होता है और इसी कारण वह आत्मा को विशेष दुःखदायी होता है।
  - (१७) वाणी अथवा कर्म से, गुन्त अथवा प्रकट रूप में गुरुजनों से कभी वैर नहीं करना चाहिये।

## महापुरुषों के पास किस तरह बैठना चाहिये ?

- (१८) गुरुजनों की पीठ के पास श्रयवा श्रागे पीछे नहीं चैठना चाहिये। इतना पास भी न बैठना चाहिये कि जिससे श्रपने पैरों का उनके पेरों से स्पर्श हो। शय्या पर लेटे लेटे श्रथवा श्रपनी जगह पर बैठे २ ही प्रत्युत्तर नहीं देना चाहिये।
  - (१९) गुरुजनों के समक्ष पैर पर पैर चढ़ाकर, श्रयवा घुटने छाती से सटाकर, श्रथवा पैर फैलाकर भी नहीं बैठना चाहिये।
  - (२०) यदि श्राचार्य बुलावें तो कभी भी मौन ( चुपचाप ) न रहना चाहिये । मुमुक्षु एवं गुरुकृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही उनके पास जाकर उपस्थित होना चाहिये।
  - (२१) जब कभी भी आचार्य धीमे अथवा जोर से बुलावें तब चुपचाप बैठे न रहना चाहिये किन्तु विवेक पूर्वक अपना आसन छोड़कर धीरता के साथ निकट जाकर उनकी आज्ञा सुननी चाहिये।

- (२२) विद्यौते पर लेटे २ अथवा श्रेपने आसन पर वैठे २ गुरु जी से प्रश्नोत्तर नहीं करने चाहिये। गुरुजी के पास जाकर, हाथ जोड़कर और नम्रता पूर्वक वैठकर अथवा खड़े होकर समाधान करना चाहिये।
  - (२३) (गुरु को चाहिये कि) ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र वचन श्रीर उनका भावार्थ, उसकी योग्यता (पात्रता) श्रतु-सार समकावे। भिज्जुशों का व्यवहार कैसा होना चाहिये?
  - (२४) भिक्ष कभी असत्य भाषण न करे। कभी भी निश्चया-स्मक ( अमुक वात ऐसी ही है अथवा अन्य रूप में हो ही नहीं सकती इत्यादि प्रकार के ) वचन नहीं कहने चाहिये। भाषा के दोष ( द्वचर्यी शब्द प्रयोग, जिससे दूसरे को अम या घोखा हो ) से वचे और न मन में कपट माव हो रक्खे।
  - (२५) पृंछने पर सावद्य (दूपित) न कहे। अपने स्वार्थ के लिये अथवा अन्य किसी भी कारण से ऐसे वचन न वोले जो निरर्थक (अर्थज्ञन्य) हो अथवा जो सुनने वाले के हृद्य में चुमें।
  - (२६) ब्रह्मचारी को एकान्त के घर के पास, छहार की हुकान श्रथवा-श्रन्य श्रयोग्य स्थान में श्रथवा हो घरों के वीच्र की तंग जगह में श्रथवा सिर्याम मार्ग में श्रकेली स्त्री के पास न तो खड़ा ही होना चाहिये श्रोर न उससे संमा- पर्ण (वातचीत) ही करना चाहिये।

- टिप्पग्गी:- ब्रह्मचर्य यह नो मुमुश्च का जीवन बत है। ब्रह्मचारी का आचरण कैसा होना चाहिये उसका यहां निर्देश किया है।
- (२७) ( यह मेरा परम सौभाग्य है कि ) महापुरुष मुक्ते मीठां जपालंभ श्रथवा कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हैं। इससे मेरा परम कल्याण होगा ऐसा मानकर उसका विवेकपूर्वक पालन करे।
- (२८) गुरुजन की शिद्धा (द्रगड) कठोर तथा कठिन होने पर'
  भी दुष्कृत की नाशक होती है इसिलये चतुर साधक उसको
  अपना हितकारी मानता है किन्तु श्रम्लाधु जन उसको द्वेष
  जनक तथा क्रोधकारी मानता है।
- (२९) निर्भय एवं दूरदर्शी पुरुष, कठोर दगह को भी उत्तम मानते हैं किन्तु मूढ़ पुरुषों को चमा एवं शुद्धि करने वाला हित-वाक्य भी द्वेष का कारण हो जाता है।
- (३०) गुरुजी के आसन से जो अधिक ऊँचा न हो और जो चरचराता न हो ऐसे स्थिर आसन पर (शिष्य) बैठे। खास कारण सिवाय वहां से न उठे और चंचलता छोड़-कर बैठे।
- (३१) समय होने पर, भिक्षुंको (अपने) स्थान के बाहर छाहार-निहारादि क्रियाओं के लिये जाना चाहिये और यथासमय वापिस छाजाना चाहिये। छाकाल को छोड़कर, सर्वदा कालधर्म के छानुकूल ही सब काम करने चाहिये।
- टिप्पग़ी:—खास कारण के बिना भिक्ष को अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहिये और समय २ पर कॉलधर्म को उक्ष्य में रखकर अनुकूलता से काम करना चाहिये।

## भिन्नार्थ जाने वाले भिन्न का धर्म

- (३२) जहाँ बहुत से आदमी पंक्ति भोज में जीम रहे हों वहां भिक्षुको नहीं जाना चाहिये। वह प्रेम पूर्विक दी हुई मिचा ही प्रहरण करे। (ऐसी) कठिनता से प्राप्त श्रन्न भी केवल नियत समय पर केवल परिमित मात्रा में ही प्रहरण करे।
- (३३) दाता के घर (भोजनालय) से विशेष दूर भी न हो श्रीर न श्रित पास ही हो श्रीर जहाँ दूसरे श्रमण उसकी देख न सकें तथा जहां जाने में दूसरों को लांघना न पड़े ऐसे स्थान में भिक्ष को भिक्षा के लिये खड़ा होना चाहिये।
- दिए ग्राः -- यदि द्सरे भिश्च उसे देखेंगे सो संभव है कि उसको खेद हो अथवा दाता के मन पर असर हो -- इसिल्ये ऐसा न करने का विधान किया गया है।
  - (३४) (दाता से ) ऊँचे चवृतरे पर खड़े होकर किंता नीचे खड़े होकर अथवा अतिदूर किंवा अति निकट खड़े होकर भिक्षा प्रहण न करे। भिक्ष उसी निदोंप अन्न को प्रहण करे जो दूसरे के निभित्त बनाया गया हो।
  - टि प्यााः दूसरे के निमित्त से यह आशय है कि वह भोजन खास भिक्ष के लिये तैयार न किया गया हो।

भिन्नु कैसे स्थान में श्रोर किस तरह श्राहार करे ?

(३५) जहां वहुत जीवजन्तु (कीड़े मकीड़े) न हों, वीज न फैले हों, तथा जो चारों तरफ से ढंका (वन्द) हो— ऐसे स्थान में संयमी पुरुष, विवेक पूर्वक तथा जमीन पर उच्छिप्ट भोजन न पड़े इसकी संभाल के साथ, समभाव ( खाद का विचार न करते हुए ) भोजन करे।

(३६) क्या ही अच्छा वना है, क्या ही अच्छी रीति से बनाया गया है, क्या ही अच्छी तरह से संभारा गया है, क्या ही वारीक कटा है, क्या खूब बना है, क्या कहना है, कैसा अच्छा संस्कार ( छोंक बघार आदि ) हुआ है, आज कैसा स्वादिष्ट भोजन मिला है—इत्यादि प्रकार की इंद्रिय लोखपता जन्य दूषित मनोदशा मुनि को त्याग देनी चाहिये।

## गुरु तथा शिष्य के क्या कर्तव्य हैं?

- (३७) घच्छा घोड़ा चलाने में जैसे सारथी को घ्यानन्द घ्याता है वैसे ही चतुर साधक को विद्यादान करने में गुरु को घ्यानंद प्राप्त होता है। जिस तरह श्रद्धियल टट्टू को चलाते २ सारथी थक जाता है वैसे ही मूर्ख को शिक्षण देते २ गुरु भी थक (हतोत्साह हो) जाते हैं।
  - (३८) पापदृष्टि वाला शिष्य (पुरुष) कल्याग्यकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतों श्रौर भर्त्सनाश्रों (मिड़िकयों) को वध तथा श्राक्रोश (गाली) मानता है।
    - (३९) साधु पुरुष तो यह समम कर कि गुरुजी मुमको अपने पुत्र, लघुआता, अथवा स्वजन के समान मान कर ऐसा कर रहे हैं इसलिये वह गुरुजी की शिक्षा (द्राड) को अपना कल्याणकारी मानता है किन्तु पापटि वाला शिष्य उस दशा में अपने को गुलाम मान कर दुःखी होता है।

टिप्पग्गी-एक ही शिक्षा के, दृष्टि भेद् मे दो स्वरूप हो जाते हैं।

- (४०) विद्येच्छु भिक्षु का कर्तव्य है कि वह ऐसा व्यवहार न करे . जिससे आचार्य को अथवा अपनी आत्मा को कुद्ध होना. पड़े। ऐसा कोई कृत्य न करे जिससे ज्ञानी जनों की छोटी सी भी चिति हो। वह दूसरों के दोप भी न देखे।
- (४१) यदि कदाचित श्राचार्य्य क्रुद्ध हो जाय तो श्रपने प्रेम से टनको प्रसन्न करे। हाथ जोड़कर उनकी विनय करे तथा (क्षमा मांगते हुए) उनको विश्वास दिलावे कि भविष्य में वैसा दोष फिर कभी न कहाँगा।
- (४२) ज्ञानवान पुरुपों ने जैसा धार्मिक व्यवहार किया है वैसा हो वह करे। धार्मिक व्यवहार करता हुआ पुरुप कमी भी निंदा को प्राप्त नहीं होता।
- टिप्पशी—यहां न्यवहार का विधान कर भगवान महावीर ने यह सम-झाया है कि आध्यात्मिकता केवल व्यवहार शून्य शुष्क दशा नहीं है।
- (४३) श्राचार्य के मन का भाव जान कर श्रथवा उनका वचन सुनकर सुशिष्य को उसे वाणी द्वारा स्वीकार कर, कार्य द्वारा उसे श्राचरण में ले श्राना चाहिये।

ट्रिट्याणि—वचन की अपेक्षा आचरण का सूर्य आधिक है।

- (४४) विनीत सावक शेरणा विना ही प्रेरित होता है। 'उघर श्राज्ञा हुई श्रोर इघर काम पूरा हुश्रा'—ऐसी तत्परता के साथ वह श्रपने कर्तव्य हमेशा करता रहता है।
  - (४५) इस तरह ( उपरोक्त खरूप को ) जान कर ज़ा बुद्धिमान शिष्य विनय घारण करता है इसका यश लोक में फैलता

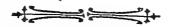
है श्रीर जैसे यह पृथ्वी प्राणिमात्र की श्राधार है वैसे ही वह विनयी शिष्य श्राचार्यों का श्राधारमूत होकर रहता है।

## ज्ञानी पुरुष क्या देता है ?

- (४६) सचे ज्ञानी और शास्त्रज्ञ पूज्य पुरुष जब शिष्य पर प्रसन्न होते हैं तब उसे शास्त्र के गंभीर रहस्य सममाते हैं।
- (४७) (श्रीर) शास्त्रज्ञ शिष्य संदेह रहित होकर कर्म संपत्ति में मन लगाकर स्थितप्रज्ञ होता है श्रीर तप, श्राचार तथा समाधि इनकी क्रमशः प्राप्ति करता हुश्रा दिन्य ज्योति धारण करता है तथा वाद में पाँच व्रतों का पालन करता है।
- (४८) देव, गंधर्व तथा मनुष्यों द्वारा पूजित वह मुमुक्षु मुनि इस मिलन शरीर को छोड़कर इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है अथवां (दूसरे जन्म में) महान ऋदिधारी देव होता है।
- टिप्पााि—इन तीन क्लोकों में साधक की क्रमिक श्रेणी वताकर उसका फल दिखाया है। विनय अर्थात् विशिष्ट नीति और यह नीति ही धर्म का मूल है। गुरुजन की विनय से सत्संग होता है, तत्व का रहस्य समझ में भाता है और रहस्य समझने के बाद विकास पंथ में अग्रसर हुआ जाता है। इसी विकास से देवगति अथवा मोक्षगित प्राप्त होती है।

### ऐसा मैं कहता हूँ

इस तरह 'विनयशुंत' नामका प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ।



## परिषह

2

विनय के बाद दूसरा श्रध्ययन परिपहों का श्राता है। परिपह श्रथीत श्रनेक प्रकार से (शारीरिक कष्ट) सहन करना-इसका नाम परिपह है। इन अनेक प्रकारों में से यहां केवल २२ (वाईस) का वर्णन किया है। तपश्चर्या नथा परिपहों में यह अन्तर है कि उपवासादि तपश्चय्यों में मृख, प्यास, ठंडी, गर्मी थादि कप्ट स्वेच्हा से सहे जाते हैं किंतु भोजन की इच्हा होने पर भी प्रयवा थाली में भोजन रहने पर भी किसी धाकस्मिक कारण से वह न मिले ध्रथवा खाया न जा सके, फिर भी मन में विकार न जाकर अथवा प्रतिकार भाव न लाते हुए समभावपूर्वक उस कष्ट को सहन करना उसको परिपद्द (परिपद्तय) कहते हैं। इस प्रध्ययन में, यद्यपि संयमी को लच्य करके वर्णन किया गया है किन्तु गृहस्थ साधक की भी ऐसे थनेक प्रसंगी का सामना करना पड़ता है। सहनगीलता के विना संयम नहीं हो सकता, संयम के विना त्याग नहीं, त्याग के विना श्रात्मविकाश नहीं श्रीर जहां श्रात्म-चिकाण नहीं है घटां मानवजीवन के भौतिम उद्देश्य की सिद्धि भी नहीं है।

### गुरुदेव बोले —

"मैंने सुना है।" श्रायुष्यमान भगवान सुधर्मस्वामी ने इस तरह कहा, यहां पर वस्तुतः श्रमण भगवान काश्यप महावीर ने २२ परिषहों का वर्णन किया है। साधक भिज्ञ (उनको) सुनकर, (उनका स्वरूप) जानकर (उनको) जीतकर, (उनका) पराभव करके भित्ताचरी में जाते हुए यदि परिषहों से धिर जाय तो भी कायर नहीं बनता।

शिष्यः—भगवन ! वे बाईस परिषद्द कौन से है जिनका वर्शन श्रमण भगवान काश्यप महावीर ने किया है श्रौर (जिनको) सुनकर, जानकर, जीतकर तथा (उनको) तिरस्कृत करके भिज्ञाचरी में जाता हुश्रा भिज्ञ, परिषद्दों से विर जाने पर भी कायर नहीं वनता ?

श्राचार्यः—हे शिष्य ! वे यही २२ परिषह है जिनका वर्णन श्रमण भगवान काश्यप महावीर ने किया है. जिनको सुनकर, जानकर, जीतकर श्रौर पराभव करके भित्ताचरी में जाता हुआ भिन्नु, परिषहों से घिर जाने पर भी कायर नहीं बनता।

उनके नाम ये हैं:—(१) ज़ुधा(भूख) परिषह, (२) पिपासा(प्यास) परिषह, (३) शीत (ठंडी) परिषह, (४) उद्मा (गर्मी) परिषह, (४) दंशमशक (डांस मच्छर) परिषह, (६) श्रवस्त्र परिषह, (७) श्ररित (श्रशीत) परिषह, (६) स्त्री परिषह, (६) चर्या (गमन) परिषह, (१०) निपद्या (वेठनी) परिषह, (११) श्राक्रोश (कठोर वचन) परिषह, (१२) वध (मारपीट) परिण्ह, (१३) शय्या (शयन) परिषह (१४) याचना (मांगना) परिषह (१४) श्राताभ (न मिलना) परिषह, (१६) रोग (वीमारी) परिषह, (१७) तृग्रस्पर्श परिषह, (१८)

मल (मेलापन) परिपह, (१६) सत्कार पुरंस्कार (मानापमान) परिपह, (२०) प्रज्ञा (बुद्धि संवन्धी) परिपह, (२१) श्रज्ञान परिपह, (२२) श्रदर्शन परिपह।

- (१) हे जम्बू ! परिपहों के जिस विभाग का भगवान काश्यप ने वर्णन किया है, वह मैं तुम्हें क्रम से कहता हूँ । तुम उसे ध्यान से सुनो ।
- (२) श्रत्यंत उप भूख से शरीर के पीड़ित होने पर भी श्रात्म शक्तिधारी तपस्वी भिक्षु किसी भी वनस्पति सरीखी वस्तु को स्वयं न तोड़े श्रीर न (दूसरों से) तुड़वावे; स्वयं न पकावे श्रीर न दूसरों से पकवावे।
- टिप्पणी—जैन दर्शन में सूक्ष्माति सूक्ष्म हिंसा का विचार किया गया है। इसिल्ये जैन भिक्ष को भिचत्त (जीवरहित) और वह भी अन्य के निमित्त तैयार किये गये और प्रसन्नता पूर्वक दिये गये आहार प्रहण करने का विधान किया गया है। इसके बढ़े ही कड़े नियम हैं इसीलिये यहां उल्लेख किया गया है कि कैसी भी कड़ी भूख क्यों न लगा हो फिर भी भिक्ष किसी भी वनस्पति कायजीव की भी हिंसा न करे और न दूसरों से करावे।
  - (३) धमनी की तरह श्वासोच्छ्वास क्यों न चलने लगे, (भोजन न मिलने से भले ही शरीर की नसें दिखाई देने लगें), शरीर सूख कर कांटा क्यों न हो जाय, छौर शरीर के सभी छंग कौए की टांग जैसे पतले क्यों न हो जाय फिर भी छत्रपान में नियम पूर्वक वर्तनेवाला साधु प्रसन्नचित्त से गमन करे।

टिप्पशी—डम्र भूख लगने पर भी यदि भोजन न मिले तो भी संयमी भिक्ष ऐसा ही माने:- चलो, ठीक हुआ; यह अनायास तपश्चर्या होगई'।

हागई'।
(४) कड़ी प्यास लगी हो फिर भी इन्द्रियनिप्रही, श्रनाचार से भयभीत श्रीर संयम की लजा रखने वाला भिन्नु ठंड़ा (सचित) पानी न पिये किन्तु मिल सके तो श्रचित्त (जीव रहित उच्चा) पानी की ही शोध करे।

(५) लोगों की आवजाव से रहित मार्ग में यदि प्यास से वंचैन हो गया हो, मुँह सूख गया हो फिर भी साधु मन में दैन्य भाव न लाकर उस परिषद्द को प्रसन्नतासे सहन करे।

टिप्पणी—आवजाव रहित एकांत मार्ग में यदि कोई जलाशय हो तो 'यहां तो कोई है नहीं' ऐसा समझ कर सचित पानी पीने की इच्छा हो आना संभव है। इसीलिये उक्त स्थान का यहां खास निर्देष किया है।

(६) गाम गाम बिचरनेवाले श्रौर हिंसादि, ज्यापारों के पूर्ण त्यागी रूच (सूखा) शरीर धारी ऐसे भिच्न को यदि कदाचित शीत (ठंड़) लगे तो वह जैनशासन के नियमों को याद करके कालातिक्रम (ज्यर्थ समय यापन) न करे।

टिप्पणी—शीत से वचने के उपाय की चिन्ता में निदाधीन होकर समय न बितावे अथवा नियम विरुद्ध दूसरे उपचार न करे।

(७) शीत से रत्ता कर सके ऐसी अपनी जगह नहीं है अथवा कोई वस्त्र (कंत्रल आदि) भी अपने पास नहीं है, इसलिए आग से ताप छ ऐसा बिचार भित्तु कभी न करे।

- (८) श्रीष्म ऋतु के उप ताप से अथवा अन्य ऋतु में सूर्य की कड़ी गर्मी से तमाम शरीर वैचेन होता हो अथवा पसीने से तरवतर हो तो फिर भी संयमी साधु सुख की परिदेवना (हाय, यह ताप कव शांत होगा! ऐसा क्षांत वचन) न कहे ।
  - (९) गर्मी से वेचेन तत्वज्ञ मुनि स्नान करने की इच्छा तक न करे और न अपने शरीर पर पानी छिड़कें। उस परिपहसे छुटकारा पाने के लिये वह अपने ऊपर पंखा भी न करे।
- टिण्पशी—कष्ट का प्रतिकार (उपाय) करने से मन में निर्वलता आती है इससे सायक को हमेशा सावधान रहना चाहिये।
- (१०) वर्षा ऋतु में डांस मच्छरों के काटने से मुनि को कितना भी कष्ट क्यों न हो, फिर भी वह समभाव रखे और युद्ध में सब से आगे स्थित हाथी की तरह, शत्रु (कोघ) को मारे।
- (११) ध्यानावस्था में ( अपना ) रक्त श्रौर मांस खाने वाले उन जुद्र जन्तुश्रों को साधु न मारे. उन्हें न उड़ावे श्रौर न उन्हें त्रास ही दे। इतना ही नहीं उनके प्रति अपना मन भी दृपित न करे ( अर्थात् उनकी तरफ से उपेन्ना भाव रक्ते )।
- टिप्पार्गि—यदि चित्त पूर्ण रूप से समाधि में लगा हो तो शरीर सम्बन्धी ध्यान विलकुल हो ही नहीं सकता।
- (१२) वस्त्रों के वहुत पुराने अथवा फटे होने से " अय मेरे पास कोई कपड़ा नहीं रहा" अथवा इन फटे-पुराने वस्त्रों को देख कर कोई सुमें नये वस्त्र देवे तो मेरे पास वस्त्र हों ऐसी चिन्तना साधु कभी न करे।

(१३) किसी अवस्था में वस्त्ररहित (अथवा फटे-पुराने वस्त्रों सहित) और किसी अवस्था में वस्त्र सहित हो तो ये दोनों ही दशाएं संयम धर्म के लिये हितकारी हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी मुनि खेद न करे।

टिप्पणी-प्रथम की 'किसी अवस्था' अर्थात 'जिनकल्पी अवस्था'।

- (१४) गांव गांव में विचरने वाले और किसी एकं स्थान में न रहने वाले तथा परिश्रह से रहित (ऐसे) मुनि को यदि कभी संयम से अरुचि हो तो वह उसे सहन करें (मन में अरुचि का भाव न होने दें)।
- (१५) वैराग्यवान् , श्रात्मरत्ता में क्रोधादि कषाय से शांत श्रौर श्रारंभ का त्यागी (ऐसा) मुनि, धर्मरूपी वगीचे में बिचरे।

टिप्पग्री:-संयम में ही मन को लगाए रक्खे ।

- (१६) इस संसार में िस्त्रयाँ, पुरुषों की आसक्ति का महान् कारण है। जिस त्यागी ने इतना जान लिया उसका साधुत्व सफल हुआ सममना चाहिये।
- टिप्पणी:—छियों के संग (सहवास) करने से विकार पैदा होता है। विकार से काम, काम से क्रोध, क्रांध से संमोह और अन्त में पतन होता है। मुमुक्ष को इस संत्य को पूर्ण रूप से जानकर छी संग छोड़ देना चाहिये। इस तरह मुमुक्ष 'स्त्रियों को भी पुरुषों के विषय में समझना चाहिये।
- (१७) इस तरह समम कर कुशल साधु स्त्रियों के संग को की चढ़ जैसा मिलन मान कर उस में न फंसे। आतम- विकास का मार्ग ढूंड कर संयम में ही गमन करे।

- (१८) संयमी साधु परिपहों से पीडित होता हुआ भी गांव में, नगर में, न्यापारी वस्ती वाले प्रदेश में अथवा राजधानी में भी अकेले ही (परिपहों को ) सहन करता हुआ विचरण करें।
- टिप्पाणीः—अपने दुःएत में दूसरों को भागीदार म धनावे और अपने मन को वहा करके विचरे।
- (१९) किसी के साथ होड (वार ) न करके भिक्ष एकाकी (राग द्वेप रहित होकर ) विहार करें। किसी स्थान में मनता न करें। गृहस्थों से अनासक्त रह कर किसी भी खास स्थान की मर्यादा ( भेदभाव ) रक्ते विना विहार करें।
- टिप्पण्शिः संयमी समस्त पृथ्वी को कुटुंच मानकर ममत्व किंवा भेष्
- (२०) स्मशान, शून्य (निर्जन) घर श्रयवा वृक्ष के मूल में एकाकी साधु शांत चित्त से (स्थिर श्रासन से) बैठे श्रीर दूसरों को थोड़ा सा भी दुःख न दे।
- (२१) वहां पर वैठे हुए यदि उस पर उपसर्ग (किसी के द्वारा जान वृक्त कर दिये गये कष्ट ) आवे तो वह उन्हें दृढ़ मन से सहन करे, किन्तु शंकित अथवा भयभीत हो कर वह दूसरी जगह न जाय।
- टिप्पग्तिः एकांत में कहाँ और किस तरह मुनि बेटे उसका इसमें विधान किया गया है।
- (२२) सामर्थ्यवान तपस्वी (भिद्ध) को यदि अनुकूल अथवा प्रतिकूल उपाश्रय (रहने के लिये प्राप्त स्थान) मिले तो

- वह कालातिक्रम (काल धर्म की मर्यादा का भंग) न करे; क्योंकि 'यह श्रच्छा है, यह खराब है'—ऐसी पाप-दृष्टिरखने वाला साधु श्रन्त में श्राचार में शिथिल हो जाता है।
- (२३) स्त्री, पशु, नपुंसक इत्यादि से रिहत, श्रच्छा श्रथवा खराव कैसा भी उपाश्रय पाकर "इस एक रात के उपयोग से भला मुक्ते क्या दु:ख पहुँच सकता है"—ऐसी भावना साधु रक्खे।
- र्रिटपर्गो स्त्री भयवा पशुरहित स्थान का विधान इसिक्ये किया गया है निससे निर्जन स्थान में भिक्षु समाधि में अच्छी तरह से स्थिर रहे। उसका मन चलायमान न हो।
- (२४) यदि कोई मिक्षु को त्राक्रोश (कठोर शब्द) कहे तो साधु बदले में कठोर शब्द न कहे त्रथवा कठोर वर्तन तथा कोध न करे क्योंकि वैसा करने से वह भी मूर्खों की कोटि में त्रा जायगा। इसलिये विज्ञ भिक्षु कोप न करे।

टिप्पाशी-अाक्रोश अर्थात् (कडोर अथवा तिरस्कार व्यंजक शब्द )

- (२५) श्रवण (कान) त्रादि इन्द्रियों को कंटकतुल्य तथा संयम के धैर्य का नाश करनेत्राली भयंकर तथा कठोर वाणी को सुनकर भिक्षु चुपचाप (मौन धारण करके) उसकी उपेचा करे श्रीर उसको मनमें स्थान न दे।
- (२६) कोई उसको मारे पीटे तो भी भिक्षु मनमें क्रोध न करे श्रीर न मारने वाले के प्रति द्वेष ही रक्खे किन्तु तितिक्षा ( सहनशीलता ) को उत्तम धर्म मानकर दूसरे धर्म को श्राचरे।

- (२७) संयमी श्रीर दान्त (इन्द्रियों को दमन करने वाला) ऐसे साधुकों कोई कहीं मारे या वध करे तो भी वह मनमें 'इस श्रात्मा का तो कभी नाश नहीं होता '— ऐसी भावना रक्खे।
- टिप्पर्गा—अपने ऊपर भाये हुए मृत्यु संकट को भी मन में लाये विनए समभाव में सहन करना उसे 'क्षमाधम' कहते हैं। क्षमावान किसी भी तरह की प्रतिक्रिया ( बदला लेने की क्रिया ) न करें और न मन में सेंद्र ही माने।
- (२८) "श्ररे रे! गृहत्यागी भिक्षु का तो जीवन वड़ा ही हुक्कर होता है" क्योंकि वह सांगकर ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है। उसको विना मांगे कुछ भी प्राप्त हो नहीं सकता।
- (२९) भिन्ना के लिये गृहस्थ के घर जाकर भिक्ष को अपना हाथ, फैलाना पड़ता है और यह किचकर काम नहीं है। इस- लिये साधुपनेसे गृहस्थवास ही उत्तम है—ऐसा भिक्ष कभी न सोचे।
- टिप्पणी—सच्चे भिक्षु को मांगना कई वार अरुचिकर लगता है किन्तु मांगना टनके लिये धर्म है। इसी से इसे परिषद्द माना है।
- (३०) गृहस्थों के यहां (जुदी जुदी जगह) भोजन तैयार हो उसी समय साधु भिन्नाचारी के लिये जाय। वहाँ भिक्षा मिले या न मिले तो भी बुद्धिमान भिक्षु खेदखिन्न न हो।
- (३१) "श्रान सुमे भिक्षा नहीं मिली, न सही, कल भिन्ना मिल जायगी! एक दिन न मिलने से क्या हुश्रा ?" साधु यदि ऐसा पका विचार रक्खे तो उसे भिक्षा न मिलने का कभी दुःख न हो।

- टिप्पग्री—साधक के संकट में उच्च भावना या विचार ही बहे साथी हैं।
- (३२) (कहीं की) वेदना दुःख से पीडित भिक्षु, उत्पन्न दुःख को जान कर मनमें थोड़ी सी भी दीनता न लावे किन्तु तज्जन्य दुःख को समभाव से सहन करे।
- (३३) भिक्षु श्रौषधि (रोग के इलाज) की इच्छा न करे किन्तुं श्रात्मशोधक होकर शान्त रहे। स्वयं चिकित्सा. (प्रति उपाय) न करे श्रौर न करावे इसी में उसका सचा साधुत्व है।
- उट्टिप्पणी—देहाध्यास ( कारीर का ममत्व ) के त्यागी उच्च योगी की कक्षा की यह बात है। यहां आस्पास के संयोग वल का विवेक करना उचित है।
- (३४) वस्त्र विना रहने वाले तथा रूझ (रूखे) शरीर वाले तपस्त्री साधु को तृए (दर्भ श्रादि) पर सोने से (शरीर को) पीड़ा होती है—
- (३५) या त्रितिताप पड़ने से श्रतुल वेदना होती है—ऐसा जान-कर भी तृणों के चुभने से पीड़ित साधु वस्र का सेवन न करें।
- रिटिप्पणी—उच्च श्रेणी के जो भिक्षु शरीर पर वस्त्र धारण नहीं करते उनको यदि दर्भशच्या (शरीर) में चुभे तो भी वे उस कष्ट को सहन करें किन्तु वस्त्र काम में न लें।
- (३६) प्रीष्म अथवा अन्य किसी ऋतु में पसीना से, घूल या मैल से मलिन शरीर वाला बुद्धिमान भिक्षु सुख के लिये

व्यय न वने (यह मैल कैसे दूर हो—ऐसी इच्छा न करे)

- (३७) अपने कर्मचय का इच्छुक भिक्ष अपने उचित धर्म को समम कर जवतक शरीर का नाश न हो तव (मृत्युपर्यंत) तक शरीर पर मैल धारण करे।
- टिप्पणी—यद्यपि उपर के श्लोक देहाध्यास रहित उच्च (श्रेणी) के साधुओं के लिये ही हैं फिर भी सामान्य दृष्टि से शरीर सत्कार करना भिक्ष धर्म के लिये दृपण है अतः इस दूपण को त्यागना और शरीर को आत्मसिद्धि का साधन मानकर उसका विवेक पूर्वक उपयोग करना यही दिचत है।
- (३८) राजादिक या श्रीमंत हमारा श्रिशवादन (वन्दन) करें, सामने श्राकर हमारा सन्मान करें श्रथवा भोजनादिक का निमन्त्रण करें—इत्यादि प्रकार की इच्छाएं न करे।
- टिप्पणी—सन्मान प्राप्ति की स्वयं इच्छा न करे और न दूसरों को वैसा करते देखकर मन में यह माने कि वे ठीक कर रहे हैं।
- (३९) अल्पकपाय (क्रोधादि) वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात गृहस्यों के यहाँ ही गोचरी के लिये जाने वाला तथा स्वादिष्ट पकान्नों की लोळुपता से रहित तत्त्वज्ञ भिक्षु रसों में आसक्त न वने और ( उनके न मिलने से ) न ही खेद करे। ( अन्य किसी भिक्षु ) का उत्कर्ष देखकर वह ईण्यां जुन वने।
- (४०) "मैंने अवश्य ही अज्ञान फल वाले (ज्ञान न प्रकटे ऐसे )
  कर्म किये हैं जिससे यदि कोई मुक्ते कुछ पूंछता है तो मैं
  कुछ समम नहीं पाता हूँ। अथवा उसका उत्तर नहीं
  दे पाता—

- (४१) परन्तु अव "पीछे ज्ञानफल वाले कर्मों का उदय होगा"— इस तरह कर्म के विपाक का चिन्तन कर भिक्षु ऐसे समय में इस तरह मनको आधासन दे।
- टिप्पाणी —पुरुषार्थं करते हुए भी अल्पबुद्धि तर्कबुद्धि पैदा न हो सो उससे हताज्ञ न होते हुए पुरुषार्थं में लगा रहे।
- (४२) "में व्यर्थ ही मैथुन से निवृत्त हुआ ( गृहस्थाश्रम छोड़कर ब्रह्मचर्य कारण किया ), व्यर्थ ही इन्द्रियों का दमन किया क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या अकल्याणकारी ? यह प्रत्यत्त रूप में तो कुछ दिखाई नहीं देता ( ध्रर्थात् जब धर्म का फल प्रत्यत्त नहीं दीखता है तो क्यों में कष्ट सहूँ ? )
  - (४३) ( श्रथवा ) तपश्चर्या, श्रायंबिल इत्यादि प्रहण करके तथा साधु की प्रतिमा ( साधुत्रों के १२ श्रिभप्रहों की क्रिया ), धारण करके विचरते हुए भी मेरा संसार भ्रमण क्यों नहीं छूटता ?
- (४४) इसिलये परलोक ही नहीं है या तपस्वी की ऋदि ( श्रिणिमा, गरिमा श्रादि ) भी कोई चीज नहीं है, मैं साधुपन लेकर सचमुच ठगा गया इत्यादि इत्यादि प्रकार के विचार साधु मन में कभी न लावे।
- (४५) बहुत से तीर्थंकर (भगवान) हो गये, हो रहे हैं और होंगे। उनने जो कहा है वह सब भूंठ है (अथवा तीर्थंकर हुए थे, होते हैं अथवा होंगे ऐसा जो कहा जाता है यह भूंठ है) ऐसा विचार भिक्ष कभी न करे।
- टिप्पग्री-मानवबुद्धि परिमित है किन्तु मानव-ऋष्पनाएं अपरिमित

(सीमारहित) हैं। संसार में इतनी वस्तुए हैं कि जिनकी हम करुपना भी नहीं कर सकते—देखना तो दूर की वात है। ऐसी दशा में विवेक पूर्वक श्रद्धा रखकर आत्मविकास के मार्ग में आगे बढ़ते जाना यही करुयाणकारी है।

(४६) इन सव परिपहों को काश्यप भगवान महावीर ने कहा है। उनके स्वरूप को जान कर (श्रनुभव करके) भिक्ष किसी भी जगह उनमें से किसी से भी पीडित होने पर भी कायर नहीं वनता।

टिप्पणी—इनमें से बहुत से परिषद उच्च योगी को, कुछ मुनि को तथा कुछ साधक को लागु पढ़ते हैं फिर भी इसमें से अपने जीवन में बहुत कुछ उतारा जा सकता है। अणगारी (साधु) मार्ग तथा गृहस्थमार्ग यद्यपि दोनों जुदे जुदे हैं किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ा हो गाढ़ है। दोनों एक ही उद्देश्य की सिद्धि में लगे हुए हैं इसि लिये अमणवर्ग के बहुत से विधान गृहंस्थ को भी लागु पढ़ते हैं। परिषद साधक के लिये अमृत है। सहनशीलता की पाठशाला साधक को आगे ही आगे बढ़ाती है।

ऐसा मैं कहता हूँ 'इस तरह "परिपह" नामक दूसरा श्रध्ययन समाप्त हुआ।



## चतुरंगीय

でものな

## [ चार श्रंग संवंधी ]

3

द्वा में पहिले जड़, शाखा प्रशाखा (छोटी २ डालियां)
पुष्प थ्रौर बाद में फल थ्राते है अर्थात कम से ये
थ बानें होती है जिस तरह समस्त सृष्टि में यही नियम व्यापक
है इसी तरह जीवन की उन्नति का भी यही कम है। जीवन
विकास की भिन्न भिन्न भूमिकाएं (श्रेणियाँ) उसका कम
कहलाती है। कम (श्रेणियां) विना श्रागे नहीं बढ़ा जाता
इसिलिये इस जीवन विकास का अनुक्रम जिन चार भूमिकाथ्रों
में भगवान महावीर ने बताया है उसका इस श्रध्ययन में वर्णन
किया है।

#### भगवान वोले:---

(१) प्राणिमात्र को इन ४ उत्तम श्रंगों (जीवन विकास के विभागों) की प्राप्ति होना इस संसार में दुर्लभ है—(१) मनुष्यत्व; (२) श्रुति (सत्य श्रवण); (३) श्रद्धा (निश्चित विश्वास); श्रीर (४) संयम घारण करने की शक्ति।

टिप्पणी:--मनुष्यत्व अर्थात् मनुष्य जाति का वास्तविक धर्म । मनुष्य-देह मिळने पर भी मनुष्यत्व प्राप्त करना शेष रहता है । मनुष्यत्व के वास्तविक ४ लक्षण हैं:--(१) सहज सौम्यता, (२) सहज कोमलता, (३) अम्त्सरता (निराभिमान), (४) द्या । सारा-सार विचारों की इतनी योग्यता के वाद ही सद्वस्तुओं के अवण करने की पात्रता आती है । अवण होने के बाद ही सची अदा, और सची अदा होने पर ही अर्पणता और अर्पणता की भावना जागृत होने पर शी शुद्ध त्याग होता है ।

(२) इस संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के जुदे जुदे गोत्र कर्म के कारण जुदी जुदी जातियों में तथा भिन्न भिन्न स्थानों में प्रजाएं (जीव राशि) पैदा होती हैं श्रोर उनसे यह विश्व स्थान हो रहा है।

टिप्पणीः—हमंबश से जीव संसार में जुदे जुदे स्थानों में पैटा होता है। उसको ईश्वर पैदा करता है अथवा यह सारी सृष्टि ईश्वर ने बनाई है ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं है।

(३) जिस तरह के कर्म होते हैं तद्नुसार ये जीव कभी देवयोनि में, कभी नरक योनि में श्रीर कभी श्रासुरी योनि में गमन (जन्म धारण) करते हैं।

टिप्पणि कर्मवदात् जीवात्मा की जैसी योग्यना स्वामाविक रीति से होती है तद्वुसार उसको उस गति में जाना पढ़ता है।

(४) कभी क्षत्रिय होता है, कभी चांडाल होता है, कभी बुक्स होता है तो कभी कीड़ा पंतग होता है। कभी कुंधु (क्षद्र जंतु) या चींटी भी होता है।

टिप्पणी—जिसकी मां बाह्यणी और पिता, चाण्डाछ हो उसे 'बुद्धस' कहते हैं। किन्तु यहां 'मिश्र जाति' से आशय है।

- (५) कर्मपिंड से लिपटे हुए प्राणी इस तरह से संसार चक्र में फिरते रहते हैं और जिस तरह से सब कुछ साधन रहने पर भी क्षत्रिय सर्वार्थों की प्रतीति नहीं करपाते उसी तरह संसार में रहते हुए भी उन्हें वैराग्य की प्राप्ति नहीं होती। टिप्पणी—चार वर्णों में क्षत्रियों को विशेष भोगी साना है और इसी लिये उनकी यहां उपमा दी गई है।
- (६) कर्मों के फंदों में फंसे हुए और तज्जन्य छेश से दुःखी जीव श्रमानुषी (नरक या तिर्यंच) गति में चले जाते हैं।
- (७) कर्मों का श्रधिक नाश होने पर शुद्धिप्राप्त जीवात्मा, श्रजु-क्रम से मनुष्य योनि को प्राप्त होता है।
- टिप्पग्री-शास्त्रकारों ने मनुष्यभव को उत्तम माना है न्योंकि आत्म-विकास के सभी साधन इस जन्म में प्राप्त होते हैं।
- (८) मनुष्य शरीर पाकर भी उस सत्यधर्म का अवण दुर्लभ है जिस धर्म को अवण करने से जीव तपश्चर्या, क्षमा श्रीर श्रहिंसा को पासकें।
- टिप्पणी—सर्त्संग, सत्य अथवा सद्धर्मं की प्राप्ति तभी मानी जाय जब कि उपरोक्त सद्गुण प्रकट हों।
- (९) कदाचित वैसा सत्य अवण मिलभी जाय फिर भी उस पर अद्धा होना (सत्यधर्म पर पूर्ण अडग प्रतीति होना) तो बहुत ही दुर्लभ है, क्योंकि न्यायमार्ग (मुक्तिमार्ग) को सुनने पर भी बहुत से जीव पतित होते हुए देखे जाते हैं।
- टिप्पग्गि—शास्त्र को अथवा गुरुवचन को सत्यबुद्धि से निश्चयपूर्वक धारण करने की स्थिति (दशा) को 'श्रद्धा' कहते हैं। श्रद्धावान् मनुष्य उपदेश श्रवण के बाद अकर्मण्य बेटा नहीं रहता। (आत्मविकास के मार्ग में इस ही जाता है।)

- (१०) मनुष्यत्व, सत्य अवण श्रीर अद्धा प्राप्त होने पर भी संयम की शक्ति प्राप्त होना तो श्रित कठिन है। बहुत से जीव सत्य को रुचिपूर्वक सुनते तो हैं किन्तु उसको श्राचरण में नहीं ला सकते।
- दिएएए। —ऐसा होने का कारण अनिवार्य कर्म बन्धन बताया है अन्यथा सत्य की तरफ रुचि होने पर उसको आचरण में छाये विना रहा नहीं जा सहता।
- (११) मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो जीव धर्म सुनकर श्रद्धालु वनता है वह पूर्व कर्म को रोककर शक्ति प्राप्त करता है श्रीर संयम धारण कर तपस्वी वनकर कर्म जाल का नाश कर हालता है।
- (१२) सरल आत्मा की शुद्धि होती है और शुद्ध मनुष्य के अन्तः करण में ही धर्म ठहर सकता है। ऐसा जीव घी से सिंचित अग्नि की तरह शुद्ध होकर कमशः श्रेष्ट मुक्ति को प्राप्त करता है।
  - (१३) कर्म के हेतु (कारण) को ढूंढो । चमा से कीर्ति प्राप्तकरो ऐसा करने से पार्थिव (स्थूल) शरीर को छोड़कर तू ऊंची दिशा में जायगा।
  - टिप्पर्गा—अपनी अंतरातमा को छक्ष्य करके यह कथन किया गया है। अथवा शिष्य को छक्ष्य करके गुरु ने कहा है।
  - (१४) श्रित उत्कृष्ट आचारों ( संयमों ) के पालने से [ जीवातमा] उत्तमोत्तम यत्त (देव) होता है। वे देव श्रत्यंत शुक्ल (श्वेत) कांति वाले होते हैं श्रीर वे ऐसा मानते हैं कि मानों श्रव उनका वहां से कभी पतन ही नहीं होगा।

- टिप्पणी—देवगित में एकांत सुख ही सुख है। वहां बाल्यावस्था, युवावस्था और बृद्धावस्था नहीं होती। वे मृत्यु तक समान दशा में रहते हैं। इसी दृष्टि से उक्त कथन किया गया है।
- (१५) दिव्य सुखों को प्राप्त श्रीर कामरूप (इच्छानुसार रूप) धारण करने वाले वे देव ऊंचे (कल्पादि) देवलोक में सेंकड़ों पूर्व (श्रांसख्य काल) तक निवास करते हैं।
- टिप्पणी—कल्पादि देवलोक की उच्च श्रेणियां हैं और 'पूर्व' एक अत्यंत विज्ञाल काल प्रमाण को कहते हैं।
- (१६) उस स्थान (देवलोक) में यथायोग्य स्थिति करके आयु के पूर्ण होने पर वहां से च्युत होकर वे देव मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं और वहां उनको १० श्रंगों की (उत्तमोत्तम सामग्री की) प्राप्ति होती है।
- (१७) चेत्र (प्रामादि ), वास्तु (घर ), सुवर्ण (उत्तम धातुएं ) पशु, दास (नौकर ), ये ४ काय स्कन्ध जहां होते हैं वहां वे जन्म लेते हैं।
- टिप्पग़ी-ये चारों विभाग मिलकर एक अंग बनता है।
- (१८) ( श्रौर वे ) मित्रवान, ज्ञातिमान्, उचगोत्र वाले, कांतिमान्, अल्परोगी, महावुद्धिमान्, कुलीन, यशस्त्री तथा विलिष्ट होते हैं।
- टिप्पणी-ये नौ अंग तथा उपर का एक मिलकर सब १० अंग हुए।
- (१९) श्रतुपम मनुष्य योग्य भोगो को श्रायुपर्यन्त भोगते हुए भी पूर्व के विशुद्ध सत्यधर्म को पालन कर श्रीर शुद्ध क्षेत्र सन्यक्त को प्राप्त कर—

- टिप्पणी—जैनदर्शनानुसार मोक्ष मार्ग की १ छी सीढी का नाम सम्यक्त है।
- (२०) (तथा) जो पुरुष ४ र्झगों (जिनका वर्णन ऊपर किया है) को दुर्लभ जानकर संयम महरा कर कमीशों (कर्म समूहों) को तपद्वारा दूर करता है वह अवश्य ही सिद्ध होता है (स्थिर मुक्ति को प्राप्त करता है)।

दिष्एगी— नैन दशैंन में आत्म विकास के पुण्य और निर्जरा ये दो अंग माने गये हैं। पुण्य से ही साधन मिलते हैं और सत्य धर्म को समझ कर टन साधनों द्वारा (पतित न होकर) आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होने को "निर्जरा" कहते हैं। सच्चे धर्म को नृद्ध की उपमा दी गई है। वह नाचता है फिर भी उसकी निगाह— दृष्टि रस्सी पर ही खगी रहती है। उसी तरह सद्धर्मी की दृष्टि तो, प्राप्त साधनों का उपयोग करते हुए भी मोक्ष की तरफ ही लगी रहती है।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस तरह चतुरंगीय नामक तीसरा श्रध्ययन समाप्त हुआ।



# असं<del>स्कृत</del>

**♦<:>**♦

8

चिन चंचल है। पूर्व संचिन कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं। इन दोनों वातों का वर्णन इस अध्ययन में बड़ी सुन्दरता के साथ हुआ है।

#### भगवान वोले :-- .

- (१) दूटा हुआ जीवन फिर जुड़ नहीं सकता, इसिलये (हे गौतम!) तू एक समय (काल का सबसे छोटा प्रमाण) का भी प्रमाद मत कर। सचमुच बृद्धावस्था से प्रसित पुरुष का कोई शरणभूत नहीं होता ऐसा तू चिन्तन कर। प्रमादी और इसीलिये हिंसक बने हुए विवेकशून्य जीव किसकी शरण में जांयगे।
- टिप्पग्री—यद्यपि यह कथन गौतम को लक्ष्य करके कहा गया है फिर भी 'गोयम' शब्द का अर्थ हन्द्रियों का नियम करने वाला 'मन' भी हो सकता है। हम आत्माभिमुख होकर अपने मन के प्रति इस संबोधन का अवश्य उपयोग कर सकते हैं। दूसरी सभी वस्तुएं

टूटने पर फिर जोड़ी जा सकती हैं, किन्तु यह जीवन दोरी ( जीवन रूपी रस्सी ) एक वार टूट कर फिर कभी नहीं जुढ़ती।

- (२) कुबुद्धि वशात् ( श्रज्ञान वशात् ) पाप कृत्य करके जो मनुष्य धन प्राप्त करते हैं वे कर्म वन्ध में वन्धे हुए श्रौर वर ( की सांकलों में ) फंसे हुए ( मृत्यु समय ) धन को यहीं छोड़ कर ( परलोक में ) नरक गति में जाते हैं।
- (३) सेंध लगाते हुए पकड़ा गया चोर जिस तरह अपने कर्म से काटा जाता (पीड़ित होता) है उसी तरह ये जीव इसलोक श्रौर परलोक में श्रपने श्रपने कर्मों द्वारा पीड़ित होते हैं क्योंकि संचित कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं होता।
- टिप्पणी—जो जैसे कर्म करता है उनको वही भोगता है। कर्ता एक हो और भोका कोई दूसरा हो ऐसा नहीं हो सकता। इसी न्याय से इस लोक में जिन कर्मी का फल भोगना वाकी रहता है उनको दूसरे भव में भोगने के लिये उस आत्मा को पुनर्जन्म धारण करना ही पढ़ेगा इस तरह पुनर्भव (पुनर्जन्म) की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है।
- (४) संसार को प्राप्त जीव दूसरों, के लिये (या श्रपने जीवन व्यवहार में) जो कम करता है वे सब कम उदय (परि-णाम) काल में खुद उसको ही, भोगने पड़ते हैं। उसके (धन में भागीदार होने वाले) वन्धु बान्धव कमों में भागीदार नहीं होते।
- (५) प्रमादी जीवात्मा धन से भी इस लोक या परलोक में शरण प्राप्त नहीं कर सकता। जिस तरह ( श्रन्धियारी रात में ) दिया के यूमने पर गाद श्रन्धकारं फैल जाता

है उसी तरह ऐसा पुरुष न्याय मार्ग को देख कर भी मानों देखता ही न हो इसतरह ज्यामोह में जा-फंसता है। टिप्पण्णि—कुछ लोगों की यह मान्यता है कि 'मरते समय धनसे यमदूत को समझा लेंगे'। किन्तु जीव के चलने के समय धनादि भी शरणरूप नहीं होते इस बात का इसमें हशारा हिया है।

- (६) इसिलिये सुप्तों में जागृत (श्रासक्त पुरुषों में निरासक्त ), बुद्धिमान श्रीर विवेकी ऐसा साधक (जोवन का) विश्वास न करे, क्योंकि ज्ञाण भयंकर हैं श्रीर शरीर निर्वल है, इसिलिये भारगढ पत्ती की तरह श्रिप्रमत्त होकर विचरे।
- टिप्पणी—काल दृष्य अखंड है किन्तु शरीर तो नाशवान है इस अपेक्षा से भयंकर बता कर क्षणमात्र का भी प्रमाद न करने का उपदेश दिया है। भारंड पक्षी के दो सुस्त होने पर भी शरीर एक ही होता है इस लिये वह चलते, बैठते, उठते हमेशा मन में ख्याल रखता है। इसी तरह साधक को भी सावधान रहना चाहिये।
- (७) थोड़ीसी भी श्रासक्ति जाल के समान है, ऐसा मानकर डग डग पर सावधान होकर चले। जहां तक लाभ हो तहां तक संयमी जीवन को लम्बावे किन्तु श्रन्तकाल समीप श्राया देख इस मलिन शरीर का श्रन्त लावे।
  - टिप्पाणी अप्रमत्त साधक को जब अपनी आयुष्य की पूर्णता का पूरा २ विश्वास हो जाय तभी उसका समझ पूर्वक त्याग करे अन्यथा देह पर भले ही ममत्व न हो तो भी इसे आत्मविकास का साधन मान कर इसकी रक्षा करने के कर्तव्य को न भूले।
- (८) जैसे सधा हुन्ना श्रौर कवचधारी घोड़ा युद्ध में विजय प्राप्त करता है उसी तरह साधक मुनि स्वच्छन्द (श्रपनी वासनाश्रों) को रोकने से मुक्ति प्राप्त करता है श्रौर पूर्व

- ( श्रसंख्य वर्षों का लम्वा काल प्रमाण ) तक श्रप्रमत्त रह कर जो विचरता है वह मुनि उसी भव से शीव ही मुक्ति को प्राप्त करता है।
- दिप्पणी—पतन के दो कारण हैं, (१) स्वच्छन्द, और (२) प्रमाद।
  मुसुक्ष को चाहिये कि प्रारंभ से ही इन्हें दूरकरे तथा अर्पणता और
  सावधानता को प्राप्त करे।
- (९) शाश्वत (नियति) वादी मतवादियों की यह मान्यता है कि जो वस्तु पिहले न मिली हो पीछे से भी वह नहीं भिल सकती। (यहां विवेक करना उचित है अन्यया उस मनुष्य को) शरीर का विरह (जुदाई) होते समय अथवा आयुष्य के शिथिल होने पर उनकी भी मान्यता वदल जाती है (और खेद करना पहता है)।
- टिप्पणी—जो हमने पहिले नहीं किया तो अब क्या कर सकेंगे ? ऐसा समझ कर भी पुरुपार्थ न छोड़े। सब कालों में और सभी परिस्यिति में पुरुपार्थ तो करते ही रहना चाहिये। यहां परंपरा के अनुसार ऐसा भी अर्थ होता है कि शाश्वतवादी (निश्चय से कह सकें ऐसे ज्ञानी जन) त्रिकालदर्शी होने से, अभी ऐसा ही होगा, फिर ऐसा नहीं होगा, अथवा अभी वह जीव प्राप्त कर सकेगा, बाद में नहीं आदि, आदि निश्चय पूर्वक जानते हैं वे तो पीछे भी पुरुपार्थ कर सकते हैं परन्तु यह उपमा तो उन्हीं महापुरुपों को लागू पदती है, औरों को नहीं। जो उनकी तरह दूसरा साधारण जीवातमा भी वैसा ही करने लगेतो अन्त समय में उसको पहताना ही पदेगा।
  - (१०) ऐसा शीव्र विवेक (त्याग) करने की शक्ति किसी में नहीं है इसलिये महर्पि, कामों (मोगों) को छोड़ कर,

संसार स्वरूप को समभाव (सम दृष्टि) से समम कर श्रौर श्रात्मरक्षक बनकर श्राप्रमत्त रूप से विचरे।

टिप्पणी—काम सेवन करते हुए भी जागृति या निरासिक रखना सरल नहीं है। इसिंखये प्रथम काम (भोग विकासों) को ही छोड़ देना उत्तम है।

(११) बारम्बार मोह को जीतते हुए श्रौर संयम में विचरते हुए त्यागी को विषय श्रनेक स्वरूप में स्पर्श करते हैं किन्तु भिन्नु उनके विषय में श्रपना मन कछिषत न करे।

(१२) (ललचाने वाला) मन्द मन्द स्पर्श यद्यपि बहुत ही श्राक्ष्मक होता है किन्तु संयमी उसके प्रति श्रपने मन को श्राक्रव्ट न होने देवे, कोध को दबावे, श्रभिमान को दूर करे, कपट (मायाचार) का सेवन न करे श्रीर लोभ को छोड़ देवे।

(१३) जो अपनी वाणी (विद्वता) से ही संस्कारी गिने जाने पर भी तुच्छ और पर-निंदक होते हैं तथा राग द्वेष से , जकड़े रहते हैं वे परतन्त्र खीर अधमी हैं ऐसा जान कर साधु उनसे अलग रह कर शरीर के अन्त तक (मृत्यु-पर्यंत) सद्गुणों की ही आकांक्षा करें।

ऐसा मैं कहता हूँ।

्इस तरह "श्रसंस्कृत" नामक चतुर्थ श्रध्ययन पूर्ण हुआ।



# श्रकाम मरणीय

---

y

त्युकाल यह जीवन कार्य का जोड़ है। जीवन में भी मरण तो अनेक बार होता है क्योंकि प्रमाद ही मरण है फिर भी इस अध्ययन में तो श्रीर त्याग के समय की दशा का वर्णन किया है। उस स्थिति को पहिले से ही समभ कर आतमा अप्रमन्त हो सके यही इस वर्णन का हेतु है।

- (१) दुस्तर श्रीर महाप्रवाह वाले इस संसार समुंद्र को श्रानेक पुरुप पार कर गये वहां महावुद्धिमान एक जिज्ञासु ने यह प्रश्न पृंछा:—
- (२) जीवों की मरण समय में दो स्थितियां होती हैं। (१) श्रकाम मरण; श्रीर (२) सकाम मरण।
- टिप्पणी—जिस भरण के समय में अशांति हो टसे अथवा ध्येयझून्य भरण को अकाम भरण और ध्येयपूर्वक मृत्यु को 'सकाम भरण' कहते हैं।
- (३) वालकों का तो श्रकाम मरण होता है जो वारंवार हुश्रा करता है श्रीर पंडित पुरुषों का सकाम मरण होता है जो केवल एकही बार होता है।

- टिष्पामी जैनदर्शन में शुद्ध सम्यक्ति जीव के मरण को पंडित मरण, भाना है और ऐसी धारमा अधिक से अधिक संसार में एक ही बार फिर से जन्म धारण करती है और सामान्य जीवां को अनेक बार जन्म मरण करने पड़ते हैं।
- (१) इस पहिली स्थिति को भगवान महाबीर ने इस प्रकार बताई है कि जो इन्द्रिय विषयों में आसक्त है वह बालक (मूर्ख) है और वह बहुत से कूर कृत्य करता रहता है।

टिप्पाशी — जो कोई हिंसादि अत्यन्त क्रूर कर्म करता है वही अकाम-मरण का अनुभव करता है।

- (५) जो कोई भोगोपभोगों में आसक होकर असत्य कर्मों को आचरता है उसीकी ऐसी मान्यता होतो है कि 'मैं ने परलोक देखा ही नहीं है और इन भोगोपभोगों का सुख तो प्रत्यच्च है,।
  - (६) 'ये भोगोपभोग तो हाथ में आए हुए प्रत्यत्त हैं और जो पीछे होने वाला है वह तो समय पाकर आगे होगा (इस-लिये उसकी चिन्ता क्या ?) परलोक किसने देखा है ? और कौन जानता है कि परलोक है या नहीं।
  - (७) 'जो दूसरों को होगा वही मुसे भी होगा',—इस तरह यह मूर्ख बड़बड़ाया करता है श्रीर इस तरह कामभोग को श्रासक्ति से श्रन्त में कष्ट भोगता है।

#### भोगों की आसक्ति का परिणाम?

(८) इस कारण वह त्रस और स्थावर जीवों को दंडित करना शुरू करता है और अपने लिये केवल अनर्थ से (हेंतु पूर्वक अथवा अहेतु से ) प्राणि समूह की हत्या कर डालता है।

- दिप्पण्णि—त्रस जीव वे है जो चलते फिरते दिखाई देते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीवों को जो आंखों से स्पष्ट रूप से न दिखाई दें, दन्हें स्थावर जीव कहते हैं यद्यपि आयुनिक वैज्ञानिक शोध से यह बात सर्वमान्य हो गई है कि जल, वायु वनस्पति आदि में सुदम जीव हैं।
- (९) ऋमराः हिंसक, श्रयत्यभाषी, मायाचारी, चुगलखीर, राठ श्रोर मूर्ख वह शराव श्रीर मांस खाता हुश्रा, ये वस्तुए उत्तम हैं ऐसा मानता है।
- (१०) काया श्रोर वचनों से मदान्ध वना हुआ तथा घन श्रीर स्त्रियों में श्रासक्त वना हुआ वह, जैसे केंचुआ मिट्टी की दो प्रकार से इकट्टी करता है उसी तरह, दो तरह से कर्मस्पी मल को इकट्टा करता है।

टिप्पणी—'दो तरह में यह इक्टा करना' इसका आधाय यहां दारीर और आत्मा दोनों के अग्रुद्ध होने से हैं। दारीर के पतन होने के बाद उसको सुधारने का मार्ग वढ़ी कठिनता से मिल भी नाता है किंतु आत्मपतन के उद्घार का मार्ग मिलना तो अर्सभव जैसा कठिन है।

- (११) उसके वाद, परिणाम में रोगों द्वारा जर्जरित श्रीर उसके कारण श्रत्यन्त खिन्न हुश्रा वह जीव हमेशा पश्चाचाप की श्रिम में तपा करता है। श्रीर श्रपने किये हुए दुष्कर्मी को याद कर करके वह परलोक से भी श्रिधकाविक हरने लगता है।
- (१२) "दुराचारियों की जहां गित होती है ऐसे नरकों के स्थानों को मैंने सुना है। वहां क्रूर कर्म करने वालों को श्रमहा नेदना होती है।

टिप्पर्गी—जैन शास्त्रों में ७ नरकों का विधान है जहां कृत कर्मी की भयंकरता के फलस्वरूप उत्तरोत्तर अकल्पनीय वेदनाएं नारिकयों को भोगनी पड़ती हैं।

- (१३) वहां श्रीपपातिक ( खयं कर्मवशात् उत्पत्ति होती है ऐसे नरक ) स्थानों जिनके विषय में मैंने पहिले सुना है, वहां जाकर जीव कृत कर्मों का खूब ही पश्चात्ताप करते हैं।"
- (१४) जैसे गाड़ीवान जान-वृक्त कर सरियाम रास्ता को छोड़ कर विषम मार्ग में जाय श्रौर वहां गाड़ी की धुरी दूटने से शोक करता है।
- (१५) उसी तरह धर्म को छोड़कर श्रधर्म को प्रहण कर मृत्यु के मुंह में गया हुआ वह पापी जीव, मानों जीवन की धुरा टूट गई हो वैसे ही शोक करता है।
  - (१६) उसके वाद वह मूर्ख, मरण के त्रांत में भय से त्रस्त होकर किल (जुए के दाव) से हारे हुए ठग की तरह श्रकाम मरण की मौत मरता है।
  - टिप्पणी—जुए में कभी २ जिस तरह धूर्त भी हार जाते हैं वैसे ही अकाममरण से प्रेसा पापी जीव जन्म की वाज़ी हार जाता है।
  - (१७) यह वालकों ( मूर्ख प्राणियों ) के श्रकाम मरण के विषय
    में कहा । श्रव पंहितों ( पुण्यशील पुरुषों ) के सकाम
    मरण के विषय में मैं कहता हूँ वह ध्यान पूर्वक सुनो—ऐसा
    भगवान सुधर्म स्वामी ने कहा:—
  - (१८) पुर्यशाली (सुपवित्र) पुरुषों, ब्रह्मचारियों श्रौर संयमी पुरुषों का व्याघातरिहत श्रौर श्रीत प्रसन्नता पूर्ण वह मरण, जैसा कि मैंने सुना है—

- (१९) सत्र भिक्षुत्रों को या सत्र गृहस्थों को प्राप्त नहीं होता है किन्तु कठिन व्रत पालने वाले भिक्षुत्रों श्रीर भिन्न २ प्रकार के सदाचार सेवन करने वाले गृहस्थों को ही प्राप्त होता है।
- (२०) वहुत से इसाधुत्रों की श्रपेत्ता गृहस्य भी श्रधिक संयमी होते हैं किन्तु साधुता की दृष्टि से तां सब गृहस्यों की श्रपेक्षा साधु ही श्रधिक संयमी होता है।
- टिप्पाणी—यह गाथा अत्यन्त गम्भोर और सची संयम का प्रतिपादन करनेवाली है। वेश या अवस्था विशेष संयम के पोषक या बाधक हैं हो नहीं।
- (२१) वहुत काल से धारण किया हुआ चर्म, नग्नत्व, जटा, क्ष्ट्रे, संघाटि (बौद्ध साधुओं का उत्तरीय वस्त्र), या मुंडन आदि किया समी चिन्ह दुराचारी बेराधारी साधु की रचा नहीं कर सकते।
  - टिप्पणी— भिन्न भिन्न चिन्ह ( तिलक, छापे, चमें, जटा आदि ) संयम के रक्षक नहीं हैं केवल सदाचार ही संयम का रक्षक है।
  - (२२) भिचाचरी करनेवाला भिक्ष भी यदि दुराचारी होगा तो वह नरक से नहीं छूट सकता। (सारांश यह है कि) चाहे भिक्ष हो या गृहस्य, जो कोई भी सदाचारी होगा वही स्वर्ग में जा सकता है।
  - टिप्पणी—साधु नरक नहीं जाता या धावक नरक नहीं जाता ऐसा टेका किसी ने नहीं छिया। जी कोई भी जिस किसी अवस्था में रह कर दुराचार करेगा वह अवस्थ ही नरकगामी होगा और जो कोई सदाधार सेवन करेगा वह स्वर्ग प्राप्त करेगा।

### गृहस्थी मुत्रती (सदाचारी) कैसे वने ?

- (२३) गृहस्थ भी सामायिकादि श्रंगों को श्रद्धापूर्वक ( ध्रशीत् मन, वचन श्रीर काया से ) स्पर्श ( गृहण् ) करे श्रीर महीने की दोनों पिक्लश्रों को पौषध धारण करे।
- टिप्पणी—सामायिक—यह जैन दर्शन में आत्मिंतन की किया है। और इस किया को आवक प्रायः हमेशा ही करते ही रहते हैं इन कियाओं को शुद्ध रीति से करते रहने से आत्म साक्षात्कार होकर मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु ये सामायिक मात्र दो घड़ी भर की किया है और पौषध किया एक पूरे दिन रात तक आत्मिंतन करने की किया है। पौषध के दिन उपवास करे और सौम्यासन से वैठ कर आत्मिंतवन करता रहे ऐसा विधान है।
- (२४) इस तरह विचारपूर्वक गृहस्थावास में भी उत्तम व्रत से (सदाचारी) रह सकने वाला जीव इस श्रौदारिक (मिलन) शरीर को छोड़ कर देवलोक में जा सकता है।
- टिप्प्णी जैन शास्त्रों में मनुष्यों तथा पशुओं के शरीर को औदारिक शरीर कहा है। औदारिक अर्थात् हड्डी, मांस, रुधिर, चमड़ा आदि बीभत्स (धृणित) वस्तुओं का पुञ्ज।
- (२५) श्रीर जो संवर करने वाला (संसार से निवृत्त हुआ) भिक्षु-होता है वह सब दु:खों का नाश करके मुक्त श्रथवा महा ऋद्धिमान देव (इन दोनों में से एक) होता है।
- इटिप्पणी—यहां एक शंका होती है कि मुनि को तो मुक्ति प्राप्ति होती है.
  गृहस्थ को क्यों नहीं होती ? परन्तु यह बात तो स्पष्ट है कि गृहस्थ जीवन
  में त्याग—यह एक अपवाद है। जो त्याग गृहस्थावस्था में दुःसाध्य
  लगता है वही साधु अवस्था में मुसाध्य होता है और वहां उसकी
  विशेषता भी है। हसीलिये गृहस्य की अपेक्षा त्यागी अधिक

शीव्रता और अधिक सरलता से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। वास्त-विक रीति से तो जैन दर्शन में त्याग ही मुक्ति का अनुपम साधन माना गया है फिर भले वह साधु जीवन में हो और चाहे वह गृहस्थ जीवन में हो।

### देवों के निवास स्थान कैसे होते हैं ?

- (२६) देवों के स्थान अत्यंत उत्तम, अत्यंत आकर्षक, अनुक्रम से उत्तरोत्तर अधिक दिज्य कांतिमान, यशस्त्री होते हैं और वहां उच प्रकार के देव नित्रास करते हैं। वहां विराजमान देव कैसे होते हैं?
- (२७) वहां के निवासी देव दीर्घ आयुष्यवान, श्रत्यन्त समृद्धि-सान, काम-रूप (इच्छानुसार रूप धारण करने वाले) दिन्य ऋदिमान, सूर्य के समान कान्तिमान, श्रौर मानों श्रभी हाल ही पैदा हुए हैं ऐसे सुकुमार दैदीप्यमान होते हैं।
- (२८) जो संसार की श्रासिक (ममत्व) से निवृत्त होकर संयम तथा तपरचर्या का सेवन करता है वह चाहे साधु हो या गृहस्थ हो इन (छपरोक्त) स्थानों में श्रवश्य, जाता है।
- (२९) सच्चे पूजनीय, ब्रह्मचारी (जितेन्द्रिय) श्रौर संयमियों का (वृत्तान्त) सुनकर शीलवान् तथा वहु सूत्री (शाख का यथार्थ ज्ञाता) साधक मरणांत काल में दुःख नहीं पाता है।
- (२०) प्रज्ञावान् पुरुप द्या धर्म श्रौर समा द्वारा (वाल तथा पंहित मरणों का ) तील करके उसमें विशेष ध्यान देकर

(अर्थात् उस प्रकार की उत्तम आत्म-दशा को प्राप्त करके) विशेष प्रसन्न होता है।

(३१) श्रीर उसके बोद जब मृत्यु समीप श्राती है तब वह श्रद्धालु साधक उत्तम गुरु के पास जाकर लोमहर्ष (देहमूच्छी) को दूर कर इस देह के वियोग की इच्छा करे।

टिप्पणी-जिसने अपने जीवन को धर्म में ओतप्रोत कर दिया है वही अन्त समय में मृत्यु को आनन्द के साथ मेंट सकता है।

(३२) ऐसा मुनि मृत्यु प्राप्त होने पर इस शरीर को दूर कर तीन प्रकार के सकाममरणों में से (किसी) एक मरण द्वारा श्रवश्य मृत्यु पाता है।

टिप्पणी—यह सकाममरण तीन प्रकार का होता है, (१) मक्त प्रत्यस्थान मरण (मृत्यु समय भाहार, जल, स्वाय, खाद्य, किसी भी प्रकार की वस्तु का प्रहण न करना); (२) हंगित मरण (इसमें-चार प्रकार के भाहार के पच्चकखाण सिवाय क्षेत्र की भी मर्यादा बनाली जाती है); (३) पादोपगमन मरण (कंपिलि वृक्ष की शाखा की तरह एक हो करवट कर मृत्यु पर्यंत पढ़े रहना) इस तरह तीन प्रकार के सकाममरण होते हैं।

ऐसा में कहता हूँ।

इस प्रकार 'श्रकाममरणीय' नामक पांचवां श्रध्ययतः समाप्त हुस्रा।



# चुल्लक निग्रंथ

#### WE TO

### श्रनाचारी भिज्ञुओं का अध्ययन

દ્

शास्त्रपढ़जान से श्रथवा वाणी द्वारा मोत्त की वात शास्त्रपढ़जान से श्रथवा वाणी द्वारा मोत्त की वात करने से उसका नाश नहीं हो सकता। श्रद्धान का निवारण करने के लिये भी कठिन से कठिन पुरुपार्थ श्रीर विवेक संपादन करने चाहिये। इस जन्म में प्राप्त साधन, जैसे धन, परिवार श्रादि का मोह भी सरजता से नहीं दृद सकता। उसकी श्रासक्ति हटाने के लिये भी कठिन से कठिन तपश्चर्या करनी पड़ती है तो श्रनन्त जन्मों से वारसे (उत्तराधिकार) में प्राप्त श्रीर जीवन के प्रत्येक श्रणु के संस्कार में पेठे हुए श्रद्धान को दूर करने के लिये बहुत भारी प्रयत्न करना पड़ेगा, यह वात स्पष्ट ही है।

केवल वेग परिवर्तन (भेप-वद्दलने) से विकास नहीं हो सकता। वेग्र परिवर्तन के साथ ही साथ हदय का भी परि-चर्तन होना चाहिये। यही कारण है कि जैनदर्शन में कान के साथ २ प्राचार (वर्तन) की प्रावश्यकता पर एहुत जोर दिया गया है।

#### भगवान बोले:--

- (१) जितने श्रज्ञानी पुरुष हैं वे सब दुःख उत्पन्न करने वाले हैं (दुःखी हैं,) वे मूढ पुरुष इस श्रनन्त संसार में बहुत वार नष्ट (दुःखी) होते हैं।
- टिप्पणी—अज्ञान से मनुष्य स्वयं तो दुःखी होता ही है साथ ही अपने पदोसियों को भी वह दुःखदायी होता है।
- (२) इसिलये ज्ञानी पुरुष, जन्म मरण को बढ़ाने वाले इस जाल को समक्त कर ( छोड़कर ) श्रपनी श्रात्मा द्वारा सत्य की खोज करे श्रीर सत्यशोधन का पहिला साधन मैत्रीमाव है, इसिलये प्राणीमात्र के साथ मित्रभाव स्थापे।
- (३) स्त्री, पुत्र, पौत्र, माता, पिता, भाई, पुत्र वधुएं स्त्रादि कोई भी अपने संचित कमों द्वारा पीड़ित तुम्हें लेशमात्र भी शरणभूत नहीं हो सकते।
- (४) सम्यक् दृष्टि पुरुष को अपनी (शुद्ध दृष्टि से) बुद्धि से इस बात को विचारनी चाहिये श्रौर पूर्व परिचय (पूर्व वासना जन्य उद्रेक) की इच्छा न करनी चाहिये। उसे श्रासिक श्रौर स्नेह को तो सर्वथा दूर ही कर देना चाहिये।
- टिप्पणी—सम्यक् दर्शन अर्थात् आत्मभान । ज्यों ज्यों आसिक्त और राग दूर होते जाते हैं त्यों त्यों आत्मदर्शन होता जाता है। इस अवस्था में, पूर्व में भोगे हुए भोगोपभोगों का मन में स्मरण न आने दे और आत्म जागृति में निरन्तर सावधान रहे, ऐसा विधान किया गया है।
  - (५) गाय, घोड़ा, श्रादि पशुधन को, मिण्कुंडलों को, तथा दासी दास श्रादि सब को छोड़ कर तू कामरूपी (इच्छा-

- नुसार रूप धारण करने वाला) देव वन सकेगा। (मन में ऐसा विचारना चाहिये)।
- (६) (श्रोर) स्थावर श्रथवा जंगम किसी भी प्रकार की मिल-इत (धन संपत्ति), धान्य या श्रामूपण, कर्मों के फल से पीड़ित मनुष्य को दुःस्रों के पंजों से नहीं छुड़ा सकते ऐसा तू समम ।
- (७) श्रात्मवत् सर्वत्र सव जीवों को मान कर (श्रर्थात् जिसे तरह हमें श्रपने प्राण प्यारे हैं उसी तरह दूसरों को भी श्रपने श्रपने प्राण प्यारे हैं ऐसा जान कर) भय श्रीर वैर से विरक्त श्रात्मा किसी भी प्राणी के प्राणों को नहने (न मारे या न सतावे)।
- िटण्पाि— सय क्र्रता से ही पैदा होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक क्र्र होगा उतना ही वह भयभीत भी रहेगा। देर यह प्राप्तता की भावना है। इन दोनों से यदि विरक्त हो जाय तो फिर सर्व जीवों के प्रति प्रेमामृत वहता रहे। अपनी उपमा से (जैसा अपने छिये वैसा ही दूसरों के छिये) प्रध्येक जीव के साथ वर्षे तो प्राणीमात्र पर स्वाभाविक प्रेम पैदा हुए यिना न रहे।
  - (८) मालिक की त्राज्ञा त्रिना कोई भी वस्तु प्रहरण करना यह नरक गति का कारण है ऐसा मान कर घास का तिनका भी दिये विना प्रहरण न करे। भिक्षु श्रपनी इन्द्रियों का निप्रह करके श्रपने पात्र में दाता द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिये गये भोजन को ही प्रहण करे।
  - टिप्पर्णा—अदत्त की मनाई गृहस्य के लिये भी है किन्तु इन दोनों में भन्तर देवल इतना ही है कि गृहस्य पुरुषार्थ करके अपने इक की

वस्तु छे सकता है। यदि वह नीति का भंग कर, दी हुई वस्तु को विपिस छे छे तो वह भी अदत्त ही है।

- (९) (यहाँ) बहुत से तो ऐसा ही मानते हैं कि पापकर्म त्याग किये विना भी श्रार्थधर्म को जानने मात्र से ही सर्व दु:खों से छूट सकते हैं (किन्तु यह ठीक नहीं है)।
- दिप्पणी—इस रलोक में ज्ञान की अपेक्षा वर्तन (आचरण ) की महत्ता बताई है। आचार न हो तो वाणी निरर्थंक है।
- (१०) वंध श्रौर मोक्ष की वार्ते करने वाले, श्राचार का व्याख्यान देने पर भी स्वयं कुछ श्राचरण नहीं करते। वे मात्र वान्द्रारता (वाणी की वहांदुरी) से ही श्रपनी श्रात्मा को श्राश्वासन देते हैं।
- ्(११) भिन्न २ तरह की (विभिन्न) भाषाएं (इस जीवको) शरणभूत नहीं होती है तो फिर कोरी विद्या का अधीश्वर-पन (पंडितपन) क्या शरणभूत होगा ? पाप कमेर द्वारा पकड़े हुए मूर्खे कुछ न जानते हुए भी अपने को पंडित मानते हैं।
  - (१२) जो कोई बाल (अज्ञानी) जीव; शरीर में, रंग में, सौंदर्य में सर्व प्रकार से (अर्थात् मन, वचन श्रीर काया से) श्रासक्त होते हैं वे सब दुःख भोगी होते हैं।
- (१३) वे इस अपार भवसागर में अनन्तकाल तक चक्कर लगाते रहेंगे, इस लिये मुनि का कर्तव्य है कि वह चारों तरफ देख भाल कर अप्रमत्त होकर विचरे।
- (१४) बाह्य सुख को आगे करके (मुख्यता देकर) कभी किसी (वस्तु) की इच्छा न करे।

- टिप्पण्णि—शरीर, धन, स्वजन आदि सामग्री मुख्य नहीं है, गौज है। उसका दुरुपयोग करने में ही सुख मिल सकता है। उसकी लालसा में यदि कोई जीवन खर्च करेगा तो वह सब कुछ स्रो बैठेगा।
- (१५) कमों के मृल कारण (बोज) का विवेक पूर्व क विचार करके श्रवसर (योग्यता) देख कर (संयमी वनने के पीछे) निर्दोष भोजन श्रीर पानी को भी माप (परिमाण) से प्रहणकरे।

टिप्पणी—योग्यता विना संयम नहीं टिक सकता। इसी लिए 'अवसर देख कर' इस विशेषण का प्रयोग किया है। त्याग और तप के विना पूर्व संचित कर्मों का नाश असंभव है इसी लिए त्याग को अनिवार्य बताया है।

- (१६) त्यागी लेशमात्र भी संप्रह न करे। जैसे पत्ती श्रन्य वस्तुत्रों से निरपेक्ष रह कर केवल परों को श्रपने साथ लेकर विचरता है वैसे हो मुनि भी (सद वस्तुश्रों से) निरपेत्त होकर विचरे।
- (१७) लज्जावन्त ( संयमी लज्जा रखने वाला ) श्रौर प्रहण करने में भी मर्यादा रखने वाला भिन्नु श्राम, नगर इत्यादि स्थानों में, बन्धन रहित ( निरासक्त ) होकर विचरे श्रौर प्रमादियों ( गृहस्थों ) के संसर्ग में रहने पर भी श्रप्रमत्ता रहकर भिक्षा की गवेषणा ( शोध ) करे।

"इस प्रकार से वे अनुत्तर ज्ञानी तथा अनुत्तर दर्शनधारी अर्हन्त मगवान ज्ञातपुत्र महावीर विशाली नगरो में व्याख्यान करते थे"—ऐसा जंबू स्वाभी को सुधर्म स्वामी ने कहा। ऐसा मैं कहता हूँ

इस तरह "चुल्तक निर्यन्थ" नामक छठा अध्याय समाप्तहुआ।

## एलक

#### वकरे का अध्ययन

0

मिंग में तृष्ति नहीं है श्रीर जड़ में कहीं भी खुख नहीं है। भोगों में जितनी श्रासिक होगी उतनी ही श्रात्मा श्रपने स्वरूप से दूर रहेगी। जितना ही श्रपने स्वरूप से दूर रहा जायगा उतनी ही पापपुंज की वृद्धि होगी श्रीर परिणाम में श्रधोगित में जाना पड़ेगा। इसिंजिये मनुष्य जन्म को सार्थक करना यही श्रपना परम कर्तव्य है।

- (१) जैसे अतिथि (मेहमान) को लक्ष्य करके (निमित्त) कोई आदमी अपने आंगन में वंकरे को पालकर चावल और जो देकर पोषण करे।
- (२) इसके बाद वह हृष्ट पुष्ट, बड़े पेट का, मोटा ताजा, खूव चर्बी वाला बकरा श्रोर भी विपुल देहधारी बनता है मानों श्रतिथि की ही राह देख रहा है!
- (३) जब तक वह अतिथि घर नहीं आता तभी तक वह विचारा (बकरा) जी सकेगा, परन्तु अतिथि के घर आते ही

वह और घरवाले उसका माथा काट डालते (वय कर डालते) हैं श्रीर उसे खाजाते हैं।

(४) सचमुच जैसे वह वकरा केवल श्रितिथ के लिये ही पाला पोसा गया था उसी तरह श्रधमी वालक (मूर्ष) जीव मी (श्रूर कमें करके) नरक गति का वंध करने के लिये ही भोगीपभोगों (काम) द्वारा पाप से पोसे जाते हैं।

टिप्पणी—जिस तरह वकरा खाते समय खूव आनंद मग्न होता है उसी तरह भोग भोगते समय जीवात्मा क्षणिक सुख में मग्न हो जाता है किन्तु जब अतिथिरूपी काछ (मृत्यु) आता है तब उसकी महा दुर्गति होती है और पहिले भोगा हुआ, किंचित क्षणिक सुख महा दुःखरूप हो जाना है।

### नरकगामी वाल जीव कैसे दोपों से धिरा रहता है ?

- (५) वाल जीव हिंसक, श्रसत्यभाषी, वटेमार, डाकू, मायाचारी, श्रथर्म की कमाई खाने वाले, शठ, श्रीर—
- (६) स्त्रियों में श्रासक्त, इन्द्रियलोखपी, महारंभी, महा परि-मही, मदापी तथा मांसभक्षक, परापकारी, पाप करने में खूब पुष्ट (पापी),—
- (७) वकरा श्रादि पशुश्रों के मांस को खाने वाले, वहे पेट वाले (देयादेय भक्षक), क्षपथ्य खाकर शरीर में रक्त वृद्धि करने वाले, ऐसे ये श्रधर्मी जीव, जैसे वह पुष्ट वकरा श्रितिथ की राह देखता है वैसे ही वे नरकगित की राह देखते हैं। (श्रर्थान् ऐसे पापी मरकर नरक में जाते हैं।)

टिप्यणी—स्पर्शन, रसन, जाण, च्छु, और कान इन पांच इन्द्रियों के विपयों में को आसक्त हैं टसे इन्द्रिय कोछ थी कहते हैं। महारंभी

- अर्थात् महास्वार्थी हिंसक, और महापरिग्रही अर्थात् अत्यन्त ( असं-नोपो ) श्रासक्ति वाला ।
- (८) (गुरगुरे) कोमल आसन, राय्याएं, सवारियां (गाड़ी घोड़ा आदि), धन तथा भोगोपभोगों को च्राणभर भोग कर अन्त में, कष्टोपार्जित धन को, तथा अनन्त कर्ममल को इकट्ठा करके—
- (९) इस तरह पाप के बोम से दबा हुआ जीवात्मा केवल वर्ष-मान काल की ही चिन्ता में मम (भविष्य कैसा दु:खद होगा इसका विचार किये बिना) रहकर क्षिणिक सुख भोगता है किन्तु जैसे अतिथि के आने पर वह पुष्ट वकरा महादु:ख के साथ मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही वह पापी भी मृत्यु के समय अत्यंत पश्चात्ताप करता है।
  - टिप्पण्डि—प्रत्युत्पन्न परायण अर्थात् पीछे क्या होगा उसको नहीं विचा-रने वाला जीव। कार्य को प्रारंभ करते समय जो उसके परिणाम को नहीं विचारता है वह अन्त में खूब हो पछताता है किन्तु पिछला पश्चात्ताप विलक्तल व्यर्थ है।
  - (१०) ऐसे घोर हिंसक आयु के अंत मे इस शरीर को छोड़कर कर्म पाश में बंधकर आसुरी दशा को प्राप्त होते हैं अथवा नरकगित में जाते हैं।
  - टिप्पणी जैनधर्म में ऐसे घोर हिंसकों के लिये असुरगति किंवा नरकगति ये ही दो गतियां मानी हैं।
- (११) जैसे एक मनुष्य ने एक कानी कौड़ी के लिये लाखों सुवर्ण मुद्राएं (मोहरें) खर्च करदी अथवा एक रोगमुक्त राजाने अपध्य रूप केवल एक आम खाकर अपना सारा

राज्य गंत्रा दिया (वैसे ही जीवात्मा क्षिणिक सुख के लिये श्रमना तमाम भव विगाड़ लेता है)।

टिप्पण्डि—टक्त दोनों शाखोक्त दृष्टांत हैं। ताल्पर्य यह है कि अनुपर्म तथा अमृत्य आत्म मुख को छोड़कर जो कोई जड़ जन्य त्रिपय भोगों। की इच्छा करता है वह कानी कौड़ी के लिये लाखों मुवर्ण मोहरें गंवा देतां है। रोगमुक्त करने वाले वैद्य ने राजा को पथ्य पालन के लिये आम न खाने को कहा था किन्तु ज़रा से स्वाद के लोम सेटसने आम खालिया जिससे उसकी मृत्यु हुई। इसी तरह ये संसारी जीव क्षणिक मुख के लिये अपने अनन्त आन्मिक सुख का नाश करके संसार में अमण करते ही फिरते हैं।

### देवगति के सुखों की मनुष्य-गति के सुखों से तुलना

- (१२) (इस तरह से ) मनुष्य-गित के भोगोपभोग देवगित के भोगों के सामने विलकुल तुच्छ हैं। देवगित के भोग ( मनुष्य-गित के भोगों की श्रपेत्ता ) हजारों गुते श्रधिक श्रीर श्रायुपर्यंत दिव्य स्वरूप में रहने वाले होते हैं।
- (१३) उन देवों की श्रायु भी श्रमयीदित ( जिसे संख्या द्वारा गिना. न जासके ) काल की होती हैं। ऐसा जानते हुए भी सैं। से भी कम वर्षों की मनुष्य श्रायु में दुष्ट चुद्धि वाले पुरुष विषय मार्ग में चुरी तरह फँस जाते हैं।
- (१४) जैसे तीन व्यापारी मृही लेकर व्यापार करने (परदेश) गये ये किन्तु उनमें से एक को लाभ हुआ, दूसरा अपनी मृही ज्यों की त्यों लाया,
- (१५) श्रीर तीसरा श्रवनी गांठ की मूडी भी गुमाकर पीछे जीटा

٠, د

- था। यह तो एक न्यावहारिक उपमा है। परन्तु इसी प्रकार धर्मार्जन के विषय में भी जानना चाहिये।
- र्विटण्पणी—ये तीनी दृष्टांत शास्त्र में हैं। इस श्लोक में उनका निर्देश मात्र किया है।
- ५१६) जो साधक श्रपने में मनुष्यत्व प्रकटाता है वह श्रपनी मूडी को सुरचित रखता है (मनुष्य शरीर की प्राप्ति यह मूल मूडी ही है), जो देवगित पाता है वह नफा करने वाला ज्यापारी है किन्तु जो जीव नरक तथा तिर्यच गित में जाता है वह तो सचसुच श्रपनी मूड़ी को खोनेवाला ज्यापारी है।
  - दिप्पाणी—जो सत्कर्मों से 'देवगति प्राप्त करते हैं वे मनुष्य भव से कुछ विशेष पाते हैं और जो दुष्कर्म करते हैं वे अधोगति में जाते हैं।
  - (१७) जिन गितयों में महाक्वेश श्रीर वध भरे हुए हैं ऐसी दो गितयां (नरक गित श्रीर तिर्यंच गित ) बालक (मूढ़) जीवो को प्राप्त होती हैं। श्रासिक के वश में पड़ा हुश्रा वह शठ जीव देवत्व तथा मनुष्यता को हार बैठता है।
  - (१८) विषयो ने उसे एक बार जीता (वह विषयासक्त हुन्ना) कि इससे उसकी दो तरह से दुर्गित होती है जहां से वहुत लंबे समय के बाद भी निकलना उसके लिये दुर्लभ हो जाता है।
  - रिटप्पणी—विकास कठिन है परन्तु पतन तो सुलभ है। एक बार पतन हुआ फिर उच्च भूमिका को प्राप्त होना असंभव जैसा कटिन हो जाता है।
  - · (१९) इस प्रकार विचार करके तथा बाल (श्रज्ञानी) श्रौर

- पंडित की तुलना करके, जो अपनी मूल मृड़ी को भी कायम रखता है वह मनुष्य-योनि पाता है।
- (२०) ऐसी भिन्न भिन्न प्रकार की शिक्षात्रों द्वारा जो पुरुष गृहस्था-श्रम में रहकर भी सदाचारी रहता है वह श्रवश्यमेव सीम्य-मनुष्य योनि को प्राप्त होता है क्योंकि प्राणियों को कमें फल तो भोगना ही पड़ता है।
- (२१) जो महाज्ञानी हैं वे तो अपनी मृड़ी को भी लांघकर (मनु-ज्य धर्म से भी आगे वढ़कर ) शीलवान् तथा विशेष सदा-चारी वनकर देवत्व प्राप्त करते हैं।
- टिप्पर्गी—यदि मनुष्य, मनुष्य धर्म को पालन करता है तो यह तो उसका सामान्य वर्तव्य है; वहां तक तो उसने अपनी मृल मूढ़ी, ही कायम रक्की ऐसा समझना चाहिये किन्तु मनुष्य धर्म से भी आगे वढ़ जाय अर्थात् विश्वमार्ग में प्रवेश करे तभी कुछ उसने विशे-पता की ऐसा कहा जा सकता है।
- (२२) इस प्रकार भिक्ष अदीनता (दीनहीनता, वेजस्वता) और अनासक्ति को जानकर (विचार कर) क्यों नहीं इसे जीते (प्राप्त करे) और इन्हें प्राप्त करके क्यों नहीं शांति संवेदन (अनुभव) करें १ (अवश्य करें)
- /(२३) दाभड़े की नोक पर स्थित श्रत्यन्त क्षुद्र विंदु की महा-सागर के साथ कैसे तुलना की जाय ? उसी तरह देवों के भोगो के सामने मनुष्य भव के भोग श्रत्यन्त क्षुद्र हैं ऐसा समक्त लेना चाहिये।
  - (२४) यदि मनुष्यभव के भोग दाभ की नोक पर स्थित जलविंदु के समान हैं तो दिनप्रतिदिन होने वाली इस छोटी सी

श्रायु में कल्याण मार्ग को क्यों न जाना (साधा) जाय ?

- (२५) यहां भोगों से श्रनिवृत्त (कामासक्त ) हुए जीवका स्वार्थ (श्रात्मोत्रिति) हना जाता है श्रौर ऐसा पुरुष न्याय (मोत्त) मार्ग को सुन कर भी उस मार्ग से पतित हो जाता है।
- टिप्पगाी—कामासक्ति यह तमाम रोगों और आपत्तियों का मूल है। इससे हमेशा सावधान रहना चाहिये।
- (२६) "जो कामभोगों से निवृत्त रहता है उसकी श्रात्मोन्नित हनी नहीं जाती, किन्तु इस श्रपवित्र शरीर को छोड़ कर वह देव खरूप को प्राप्त करता है—ऐसा मैंने सुना है"।
- (२७) ऐसा जीव, जहां ऋद्धि, कीर्ति, कांति, विशाल श्रायु, तथा उत्तम सुख होते हैं ऐसे मनुष्यों के वातावरण में ( मनुष्य-योनि में ) जाकर पैदा होते हैं।

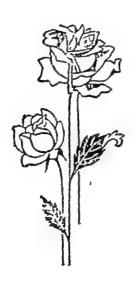
#### सब का सारांश यह है--

- (२८) वालक (मूर्ख) का वालत्व (मूर्खपन) देखो जो धर्म को छोड़कर अधर्म को अंगीकार कर (अर्थात् अधर्मी वनकर) नरक में उत्पन्न होता है।
  - (२९) श्रीर सत्य धर्म पर चलने वाले धीरपुरुष का धीरपन देखो जो धर्मिष्ठ होकर, श्रधर्म से दूर रह कर, देवत्व प्राप्त करता (देवगति में उत्पन्न होता) है।
- (३०) पंडित मुनि; इस प्रकार बाल तथा पंडित भावों की तुलना करे श्रौर बाल भाव को छोड़कर पंडित भाव का सेवन करे।

टिप्पणी—'वाढ' शब्द फेवल अज्ञानता या मूखंता सूचक ही नहीं है किन्तु इससे 'अनाचार' अर्थ का भी बोध होता है।

ऐसा में कहता हूँ-

इस प्रकार ऐलक संवन्धी सातवां अध्ययन समाप्त हुआ।



# कापिालेक

### कपिल मुनि सम्बन्धी अध्ययन

5

वृष्ट वेग वंध तथा मोत्त का कारण है। मन का दुए वेग वंध का कारण है और उसकी निर्मलता मुमुक्तुभाव का कारण है। देखो, चित्त की श्रनियन्त्रितता (उच्छुं खलता) कहां तक घसीट ले जाती है! और श्रतरात्मा की एक ही श्रावाज, उसकी तरफ लच्य देने से, किस तरह से इस श्रात्मा को श्रधःपतन से बचा लेती है! किपल मुनीश्वर, जो श्रन्त में श्रनन्त सुख पाकर मोत्त्रगामी हुए, उनके पूर्व जीवन में से उक्त दोनों वातों का स्तिमान बोधणाठ मिलता है।

कपिल का जन्म कौशाम्बी नगरी में उत्तम ब्राह्मण कुल में हुआ था। युवावस्था में अपनी माता की ब्राह्म से वे श्रावस्ती नगरी में जाकर एक दिग्गज पंडित के पास विद्याध्ययन में अवृत्त हुए थे। युवावस्था एक प्रकार का नशा है। इस नशे के भोके में पड़ कर बहुत से युवान मार्ग से पतित हो जाते है।

कपिज भी अपने मार्ग से च्युत हुए। विषयों की प्रवत

वासना ने उन पर अपना अधिकार जमाया। विपयों की आसित से उन्हें स्त्रीलंग करने की उत्कट इच्छा हुई। स्त्री संग की तीव्रतर लालसा ने उन्हें श्रंधा बना दिया और उन्हें पात्र कुपात्र तक का भान न रहा। इस कृत्रिम स्नेह के गर्भ में अन्तर्हित विपय की विपमयी वासना को पुष्ट करने वाली अपने जैसी कामुक एक स्त्री भी उन्हें मिल गई और वे दोनों, संसार विलासी लीवों को परम सुख लगने वाले ऐसे काम भोगों को भोगने लगे। वारंवार भोगने पर भी किपल को जिस रस की प्यास थी वह तो उन्हें नहीं मिला और वे अज्ञानता के वशीसृत होकर अधः पतन के गहरे गड्हें में नीचे नीचे गिरते चले गये।

एक दिन किपल लिंदमी तथा साधनों से हीन, श्रत्यन्त दीन होकर वेठे थे। उनकी स्त्री ने उन्हें राज दरवार में जाने की भेरणा की। उस राजा का यह नियम था कि जो कोई प्रातःकाल उसके द्रवार में श्राता उसको वह सुवर्शामुद्राश्रों का दान करता। उसकी ऐसी कीर्ति सुनकर राज द्रवार में जाने के लिये किपल रात्रि के श्रन्तिम पहर में निकले किन्तु दुर्माग्य उनके पीछे २ लगा था। ज्यांही वे नगर में छुसे कि सिपाहियों ने उन्हें चोर समक्त कर गिरफ्तार कर लिया। श्रन्त में उनकी सच्ची बात जानकर राजा ते उन्हें द्या करके छोड़ दिया श्रीर उन पर प्रसन्न होकर यथेच्छ वरदान मांगने को कहा।

कियार में पड़ गये। 'यह मांगूं वह मांगूं' उनकी लालसा इतने से भी तृप्त न हुई। अन्त में, तमाम राज्य मांगने का विचार किया और राज्य मांगने वाले ही थे कि यकायक अंतरात्मा का नाद सुनाई पड़ा है किपल ! राज्य पाकर भी तृप्ति कहां है?

कियल का हृद्य स्फिटिक के समान निर्मल था इसलिये तत्त्वण ही उनका विचार प्रवाह बदला धौर उसी समय उन्हें सत्य तत्व की कांखी हुई। उनने मन में कहा—'इन भोगों में कहीं भी तृष्ति नहीं है। लालसा के वशीस्त होकर केवल दो माशा (सुवर्णमुद्रा) सोना मांगने की इच्छा से ध्राया हुआ में तमाम राज्य की विस्ति मांगने को उद्यत हुआ; फिर भी उससे मेरी तृष्ति नहीं हुई! आशागर्त वहां भी कहां भरता है?

द्यन्त में, इन पूर्व योगीश्वर के पूर्व संस्कार जागृत हो गये। सच्चे खुख का मार्ग समक्त में द्याया धौर उसी समय उनने वाह्य समस्त परिग्रह का मोह त्रण भर में त्याग दिया। द्या उन्हें दो मारो सोने की भी जरूरत न रही। उनके इस विलक्षण वर्ताव ने राजा तथा समस्त द्रवारी लोगों को महाश्चर्य में डाल दिया श्चीर उनकी सुप्त श्चातमा को भी प्रवुद्ध (जागृत) कर दिया।

संतोप के समान कोई सुख नहीं है और तृष्णा ही समस्त दु:खों की जननी (माता) है तृष्णा के शांत पड़ने से किपल के अनेक आवरण नष्ट हो गये। उनका अंतःकरण प्रफुछित हो गया। उत्तरोत्तर उत्तम चिंतन के कारण आत्मध्यान करते करते उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई।

- (१) (एक जिज्ञासुने पूंछाः भगवन्!) श्रानित्य, चणभंगुर श्रीर दुःखों से भरे हुए इस संसार में ऐसा क्या काम कहूँ कि जिससे दुर्गति न पाऊँ ?
- (२) श्राचार्य ने कहा:—पहिले की श्रासिक्तयों को छोड़ कर, (नवीन) किसी भी वस्तु (स्थान) में रागबन्धन न बांधते हुए, विपयों से कम २ से विलकुल विरक्त होता जाय तो उस भिक्षु के सभी दोप श्रौर महादोप छूट जाते हैं।

- (३) (श्रौर) धनंत ज्ञान तथा दर्शन के घारक, सर्व जीवों के परम हितैपी, वीतमोह (बीतराग) मुनिवर महाबीर भी जीवों की मुक्ति के लिये ऐसा ही कहते हैं।
- (४) भिक्षु को सब प्रकार की गांठें ( श्रासक्तियाँ ) तथा कलह ( वैर-भाव ) छोड़ देने चाहिये। सब प्रकार के भोगोप-भोगों को देखते हुए भी उनसे सावधान रहने वाला साधु उनमें कभी लिप्त नहीं होता है।
- (५) किन्तु भोगोपभोग रूपी श्रामिप (भोग्य वस्तु ) के दोषों से कळुपित, हितकारी मार्ग तथा मुमुक्षु वुद्धि से विमुख, ऐसा वाल (मूर्ख) मंद श्रौर मूढ़ जीवात्मा, वल्गम में फंसी हुई मक्खी की तरह, (संसार में ) फंस जाता है।
- (६) अधीर ( श्रासक ) पुरुप तो सचमुच वड़ी ही कठिनता से इन भोगों को छोड़ पाते हैं, उनसे भोग सुखपूर्वक सरलता से नहीं छूटते। ( किन्तु ) जो सदाचारी साधु होते हैं वे इस श्रपार दुस्तर संसार सागर को तैर कर पार कर जाते हैं।
- (७) बहुत से दुष्टबुद्धि तथा अज्ञानी भिक्ष; ऐसा कहा करते हैं कि प्राणिवध हो इसमें क्या है ? ऐसा कहने वाले मृग (आसक्त) और मंदबुद्धि-धारी अज्ञानी, पापदृष्टि भिक्षु नरक गामी होते हैं।
- टिप्पर्णी—कोई दृसरा (गृहस्य आदि ) प्राणिवध करके आहार धनावे तो ऐसा आहार साधु के लिए अकल्प्य (अग्राह्म ) हैं।
- (८) 'प्राणिवध में ही क्या दोप है ?' किन्तु ऐसे कथन को जो जीव (करना तो दूर ही रहा) श्रनुमोदन भी देता

है वह घोर दु:खों के जाल से नहीं छूटेगा—ऐसे सचे घर्म को निरूपण करने वाले समस्त आचार्यों ने कहा है।

- टिप्पणी—किसी भा मत, वाद या दर्शन में अहिंसातस्व के बिना धर्म नहीं बताया है। जैनधर्म अहिंसा की सूक्ष्म से सूक्ष्म गंभीर समालो- चना करता है। वह कहता है कि 'तुम दूसरों को दुःख न दो इसी में अहिसा समाप्त नहीं होती किन्तु तुम्हारे हारा किसी भी हिंसा के कार्य को उत्तेजन न मिले इस बात का भी विवेक रक्खों। ९) जो दूसरों के प्राणों का अतिपात (धात) नहीं करता, तथा समिति धारण कर सव जीवों का रक्षण करता है
  - तथा समिति धारण कर सव जीवों का रक्षण करता है उसे 'श्रिहसक' कहते हैं, ऐसा श्रिहिंसक बनने से उनके पाप, जिस तरह (ऊंची) जमीन से पानी शीव वह जाता है वैसे ही निकल जाते हैं।
- टिप्पणी—जैनदर्शन में पांच समितियां मानी गई हैं। उन में आहार भाषा, शोधन, न्यवस्था तथा मितिष्टापन (कारणवंशात् भिक्षादि बचने से उसे कहां डालना?) विधि का समावेश होता है।
- (१०) जगत में व्याप्त त्रस (चलते फिरते) और स्थावर (वृत्त त्रादि स्थिर) जीवों पर मन, बचन और काय से दंड (प्रहार)न आरम्भे (करे)।
- (११) शुद्ध भिक्षा (का खरूप) जानकर भिक्षु उसी में अपनी आत्मा को स्थापे। संयम यात्रा के लिये ही प्रास (कौल) परिमाण से (मर्यादापूर्वक) भित्ता प्रहण करे और रस में आसक्त न वने।
- टिप्पणी—साधु संयम निभाने के उद्देश्य से ही भोजन करे, रसनेन्द्रिय की तृशि के लिये भोजन न करे।

- (१२) भिक्ष, गृहस्थों के वाकी वचे हुए ठंडे श्राहार श्रौर पुरानी उड़द के छिलकों, थूली, सक्तु, (पुलाक) या जी श्रादि की भूसी का भी श्राहार करते हैं।
- टिप्पणी—साधु का शरीर मान्न सयम के निमित्त है और शरीर की वनाये रखने के उद्देश्य से ही वह भोजन छेता है।

#### पतनकारी विद्याएं

- (१३) जो (साधु) लच्चणविद्या (शरीर के अमुक चिन्हों से किसी का मिवष्य जानने का शाख़), स्वप्तशाख और अंगविद्या (अंग उपांगों से प्रकृति जानने का शाख़) का उपयोग करते हैं वे साधु नहीं हैं—ऐसी आचायों की आजा है।
- (१४) (संयम प्रहण करने के वाद ) जो अपने आचरण को नियमपूर्वक न रख कर समाधियोग से भ्रष्ट होते हैं वे काम भोगों में आसक्त होकर (कुकर्म करके ) आसुरी गति में जन्म प्रहण करते हैं।
  - (१५) फिर वहां से भी फिरते फिरते, संसार चक्र में चक्कर लगाते रहते हैं श्रीर कर्म परंपरा में खूव लिपट जाने के कारण उनको सम्यक्त्व (सद्वोध) प्राप्त होना दुलर्भ होता है।

## इसलिये कल्याणकारी मार्ग वताते हैं

(१६) यदि कोई इस लोक को उसकी तमाम विम्तियों के साथ एक ही व्यक्ति को उसके उपभोग के लिये दे दे तो भी उसकी उपित नहीं होगी क्योंकि यह आत्मा (विहरातमा— कर्मपाश में जकड़ा हुआ जीव) दुष्पूर्य (वड़ी कठिनता

से संतुष्ट होनेवाला ) है। (सदा श्रसन्तुष्ट ही रहती है)।

(१७) ड्यों ड्यों लाभ होता जाता है त्यों त्यों लोभ वढ़ता जाता
है। लाभ श्रीर लोभ दोनों एक साथ बढ़ते हैं।
दो मासा (पहिले जमाने की एक सुद्रा का नाम है)
सांगने की इच्छा श्रन्त में तमाम राज्य से भी पूरी न हुई!

'टिप्पग्री-ज्यों ज्यों लाभ होता जाता है त्यों त्यों तृष्णा कैसे बढ़ती जाती है उसका आवेहुव चित्र ऊपर दिया है

(१८) जिसका अनेक पुरुषों में चित्त ( प्रेम ) है ऐसी पीनस्तनी ( ऊंचे स्तनवाली ) श्रौर राक्षसी समान स्त्रियों में अनुरक्त मत बनो क्योंकि ये कुलटाएं प्रथम प्रलोभन देकर पीछे चाकर जैसा अपमानित वर्ताव करती हैं।

दिप्पणी—वेश्या या नीचवृत्ति की स्त्रियों के विषय में उपरोक्त उपदेश है। जिस तरह पुरपों को स्त्रियों में आसक्त न होना चाहिये वैसे ही स्त्रियों को भी पुरुपों में आसक्त न होना चाहिए यह बात विवेकपूर्वक स्वीकार लेनी चाहिये। शिष्य को लक्ष्य करके कहा गया होने से इस कथन में स्त्री विषयक निर्देश हो यह स्वाभा-विक ही है। परन्तु सच बात तो यह है कि चाहे पुरुष हो अथवा स्त्री, विषय की अतिवासना सभी को अधोगति देने वाली है।

(१९) घर (गृहस्थाश्रम) का त्याग कर संयमी बना हुआ भिक्षु; स्त्रियों पर कभी भी आसक्त न हो। स्त्रीसंग (सहवास) को ह्यों कर उससे हमेशा दूर ही रहे। श्रीर श्रपने चारित्रधमें को सुन्दर जानकर उसी में श्रपने मन को स्थिर रक्ते।

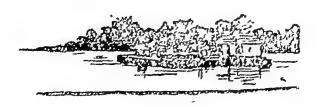
(२०) इस तरह विशुद्धमतिवाले किपल मुनि ने इस धर्म का

वर्णन किया है इसको जो कोई आचरण में लायेंगे वे (भवसागर) पार करेंगे और ऐसे ही नरपुंगवों ने डभय-लोक (इस लोक तथा परलोक) की सची सिद्धि की, (ऐसा सममो)।

टिप्पणी—राग और छोम के त्याग में मन स्थिर होता है। चित्त समाधि के विना योग की साधना नहीं होती। योग साधनार यह तो त्यागी का परम जीवन है। उसकी सिद्धि में कंचन और कामिनी के आसक्ति विषयक बंधन प्रति क्षण विष्ठरूप होते हैं। सुनि ने (बाह्यरूप से तो ) वे त्यागे ही हैं फिर भी (अनन्तकालीन स्वभाव के कारण) आसक्ति बनी रहतो है। उस आसक्ति से भी बूर रहने के लिये निरन्तर जागृत (सावधान) रहना यही संयमी के जीवन का एकतम अनिवार्य कार्य है।

ऐसा में कहता हूँ-

इस प्रकार कपिल मुनि संवंधी आठवां श्रथ्ययन समाप्त हुआ।



# नमि प्रव्रज्या

-

#### नमि राजिषं का त्याग

3

विद्ना से पीडित हो रहे थे। उस समय महा-रानियां तथा दासियां खूव चन्दन घिस रहीं थीं। हाथ में पहरी हुई चूडियों की परस्पर रगड़ से जो शब्द उत्पन्न होता था वह महाराज के कान पर टकरा कर महाराज की वेदना में चूडि करता था इससे महाराज ने प्रधान मन्त्री को बुला कर कहा "यह गड़बड़ सही नहीं जाती, इसे वन्द कराश्रो"। चन्दन घिसने वालियों ने हाथ में सौभाग्य चिन्ह स्वरूप केवल एक एक चूड़ी रख कर वाकी की सब उतार डालीं। चूडियों के उतरते ही शोर वन्द होगया।

थोड़ी देर वाद निमराज ने पूंजा, "क्या कार्य पूरा होगया"? मन्त्री-नहीं महाराज। निमराज-तो शोर कैसे वन्द हो गया ?

मन्त्री ने ऊपर की हकीकत कह सुनाई। उसी समय पूर्व योगी के हृदय में एक आकिस्मक भाव उठा। उसने सोचा कि जहां पर 'दो' है वहीं पर शोर होता है, जहां पर केवल पक होता है वहां गांति रहती है। इस यह चितन के परिगाम (निमित्त) से उन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और शांति की प्राप्ति के लिये वाह्य समस्त वन्धनों को छोड़ कर, एकाकी विचरने की उन्हें तीव इच्छा जागृत हुई। व्याधि शांत होते ही ये योगीराज सांप की कांचली की तरह राजपाट और राणियों के भोगविलासों को छोड़ कर त्यागी हो गये और तपश्चर्या के मांग के पिथक वने। उस अपूर्व त्यागी की कसौटी इन्द्र तक ने की। उन के प्रश्नोत्तर और त्याग के माहात्म्य से यह अव्ययन समृद्ध हुआ है।

- (१) देवलोक से च्युत होकर (श्राकर), निमराज मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए श्रौर मोहनीय कर्म से उपशान्त ऐसे निमराज को उपरोक्त निमित्त मिलने से श्रपने पूर्व जन्मों का स्मरण होता है।
- (२) श्रपते पूर्व जन्मों के स्मरण करने से उन भगवान निम-राजा को स्वयमेव वोध प्राप्त हुआ। वे श्रपते पुत्र को राज्य देकर श्रेष्टधर्म (योगमार्ग) में श्रभिनिष्क्रमण (प्रवेश) करते हैं।
- (३) उत्तम श्रन्तःपुर में रहते रहते उन निमराजा ने देवोपम (देवभोग्य) उँचे प्रकार के भोग भोग कर श्रव ज्ञानी (उनकी श्रसारता जानकर) वन कर सव को त्याग दिया।
- (४) (वे) वे छोटे छोटे नगरों तथा प्रान्तों से जुडी हुई मिथिला नगरी, महारिथयों से संयुक्त सेना, युवती रानियों तथा समस्त द्वासी दासों को छोड़ कर निकल गये और

- योगमार्ग में प्रवृत्त हुए। उन भगवान ने जाकर एकान्त में अपना श्रिधष्ठान जमाया (किया)।
- (५) जब निमराजा जैसे महान राजर्षि का अभिनिष्क्रमण् हुन्या श्रीर प्रव्रज्या (गृह त्याग की दीचा ) होने लगी तब तमाम मिथिला नगरी में हाहाकार फैल गया।
- टिप्पणी—उस समय मिथिला एक महान नगरी थी। उस नगरी के आधिपत्य में अनेक प्रान्त, बाहर, नगर और प्राम थे। ऐसे राजर्षि को ऐसे देवोपम भोगों को भोगते हुए एकदम त्याग भावना जागृत हुई इसमें उनका पूर्व जन्म का योगवल ही कारण है। ऐसे व्यक्ति का सदाचार, प्रनाप्रेम, न्याय आदि अपूर्व हों और इससे उसके विरह में उसके स्नेहीवर्ग को आवात लगे यह स्वाभाविक ही है।
- (६) उत्तम प्रव्रज्या स्थान में स्थित उन राजर्षि से ब्राह्मण्ह्रप में उपस्थित इन्द्र ने इस प्रकार प्रश्न किया।
- टिप्पग्री—निम राजर्षि की कसौटी करने के लिये इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धारण किया था। उन में जो प्रश्नोत्तर हुए उन≅ा इस प्रकरण में उल्लेख किया है।
- (७) हे त्रार्य ! त्राज मिथिला नगरी में कोलाहल से व्याप्त (हाहाकारमय) त्रौर चीत्कार शब्द घर घर में महल महल में क्यो सुनाई पड़ते हैं।
- (८) इसके बाद उस बात को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित निमराजिं ने देवेन्द्र को यों उत्तर दिया।
- (९) मिथिला में शीतल छायावाला, मनोहर पत्र पुष्पों से

सुशोभित तथा वहां के मनुष्यों को सदा वहुत लाभ पहुँचाने वाला ऐसा एक चैत्यवृत्त है।

- (१०) रे भाई ! यह मनोहर चैत्यवृत्त आन प्रचन्ड आंधी से गिर रहा है जिससे अशरण होने से दुःखी वने हुए तथा व्याधि से पीडित ये पद्मी आक्रन्द ( शोकाकुल कोलाहल ) कर रहे हैं।
- टिप्पणी—मिथिला के नगर निवासियों को पक्षियों की तथा निमराजः को चूल की उपमा दी गई है।
- (११) इस त्रर्थ को सुन कर हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र से निमराजिं को सम्बोधन कर यह प्रश्न पूंछा।
- (१२) हे भगवन ! यह श्राग्न श्रीर उसकी सहायता करनेवाला वायु इस मन्दिर को भस्म कर रहे हैं श्रीर उससे (तुम्हारा) श्रान्त:पुर भी जल रहा है। तो श्राप उधर क्यों नहीं देखते ?
- (१३) इस अर्थ को सुन कर हेतु कारण से प्रेरित निमराजर्षि के देवेन्द्र को ये वचन कहे :—
- (१४) जिसका वहां ( मिथिला में ) कुछ भी नहीं है ऐसे हम यहां सुख से रहते हैं श्रोर सुख पूर्वक जीते हैं, (इसलिये हे त्राह्मण ! ) मिथिला के जलते हुए भी हमारा कुछ भी नहीं 'जलता।
- (१५) क्योंकि स्त्री पुत्रादि परिवार से मुक्त हुए श्रौर सांसारिक व्यापार से पर (दूर) हुए भिन्नु के लिये न तो कोई वस्तु त्रिय होती है श्रौर न कोई श्राप्रिय।
- टिप्पणी जहां भासकि होती है वहीं, राग है और वहीं द्वेप है। 'नहां

द्वेष है वहां अप्रियता है। यदि राग की शांति हो जाय, तो हेष भी शांत हो जाय और जहां ये दोनों शांत हुए कि फिर दुःखमात्र न रहे क्योंकि दुःख का अनुभव रागहेष के कारण ही होता है।

- (१६) गृहस्थाश्रम से पर (दूर) हुए ऐसे त्यागी श्रीर सर्वे जंजाल से मुक्त होकर एकान्त (श्रात्म) भाव को ही श्रनुसरण करने वाले ऐसे भिन्नु को सचमुच सर्वेत्र श्रानन्द ही श्रानन्द है।
- ्रिष्पण्णि—सारा राग हृदय में है। हृदय शुद्धि होकर जहां सन्तीप हुआ कि सब जगह फिर कल्याण तथा मङ्गल के ही दर्शन होते हैं।
- (१७) इस श्रर्थ को सुनकर हेतु कारण से प्रेरित देवेन्द्र निम-राजिष को लक्ष्य कर इस तरह बोला।
- (१८) हे चत्रिय ! किला, गढ़ का दरवाजा, खाई श्रीर सैंकड़ों सुभटों को यम द्वार भेजने वाले ऐसे यंत्र (तीप बन्दूक श्रादि ) बना कर फिर दीचा प्रहण करो ।
- हिंदिप्राणी—अर्थात् तुम अपने क्षत्रिय धर्म को प्रथम संभाल करके पीछे स्थागी के धर्म को स्वीकारो । जो पहिले धर्म को ही मूल जाओगे तो आगे कैसे बढ़ोगे ।
- -(१९) उसके बाद इस श्रर्थ को सुन कर हैतु तथा, कारण से प्रेरित निमराजिं ने देवेन्द्र को इस प्रकार उत्तर दिया।
- 4२०—२१) श्रद्धा (सत्य पर श्रविचल विश्वास) रूपी नगर संवर (संयम) रूपी किजा, जमा रूपी सुन्दर गढ़, तीन गुप्ति (मन वचन श्रीर काय का सुनियमन ) रूपी दुःप्र- धर्ष (दुर्जय शतव्नी शस्त्र विशेष), पुरुषार्थ रूपी धनुष ईर्या (विवेक पूर्वक गमन) रूपी प्रत्यंचा (धनुष की

- होरी ) श्रौर धीरज रूपी तूणी वना कर सत्य के साथ परिमन्थन ( सत्यचिन्तन ) करना चाहिये।
- (२२) क्योंकि तपश्चर्या रूपी वाणों से सज्जित मुनि कर्मरूपी वस्तर को चीर कर संप्राम में विजयी होता है श्रीर संसार से मुक्त होता है।
- टिप्पणी—वाह्य युद्धों की विजय तो क्षणिक होती है और अन्त में परिताप (खेद) ही पेदा करती है। शतु का स्वयं शतु वन कर और
  दूसरे अनेकों को शतु वना कर यह शतुता की परंपरा खड़ी कर
  लेता है। इससे ऐसे युद्धों की परंपरा जन्म जन्म तक चालू रहती हैं
  और इसके कारण युद्ध से विराम कभी नहीं मिलता। इसी भावना
  के कारण अनेक जन्म लेने पढ़ते हैं। इसलिये बाहर के शतुओं को
  उत्पन्न करने वाले उस अन्तरंग शत्रु को, जो अपने हृदय में धुसा
  वैठा है, उसका नाश करने का प्रयास करना मुमुल का कर्तव्य हैं।

उस संवाम में किस २ तरह के शस्त्रों की जरूरत पड़ती है उसको गहरी शोध करके उपरोक्त साधन भगवान निम ने कहे हैं। उस योगी के अनुभव की अपने जीवन संवाम में प्रतिक्षण आवश्य-कता होती है।

इस उत्तर को सुन कर इन्द्र भारवर्ष के साथ थोदी देर

- (२३) इस तत्व को सुन कर तथा हेतु, श्रौर कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने निमराजिं से इस प्रकार प्रश्न किया:—
- (२४) हे चत्रिय ! सुन्दर मनोहारी भवन, छज्जे वाले घर तथा वालाप्रपोतिका (क्रीड़ास्थान) करा कर वाद में दीचा प्रहण करो।

- (२५) इस ऋर्थ को सुन कर हेतु, तथा कारण से प्रेरित निमरा-जर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया।
- (२६) यदि कोई चलते चलते मार्ग में घर बनाता है तो यह सचमुच बड़ी ही संदेह-युक्त बात है। जहां जाने की इच्छा हो वहां (निर्दिष्ट स्थान में) पहुंच कर ही शाश्वत (स्थायी) घर बनाना चाहिये।
- टिप्पणी—इस क्लोक का अर्थ बहुत गहरा है। शाश्वत स्थान अर्थात् मुक्ति। मुमुक्षु का उद्देश्य जो केवल मुक्ति है वह उसे प्राप्त किये विना मार्ग में अर्थात् इस संसार में घरवार के बन्धन में क्यों पढ़ेगा?
- (२७) इस श्रर्थ को सुन कर हेतु तथा कारणों से प्रेरित देवेन्द्र ने निमराजर्षि से पुनः यह प्रश्न कियाः—
- (२८) हे त्तत्रिय! लोमहर, गॅठकट, तस्कर, श्रौर डाकुश्रों का निवारण करके तथा, नगर कल्याण करके बाद में दीचा प्रहण करो।
- टिप्पणी-लोमहर आदि चोरों के भिन्न २ प्रकार हैं।
- (२९) इस अर्थ को सुनकर हेतु तथा कारण से प्रेरित निमरा-जर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया।
- (३०) कई बार मनुष्य निरर्थक दंड (हिंसा) की योजना करते हैं। ऐसे स्थान में निर्दोष भी अपनी किसी भी भूल के बिना ही बन्ध जाते हैं, और असली गुन्हेगार (कईबार) छूट जाते हैं।
  - टिप्पंगी—विशेष रीति से, दुष्ट मन या दुष्ट वासना ही दोप कराती है, परन्तु उसको कोई दन्द नहीं देता । उनके पाप का परिणाम इन्द्रियों

तथा शरीर को भोगना पढ़ता है। यह निरर्थक दुन्द है। दुष्ट वास-नाओं को दन्दित करना यहां सचा दंड है और सुमुख़ को उन्हीं को दन्दित करने का प्रयास करना चाहिये।

- (३१) इस श्रर्थ को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने निमरानिंप से पुनः प्रश्न कियाः—
- (३२) हे चत्रिय ! हे नराधिप ! जिन राजाओं ने तुम्हें नमस्कार (तुम्हारी आधीनता स्त्रीकार) नहीं किया उनको वश करके फिर जाओ ।
- (३३) इस श्रर्थ को सुनकर हेतु तथा कारण से प्रेरित निमरा-जर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—
- -(३४) दुर्जय युद्ध में दसलाख सुभटों को जीवने की अपेचा एक मात्र आत्मा को जीवना यह विशेष उत्तम है और यही सच्ची जीव है।
- टिप्पणी—बाह्य युद्धों में अबेलं ही लाखों वीरों को मारने बाले विजयी को जैनधर्म बीर नहीं मानता क्योंकि यह सच्ची जीत नहीं है किन्तु तालिक दृष्टि से तो बह हार है। जो अपनी आतमा को जीवता है . वहीं सचा वीर है और वहीं सच्ची विजय है।
- (३५) श्रात्मा के साथ ही युद्ध करो। वाहर के युद्धों से कुछ हाथ नहीं लगेगा। शुद्ध श्रात्मा द्वारा श्रशुद्ध श्रात्मा को जीत कर सच्चा युद्ध श्राप्त किया जा सकता है।
- बिष्यण्यि—इस छोटे से इलोक में बढ़ी ही गम्भीर बात कही गई है। इस पर ख़्व विचार करना चाहिये।
- (३६) पांच इन्द्रियां, क्रोघ, मान, माया, लोभ तथा दुर्जय श्रातमा , , को जीवना यही उत्तम है क्योंकि श्रातमा के जीवने पर

- फिर कुछ जीतना बाकी नहीं.रहता । जिसने श्रात्मा जीत-ली उसने सब कुछ जीत लिया ।
- (३७) इस श्रर्थ को सुन कर हेतु, तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने निमराजर्षि से पुनः यों कहाः—
- (३८) हे च्रत्रिय ! बड़े २ यज्ञ करके, तापसों, श्रमणों श्रौर हाह्मणों को जिमा (भोजन करा) कर, दान करके, भोग करके तथा भजन (पूजा श्रची) करके फिर जाश्रो।
- टिप्प्रााि उस काल में क्षत्रिय राजाओं को बहे २ यज्ञ करने की झाहाण प्रेरणा किया करते थे और उनको जिमाने में ही धर्म बताया करते थे। गृहस्थाश्रम के सामान्य धर्म की अपेक्षा यह धर्म विद्याष्ट माना जाता था। इसिल्ये क्षत्रिय कर्म बता कर यहां उसके लिये धर्म दिशा का सूचन किया है।
  - (३९) इस अर्थ को सुन कर, हेतु तथा कारण से शेरित निमरा-जिं ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—
- (४०) जो प्रतिमास १०-१० लाखगायों का दान करता है उसकी श्रपेचा कुछ भी न देने वाले संयमी का श्रात्म संयम श्रव-श्यमेव बहुत उत्तम है।
- िटप्याी —अपरिग्रह वृत्ति यही उत्तम धर्म है। एक संयमी मनुष्य अन्यक्त रीति से सेकड़ों का पोषण कर सकता है। असंयमी होकर दान करने की अपेक्षा संयम पालना बहुत उत्तम है। इस क्लोक पर गहरा विचार करने से अपनी जीवन दशा की विटम्बना मिट कर उज्जल मार्ग मिल जाता है।
  - (४१) इस श्रर्थ को सुन कर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने निमराजिं से पुनः यों कहा :—

- (४२) (गृहस्याश्रम कठिन है, इसीलिये) इस कठिन श्राश्रम को छोड़ कर तू दूसरे श्राश्रम (सन्यस्थाश्रम) की इच्छा करता साल्यम होता है। हे मनुष्यों के पालक महाराज ! यहां ही (गृहस्थावस्था में ही) पीपघ के श्रनुरागी वनो ।
- टिप्पग्राि—गृहस्थावस्था में भी धर्म नियमों का पालन कहां नहीं होता ? इसलिये गृहस्थाश्रम में रह कर पौपध (उपवास करके केवल आत्म-वितन में रात्रिदिवस व्यतीत करना) क्रिया में दत्तचित्त बनो । सन्यस्थाश्रम ग्रहण करने की क्या जरूरत है ?
- (४३) इस अर्थ को सुन कर, हेतु तथा कारण से प्रेरित निमरा-जिं ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—
- (४४) वाल (मृर्ष) जन यदि एक एक महीने में केवल कुश के श्रम भाग (श्रत्यंत थोड़ा) जितना भोजन प्रहण करे तो उनका यह छप तप (त्याग) सच्चे धर्मी के त्याग का १६ वां भाग के वरावर भी नहीं है (कुछ भी नहीं है)।
- टिप्पण्णि—जिसमें त्यागाश्रम की योग्यता न हो उसी को गृहस्थाश्रम . धर्म ग्रहण करने की आज्ञा है। परन्तु सच्चे त्याग के आगे ं गृहस्थाश्रम का त्याग अत्यन्त न्यून (नहीं के बरावर) है। इस वात की सत्यता को हम अपने अनुभव से भी देखते हैं।
- (४५) इस तत्व को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने निमराजिं को पुनः यों कहा:—
- (४६) हे चत्रिय ! सोना, चांदी, मिण, मुक्ता, कांसा, वस्न, सवारियाँ, भंडार श्रादि वढ़ाकर फिर जाश्रो ।
- (४७) इस श्रर्थ को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित निमः राजिं ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—

- (४८) कैलास पर्वत के समान ( अति ऊंचे ) सोने चाँदी के असंख्य पर्वत कदाचित किसी को दिये जांय तो भी एक लोभी के लिये पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि सचमुच इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। आशा ( तृण्णा ) का अंत कभी नहीं हुआ। एक इच्छा पूरी होते ही उससे भी बड़ी दूसरी इच्छा जागृत होती है।
- टिप्पणी—तृष्णा का गहा ही ऐसा विचित्र है कि उसमें ज्यों ज्यों दें डालते जाओ त्यों २ वह और भी गहरा होता जाता है। तृष्णा जगी कि अपने सभी साधन, विभूति आदि अपूर्ण जैसे दिखाई देने लगते हैं संतोष होते ही दुःख का पहाड़ नष्ट हो जाता है और अपने अपूर्ण साधन भी आवश्यकता से अधिक जान पड़ते हैं।
- (४९) समस्त पृथ्वी, शाली के चावल, जौ (पृथ्वी पर होने वाले सभी धान्य,) पशु, श्रौर सोना ये सब एक (श्रसन्तुष्ट मनुष्य) के लिये भी पर्याप्त नहीं है ऐसा जानकर तपश्चर्या करना यही उत्तम है।
- टिप्पशी—तपश्चर्या अर्थात् आशा (तृष्णा) का विरोध। जिसने आशा को जीता उसने संसार जीत लिया। सारा संसार ही आशाधारी है। सभी को तृष्णा लगी हुई है। आशामय प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम यह संसार है और आशारहित प्रवृत्ति उसी का नाम निवृत्ति है।
- (५०) इस श्रर्थ को सुनकर, हेतु तथा कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने निमराजिष को यों कहा:—
- (५१) हे पृथ्वीपति ! तू श्रद्भुत जैसे प्राप्त भोगों को छोड़ता है श्रीर श्रप्राप्त भोगों की इच्छा करता है। सचमुच तू कल्पनामय सुखों में भूल रहा है।

- (५२) इस बात को सुन कर, हेतु तथा कारण से प्रेरित निर्म-राजर्षि ने देवेन्द्र को यह उत्तर दिया:—
- (५३) कामभोग शल्य फॉंंसें हैं जो वारीक होने पर भी बहुत कप्ट देती हैं। कामभोग विप हैं। कामभोग काले सर्प के समान हैं। काम (भोगोपभोग) की प्रार्थना करते २ यह विचारा जीवात्मा उनको तो नहीं पाता है किन्तु दुर्गति-गामी जरूर हो जाता है।

टिप्पणि—संसार भर में कामभोगों में आसक्त ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है कि निसकी आशा मृत्यु समय भी—भोगों से दूर होते होते भी—पूर्ण होसकी हो। आशा या वासना ही जन्म का कारण है।

## चार कपायों के फल

- (५४) क्रोध से श्रधोगित में जाना पड़ता है। मान करने से श्रधमगित प्राप्त होती है। माया करने से सद्गित प्राप्त नहीं होती, किन्तु लोभ से तो इस लोक श्रौर परलोक—दोनों- का भय है। (दोनों ही नष्ट होते हैं)
- दिएपग्गि—शास्त्रकारों ने चारों कपायों के फल बहुत ही दुःखकर बताये हैं, परन्तु उन सब में भी लोम तो सबसे अधिक हानिकर्ता कहा है। लोमी का वर्तमान जीवन भी अपकीर्तिमय होता है और पाप का दुर्घर बोझ बदने से उसका परलोक भी बिगड़ता है। इसी लिये लोम को 'पाप का वाप' कहा है।
- ((५५) उसी समय ब्राह्मण का रूप छोड़ कर ब्रोर इन्द्र का रूप धारण कर मधुर वाणी से निमराजिंप की स्तुति करता हुआ देवेन्द्र इस तरह बोला:—

- (५६) श्रहो! श्रापने कोध जीत लिया है, श्रिममान को श्रापने दूर किया है, माया जाल को तोड़ डाला है श्रौर लोभ को वश किया है।
- (५७) धन्य साधु महाराज! क्या ही अनुपम आपका सरलता भाव है। आपकी कोमलता कैसी अनोखी है! क्या ही अनुपम आपकी सहनशीलता है। क्या हो उत्तम आपका तप है। क्या ही अद्भुत आपकी निरासक्ति है।
- (५८) हे भगवन ! यहां (इस लोक में) भी श्राप उत्तम हैं श्रीर पीछे भी (परलोक में भी) श्राप उत्तम ही होंगे। तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट स्थान ऐसी मोक्ष को श्राप निष्कर्मी (कर्म रहित) होकर श्रवश्य पायेंगे।
- (५९) इन्द्र इस प्रकार उत्तम श्रद्धाभक्ति पूर्वक निमराजिष की रतुति कर बार २ प्रदक्षिणा देने लगा श्रीर सुक २ कर वंदन करने लगा।
- (६०) इसके वाद चक्र तथा श्रंकुश इत्यादि लक्ष्णों से श्रंकित ज्ञ उन मुनीश्वर के चरणों को पूजकर ललित तथा चपल कुएडलों को धारण करने वाले इन्द्रराज श्राकाश में श्रंत-धान हो गये।
- (६१) विदेह ( मिथिला ) का राजा निममुनि, जो घरबार छोड़-कर श्रमण-भाव मे बराबर स्थिर रहा वह साक्षात इन्द्र द्वारा प्रेरित होकर श्रपनी श्रात्मा को श्रीर भी विशेष नम्र बनाता हुश्रा।
- (६२) इस तरह विशेष सुझ श्रीर बुद्धिमान साथक निमराजि की तरह स्वयं वोध पाकर भोगों से निवृत्त हो जाते हैं।

टिप्पर्गा—भोगों का त्याग ही सच्चा त्याग है; आसक्ति का त्याग ही त्याग है; कपायों का त्याग ही त्याग है और सच्चे त्याग विना सच्चा आनन्द कहां?

'ऐसा में कहता हूँ'—

इस तरह 'निमत्रज्ञच्या' नामक नवमां प्रकरण समाप्त हुन्त्रां।



# द्रुम पत्रक

ナンシックイナ

#### द्यत का पत्ता

१०

उसी तरह यह शरीर भी जीर्ण होकर खिर जाता है। अनंत संसार में श्रमपूर्वक उन्नति करते २ यह मानव देह मिजती है। उसको प्राप्त करने के बाद भी सुन्दर साधन, (श्रंगों की पूर्णता) आर्थभूमि, और सच्चा धर्म ये सब संयोग बड़ी ही कठिनता से मिलते हैं। भोग भोगने की अतृप्त वृत्ति तो प्रत्येक जन्म में प्राप्त शरीरद्वारा सब को रहा ही करती है। इसिलये इस होटी सी आयु में, थोड़े से ही प्रयत्न करने से साध्य होने वाले सद्धर्म को क्यों न आराधें?

प्रमाद यह रोग है। प्रमाद ही दुःख है। प्रमाद को छोड़कर पुरुषार्थ करना यही अमृत है, जिसको पीकर फिर मृत्यु नहीं भ्राती। जन्ममरण की परंपरा का वहीं श्रन्त श्राता है भ्रोर तभी सच्चा सुख मिलता है।

गौतम को लच्य करके भगवान वोले— (१) पीला जीर्ण (पका) पत्ता जिस तरह रात्रिसमृहों, के व्य-

- तीत होने ( श्रवधि पूरी हो जाने ) पर मड़ जाता है उसी तरह मनुष्यों का जीवन भी श्रायु के पूर्ण होते ही खिर जाता है। इसलिये है गौतम! समय मात्रका भो प्रमादन कर
- (२) कुरा के श्रय भाग ( नोंक ) पर स्थित श्रोस की बूंद जैसे श्रणस्थायों है वैसे ही मनुष्यों के जीवन को ( श्रणभंगुर ) समक कर, हे गौतम ! एक समय का भी प्रमाद न कर।
- टिप्पणी—संसार की असंदिता दिखाकर अप्रमत्त होने पर ज़ौर दिया है।
- (३) (फिर) श्रनेक विझों से भरपूर श्रौर क्षण क्षण घटती हुई (नाशवंत) श्रायु वाले इस जीवन में पूर्व-संचित कर्मी को जल्दी से दूर कर। हे गौतम! इसमें एक समय का भी प्रमाद न कर।
- (४) यह मनुष्यमव अत्यन्त दुष्प्राप्य है तथा यह नीवों को बढ़े • ही लंबे काल के बाद कभी मिलता है, क्योंकि कमों के फल गाड़ (धोर) होते हैं। इसलिये हे गौतम! एक समय का भी प्रमाद न कर।

टिप्पण्या—गाढ़ अर्थात को मोरो विना न हुटे ऐमे घट होते हैं।

मनुष्य जीवन के पहिले का क्रमविकास तथा वहां का कालप्रमाण.

(५) पृथ्वीकाय (भूमि रूप) के जीव की उत्कृष्ट स्थिति (पुन: पुन: पृथ्वीकाय में जन्म स्थिति प्रमाण) असंख्यात वर्षों की है। इस लिये हे गौतम! एक समय का भी प्रमाद न कर।

- टिप्पणी—यदि इस विकास भूमि रूपी मनुष्य देह को पाकर भी अपना कर्तव्य न किया तो जीव को अधोगित में जाना पदेगा जहां उसे असंख्यात काल तक अन्यक्त स्थिति में ही रहना पदेगा।
- (६) यदि कदाचित् जलकाय (जलयोनि) में जाय तो वहां 'पर भी उसी योनि में पुनः पुनः जन्म लेकर रहने की उत्कृष्ट अविध असंख्यात काल की है, इसलिये हे गौतम ! एक समय का भी अमाद न कर ।
- टिप्पणी—प्रमाद अर्थात् आत्मस्वलना और आत्मस्वलना को ही पतन कहते हैं। हम सब की प्रत्येक इच्छा विकास (उन्नति) के लिये ही होती हैं। आत्म विकास के लिये ही हम मनुष्य देह पाकर गौरव ले रहे हैं अपना सारा प्रयत्न इस विकास के लिये ही है। इसलिए आत्मविकास में जागृत (सावधान) रहना यही अवना कर्तव्य होना चाहिये और इसी का नाम अप्रमचता है।

जैनधर्म में आत्मस्वलन के ५ प्रकार बताए हैं:—(१)
मद (साधनों के मिलने का घमंड); (२) विषय (इन्द्रियों के
भोगोपभोगों में आसक्त होना); (३) क्रोध, कपट और रागहेंप
करना; (४) निंदा; और (५) विकथा (आत्मोपयोग रहित
विषयों को बढ़ाने वाला कथा प्रलाप) ये पाँचों ही प्रमाद विष
समान हैं और आत्मा को अधोगित में ले जाने वाले ठग हैं।
इसलिये पांचों विषों से अलग रहकर पुरुपार्थ करना यही अप्रमत्तता
है और यही अमृत है।

- (७) यदि यह जीव श्रिमकाय में जाय तो वहाँ भी उत्कृष्ट श्रायुष्य श्रसंख्यात काल तक भोगता है। इसलिये हे गौतम! समय मात्र का भो प्रमाद न कर।
- (८) वायुकाय में उरपन्न हुन्ना जीव श्रसंख्यात काल तक की

उत्कृष्ट श्रायु भोगता है श्रीर दुःख से श्रंत श्रावे ऐसी रीति से भोगता है। इसलिय हे गीतम! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

- (९) वनस्पित काय में गया हुआ जीव श्रनन्तकाल तक दुःख-पूर्ण श्रायु भोगता रहता है जिसका श्रन्त वड़ी कठिनता से होता है। इसिलये हे गौतम! एक समय का भो प्रमाद न कर।
- टिप्पण्नि—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव होता है। अब तो आधुनिक विज्ञान से भी उक्त सत्य की सिद्धि हो गई है। इस स्थिति में जो चेतन रहता है उसमें स्थूल मानस (विचार शक्ति) अथवा बुद्धिविकास नहीं होता है और उस स्थिति में रह कर जो विकास होता है वह अन्यक्त होता है। यह सब बताकर शास्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि यह मनुष्य देह ही पुरुपार्थ का परम स्थान है। इसलिये बदि यहां भी प्रमाद किया तो यह पूरी न जा सके ऐसी गंभीर भूल होगी।
  - (१०) द्वीन्द्रिय (स्पर्श तथा रसना वाला) जीव की उत्कृष्ट आयु संख्यातकाल प्रमाण तक की है। इसलिय हे गौतम! एक समय का भी प्रमाद न कर।
  - टिप्पणि—काल का भिन्न २ प्रमाण भिन्न २ ठाणांगादि शास्त्रों में विणित है। गणितशास्त्र के अनुसार परार्ध (शंख) तक की संख्या संख्यात काल प्रमाण है; किन्तु जैनशास्त्र तो उससे भी आगे इकाई, दहाई, सैकड़ा से छेकर उत्तरोत्तर २८ अंकों तक की संख्या का संख्यात काल मानता है। असंख्यात काल का अर्थ यह नहीं है कि जो गिना न जाय, विक असंख्यात के लिये भी एक असुक संख्या है, यद्यपि यह गिनती के अंकों द्वारा वताई नहीं जा सकती।

- इन दोनों संख्याओं से आगे की संख्या, जिसका मनुष्य बुद्धि कुठ निर्णय नहीं कर सकती, उसको अनंत कहा है।
- (११) त्रीन्द्रिय (स्पर्श, रसना त्र्यौर नाक वाले) जीव की योनि में गई हुई त्रात्मा इसी योनि में लगातार पुनः २ जन्म धारण कर त्राधिक से त्राधिक संख्यात काल प्रमाण तक रह सकता है। इसलिये हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर!
- (१२) चतुरिन्द्रिय (स्पर्श, रसना, नाक, श्रौर श्राँख वाले) जीव की योनि में गई हुई श्रात्मा इसी योनि में पुनः २ लगातार जन्म धारण कर श्रधिक से श्रधिक संख्यात काल प्रमाण तक रह सकती है। इसलिये हे गौतम! एक समय का भी प्रमाद न कर।
- (१३) पंचिन्द्रिय (स्पर्श, रसना, नाक, श्रांख श्रीर कान वाले) जीव की योनि में गई हुई श्रात्मा उसी योनि में श्रिधिक से श्रिधिक लगातार सात-श्राठ जन्म तक धारण कर सकती है। इसलिये हे गौतम! एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- (१४) देव या नरक गित में गया हुआ जीव उसी गित में लगा-तार रूप से एक ही बार और जन्म प्रहण कर सकता है। इसलिये हे गौतम! एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- दिएपग्री—देव और नरक इन दोनों जन्मों को औपपातिक जन्म कहते हैं क्योंकि जीव वहां स्वयं (माता के पेट के बिना) उत्पंत्र होते हैं। उनके शरीर भी दूसरी तरह के होते हैं। इसी-कारण पशु

या मनुष्य के शरीर की तरह आयु की समाप्ति के पहिले उसका शस्त्रों हारा नाश नहीं होता। देव या नरक गति का जीव दूसरी गित में जन्म प्रहण करने के याद ही फिर नरक या देव गित में जा सकता है। इस प्रकार की कर्मानुसार वहां की स्थान घटना का शास्त्रकारों ने वर्णन किया है।

- (१५) शुभ ( घ्यच्छे ) छौर छशुभ ( खराव ) कर्मों के कारण वहु प्रमादी जीव ऊपर के क्रमानुसार जन्म-मरण रूपी संसार चक्र में घूमा करता है। इसिलिये हे गौतम ! तू, एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- टिप्पगी—यहां तक अधोगित में से ऊर्ध्वगित और अविकसित जीवन से विकसित जीवन तक का संपूर्ण क्रम वताया है। इस क्रम में, सामान्यरूप से शास्त्रोक्त सभी उत्क्रमण भूमिकाओं (श्रेणियों), का समावेश हो गया है।
- (१६) मनुष्यभव पाकर भी वहुत से जीव चोर श्रथवा म्लेच्छ्र भूमियों में जन्म लेते हैं। इससे श्रायभाव (श्रायभूमि का वातावरण) का मिलना भी श्रत्यन्त दुर्लभ है इसा लिये हे गौतम! तू समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- टिप्पर्गा—आर्यधर्म का अर्थ सचा धर्म है कि जिसमें अहिंसा, सत्य, अचीर्य, ब्रह्मचर्य और त्याग इन पांच अंगों का समावेश होता है। मनुष्य शरीर पाकर भी बहुत से जीव 'मनुष्य रूपेण मृगादचरित' (मनुष्य रूप में भी पशु या पिशाच) जैसे होते हैं।
  - (१७) श्रार्थ देह (श्रच्छा कुलीन जन्म) पाकर भी श्रखंड पंचेन्द्रियों (शरीर की पूर्णता) को पाना श्रीर भी कठिन है क्योंकि प्रायः बहुत जगह श्रपूर्णींग वाले मनुष्य दिखाई

देते हैं। इसिलिये हे गौतम ! एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर ।

टिप्पणी—इंद्रियां और शरीर ये सब तो साधन हैं। यदि साधन संपूर्ण एवं सुन्दर न होंगे तो पुरुपार्थ में भी अन्तर पड़ता है।

- (१८) जीव पंचेन्द्रियों की संपूर्णता (संपूर्ण शरीरांग) भी पा सकता है किन्तु उसकी असली सच्चे धर्म का अवण मिलना अति दुर्लभ है क्योंकि संसार में कुतीर्थ (कुधर्म) की सेवा करनेवाले वहुत ही अधिक परिमाण में दिखाई देते हैं। इसलिये (क्योंकि तुमे तो उच्च साधन—संपूर्ण अविकल शरीरांग मिले हैं।) हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।
  - (१९) उत्तम अवण (सत्संग अथवा सद्धमें) भी मिल जाना संभव है किन्तु सत्य पर यथार्थ अद्धा होना वहुत ही कठिन है क्योंकि अविद्या सेवी (अज्ञानी) संसार में बहुत ही अधिक परिमाण में दिखाई देते हैं। इसलिये हे गौतम! तू एक समय का भो प्रमाद न कर।
  - (२०) यदि कदाचित् सद्धर्म पर विश्वास हो भी जाय फिर भी उसे श्राचरण द्वारा धारण करना श्रत्यन्त ही कठिन है क्योंकि काम भोगों में श्रासक्त जीव इस संसार में बहुत श्रिधक दिखाई देते हैं इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।

भोगी मनुष्य की भविष्य में कैसी दशा होती है ? (२१) तेरा शरीर जर्जरित होने लगा है। तेरे वाल पक गये हैं। तेरे कानों की (सुनने की) शक्ति चीया होती जा

- रही है इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।
- (२२) तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे वाल सफेद होते जाते हैं। तेरी आँखो की ज्योति मंद पड़ती जाती है, इसलिये हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- (२३) तेरा शरीर जीर्ग होता जाता है। तेरे वाल सफेंद होते जाते हैं। तेरी नासिका (की सृंघने) की शक्ति मंद पड़ती जाती है इसलिये हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद न कर।
- (२४) तेरा शरीर जीर्ए होता जा रहा है। तेरे वाल सफेर होते जाते हैं। तेरी जीभ (की चखने) की शक्ति मंद पढ़ती जाती है, इसलिये हे गौतम! तू एक समया का भी प्रमाद न कर।
- (२५) तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे वाल पकते जा रहे हैं। तेरी स्पर्शेन्ट्रिय (की स्पर्श करने) की शक्ति प्रति-चरण चीरण होती जाती है; इसलिये हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- (२६) तेरा शरीर नीर्ण होता ना रहा है। तेरे वाल पकते जा रहे हैं। तेरा सब वल चीएा होता ना रहा है; इसलिये हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- टिप्पगी—उपरोक्त उपदेश मगवान महावार ने गौतम को छक्ष्य करके हम सब को दिया है। इसछिये इसको अपने जीवन में उतारनह (चरितार्थं करना ) यही हमारा कर्तथ्य होना चाहिये। हम में

से कोई तरुण, कोई युवान, कोई घुद्ध भी हुए होंगे। कोई कोई उपरोक्त दशा का अनुभव भी करते होंगे और कोई पीछे अनुभव करेंगे परन्तु कभी न कभी सबकी यही दशा आगे पीछेहोगी अवश्य। उपरोक्त गाथाओं में यद्यपि वर्तमान काल की कियाओं का प्रयोग किया है किर भी ये दशाएं भून, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों कालों में समान रूप से लागू होती हैं।

# युवानों को भी किस बात का भय रहता है ?

- (२७) जिनके शरीर जीर्ग नहीं है ( श्रधीत जो युवान हैं ) उन को भी पदार्थों के प्रति श्ररुचि का, फोड़ा फुन्सी के दर्दों का, विश्चिका ( कोलेरा ) श्रादि भिन्न २ रोगों का, सदा डर बना रहता है श्रीर श्राशंका लगी रहती है कि कहीं वे वीमार न पड़ जांय, जिससे उनका शरीर कष्ट पाये श्रथवा मृत्यु पावे। इसलिये हे गौत्म! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- टिप्पशाि—सारा शरीर ही रोगों का घर है। ज्यों २ निमित्त मिलते जाते हैं त्यों २ उनका उद्देक होता जाता है। रोग वाल्यावस्था, युवा वस्था, वृद्धावस्था—सभी अवस्थाओं में होते हैं, इसिलये शरीर सींदर्थ या अंग रचना में आसक्त न होकर आत्म चिंतन करना हो उचित है।
- (२८) शरद्ऋतु में विकसित हुआ कमल, जिस तरह जल में उत्पन्न होने पर भी जल से भिन्न रहता है उसी तरह तू संसार में रहते हुए भी संसारी पदार्थों की आसिक से दूर रह। हे गौतम! भोगों की आसिक को दूर करने में तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

(२९) कनक और कान्ता (पत्नी) को त्याग कर तेने साधुत्व

लिया है। श्रव तु वमन किये हुए उन विषयों को पुनः पान न कर। हे गौतम! (पान करने की भावना को दूर करने में ) तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

- टिप्पशी—त्याग की हुई वस्तु का एक या दूसरे प्रकार से स्मरण करना भी पाप है, इसलिये त्यागियों को चाहिये कि वे अप्रमत्त भाव से आत्मचितन में हो मग्न रहें।
- (३०) उसी तरह श्रपने मित्रजनों, भाई वंधों तथा विपुल धन संपत्ति के ढेरों को एक बार स्वेच्छापूर्वक छोड़कर श्रव तू उनका पुनः स्मरण न कर। हे गौतम (ऐसा करने में) तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
- टिप्पणी—३१ वें बलोक के अंतिम दो चरणों में भगवान ने गौतम को संयम में स्थिर करने के लिये, भविष्य में भी उत्तम पुरुष क्या आह्वासन लेकर संयममार्ग में स्थिर रहेंगे वह बताया है।
- (३१) श्राज स्वयं तीर्थक्कर इस त्तेत्र में विद्यमान नहीं हैं तो भी श्रमेक महापुरुपों द्वारा श्रमुभूत उनका मोत्त प्रदर्शक मार्ग तो श्राज भी दिखाई दे रहा है। इस प्रकार भविष्य में सत्पुरुष श्राश्वासन प्राप्त कर संयम में स्थिर रहेंगे। तो श्रभी (मेरी उपस्थित में) हे गौतम! इस न्याय युक्त भार्ग में तू क्यों प्रमाद करता है ? तू न्याययुक्त मार्ग पर चलने में एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर।
  - टिप्पणी-गीतम को छक्ष्य करके भगवान ने कहा है कि सबको वर्तमान में कार्य परायण ( कर्तक्यतत्वर ) होना चाहिये।
  - (३२) हे गौतम ! कंटकीले मार्ग ( ऋथीत संसार ) की छोड़कर तूराजमार्ग ( जैनधर्म ) पर आया है, इसलिये तू उसपर

नजर रख श्रौर वैसा करने में श्रब समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

î, t

- रिट्पार्गी—संयम जैसे अमृत को पी कर फिर विषयों के विष को कौन पीना पसन्द करेगा ? गहरे गहुं में से महा मुसीवत से एक बार निकल कर फिर उसी गहुं में पहना कौन चाहेगा ?
- (३३) जैसे निर्वल भारवाहक (मजूर) क़रस्ते जाकर बहुत वहुत पीढित होता है इंसलिये हे गौतम ! तू अपना मार्ग न भूल। अपने मार्ग पर स्थिर रहने में तू एक समय का भी प्रमाद न कर।
- (३४) हे गौत्म तू सचमुच अपार महासागर की पार पर आ चुका है। किनारे तक आकर अब तू वहीं क्यों खड़ा हो रहा है ? इस पार आने की शीघ्रता कर। इस पार आने में अब तू एक समय का भी प्रमाद न कर।
- (३५) (संयम में स्थिर रहने से) हे गौतम ! श्रकलेवर (श्रजन्मा) श्रेगी का श्रवलम्बन लेकर श्रव तू उस सिद्ध लोक को प्राप्त करेगा जहां जाकर फिर कोई लौट कर इस संसार में नहीं श्राता । वह स्थान सुखकारी कल्याणकारी तथा श्रत्यन्त श्रेष्ठ है। वहां जाने में तू श्रव एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर ।
- (३६) हे गौतम ! प्राम या नगर में जाते हुए भी तु संयमी, ज्ञानी तथा निरासक्त होकर विचर । शांति मार्ग ( श्रात्म शांति ) में वृद्धि कर । इस में तू एक समय मात्र का भी प्रमाद न कर ।
- ﴿३७) इस तरह ऋर्य तथा पदों से शोभित और सद्भावना से

कहा हुन्ना भगवान का कथन सुनने के वाद गौतम, राग तथा द्वेप दोनों को नाशकर सिद्धगति को प्राप्त हुए।

टिप्पणी—गौतम जब संयम में अस्थिरचित हुए थे उस समय भगवान ने गौतम को छक्ष्य करके यह उपदेश दिया था। गौतम महाराज के जीवन में यह उपदेश ओत प्रोत हो गया और इससे उनने अंतिम उद्देश्य प्राप्त किया और अविनश्वर सुख प्राप्त किया।

हम छोगों के छिये "गोयम" हमारा मन है। अन्तरात्मा की कृपा अपने जीवन पर अनेक प्रसंगों पर होतो रहती है। यदि उस आवाज को सुन कर उसको हम अपने आचरण में उतार दें तो अपना भी वेड़ा पार हो जाय।

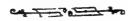
मनुष्य जीवन का प्रत्येक क्षण अमूल्य रतन के समान कीमती है, अमृत समान है। हम जिस भूमिका पर हैं उस धर्म पर अडग स्थिर रहते हुए सावधान होकर आगे वह तो यह जीवनयात्रा सफल हो जाय। फिर यह समय और साधन नहीं मिलेंगे इसिल्ये प्रास्म साधनों का सदुषयोग करते हुए प्रत्येक क्षण सावधान रहना ही उचित है।

#### ऐसा में कहता हूँ —

इस तरह "द्रुमपत्रक" नामक १० वां ऋष्याय समाप्त हुस्रा 🕨



# बहुश्रुत पूज्य



११

श्रात्म श्रात्मप्रकाश । यह प्रकाश प्रत्येक श्रात्मा में भरा हुश्रा है; मात्र उसके ऊपर छाये हुए श्रावरण निकल जाने चाहिये और हृद्य के द्वार उघड़ जाने चाहिये। शास्त्रों का श्रभ्यास शोध के लिये हैं ऐसा जानकर तत्त्व्ह पुरुष शास्त्रों को पढ़कर भूल जाते हैं।

श्रहंकार यह ज्ञान की श्रगंता (चटकनी) है। श्रहंकार गया तो ज्ञानरूपी खजाने को खुला समभो। ज्ञानी की परीद्वा उसके शील (श्राकार) से होती है; शास्त्रों से नहीं।

### भगवान वोले--

- (१) संयोग (आसक्ति) से विशेषरूप से रहित और गृह-त्यागी ऐसे भिक्षु के आचार का क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे ध्यान से सुनो।
- (२) जो वैरागी होकर भी मानी, लोभी, श्रसंयमी श्रीर वारं-वार विवाद करता है उसे श्रविनीत तथा श्रवहुश्रुति (श्रज्ञानी) सममना चाहिये।

टिप्परागि-इसर यह एक प्रकार की हिंसक कीड़ा है।

- (१४) जो हमेशा गुरूकुल में रहकर योग तथा तपश्चर्या करता है, मधुर वोलने वाला, श्रीर शुभ काम करने वाला होता है वह शिष्य शिचा प्राप्त करने योग्य है।
- (१५) जिस तरह शंख में पड़ा हुआ दूघ दो तरह से शोमा देता है उसी तरह (ज्ञानी) भिक्षु; धर्म-कीर्ति तथा शास्त्र इन दोनों द्वारा शोभित होता है।
- िटण्पणी—शंख में रक्ता हुआ दूध दो तरह से शोभित होता है, प्क तो देखने में सीरय लगता है, दूसरा, वह उसमें कभी नहीं विगड़ता उसी तरह ज्ञानी का शास्त्र पाहर से भी सुन्दर रहता है और शास्त्रानुक्छ आचार होने से उसकी आत्मा की भी उन्नति होती है।
  - (१६) जैसे कंवोज (देश के ) घोड़ों में त्राकीर्ए (सव प्रकार की चालों में प्रवीस तथा सुलचस ) घोड़ा त्राति वेगवान होता है त्रोंर इसीलिये उत्तम माना जाता है, उसी तरह वहु-श्रुत हानी भी उत्तम माना जाता है।
  - (१७) जैसे श्राकीर्ण (जाति के उत्तम) घोड़े पर श्रारूढ़ हढ़ पराक्रमी शूर; दोनों प्रकार से निन्द की श्रभ्यर्थना से सुशोभित होता है वैसे ही वहु श्रुतज्ञानी दोनों प्रकार (श्रान्तरिक शांति तथा वाह्य श्राचरण) से शोभित होता है।
  - (१८) जैसे हथिनी में संरक्तित साठ वर्ष की उम्र का हाथी वल-वान तथा द्सरों द्वारा परामूत न हो सके ऐसा टढ़ होता है, वैसे ही वहुश्रुतज्ञानी परिपक (स्थिर) चुद्धिवाला विचार

तथा विवाद के श्रवसर पर श्रमिभूत न होकर तटस्थ एवं श्रिलप्त रहता है।

(१९) जैसे तीक्ष्ण ( पैने ) सींग वाला श्रोर श्रच्छी तरह भरी हुई कुट्व वाला ( पशुत्रों के ) टोले का नायक सॉंड शोभित होता है उसी तरह ( साधु-समूह ) में वहुश्रुत- ज्ञानी शोभित होता है।

(२०) जैसे स्रित उप तथा तीक्ष्या दंत वाला पशु श्रेष्ठ सिंह; सामान्य रीति से पराभूत ( हारता ) नहीं है वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी किसी से भी नहीं हारता ।

(२१) जैसे शंख, चक्र तथा गदा से सुशोभित वासुदेव (विष्णु) सदा ही अप्रतिहत (अखंड) बलवान् रहते हैं वैसे ही बहु श्रुतज्ञानी भी, (अहिंसा, संयम श्रौर तप से,) सदाकाल बलिए रहता है।

दिप्पणी — वासुदेव अकेले हो दसलाख योदाओं को हरा सकता है और उनके पांचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र तथा कौमोदकी गदा अस हैं।

(२२) जैसे चतुरंगिनी (घोड़ा, हाथी, रथ, प्यादे इन चारों से युक्त) सेना से समस्त शत्रुओं का नाश करने वाला महान् ऋद्धिघारक (नवनिधि, १४ रत्नों का श्रोर ६ खंड पृथ्वी का श्रधिपति) चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही चारगितयों को अन्त करने वाला तथा १४ विद्यारूपी लिध्यों का स्वामी बहुश्रुतज्ञानी शोभित होता है। (राज़ाश्रों में चक्रवर्ती श्रेष्ठ होता है)

दिप्पणी-चक्रवर्ती के १४ रहीं के नाम ये हैं: चक्र, छत्र, असि,

- (३) जिन पांच स्थानों से ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती उनके नाम ये हैं—(१) मान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) रोग, श्रीर (५) श्रातस्य।
- (४-५) पुनः पुनः (१) हास्य क्रीट। न करने वाला, (२) सदा इन्द्रियों का टमन घरने वाला, (३) फिसी फे छिद्र (दोष) न देखने वाला, (४) सदाचारी, (५) ध्रनाचार न करने वाला (मर्यादित), (६) ध्रलोद्धपी, (७) ध्रकोधी, (८) सत्याप्रदी—ऐसे पुरुष को ही सच्चा ज्ञानी कहते हैं। शिक्षाशील के टपरोक्त गुण हैं।
- खिल्पाणी—शांति, इंदिय दमन, म्यटोपरिष्ट, सदाचार, ब्रह्मचर्यं, अना-सक्ति, सत्याब्रह और सिंहिल्णुता—ये ८ गुण जिनमें पाये जांब बही सच्चा पंटित है। केवल शास्त्र पदने में कोई पंदित नहीं हो जाता।
- ·(६) निम्नलिखित १४ स्थानों में रहने वाला संयमी श्रविनीत (श्रज्ञानी) कहा जाता है श्रीर वह कभी मुक्ति नहीं पा सकता।
- दिप्पणी—यहां अविनीत का अर्थ अक्तंब्यदील है किन्तु चालु प्रकरणानुसार उसका अर्थ अज्ञानी किया है।
- (७) जो वारंवार कोप करता है। (२) प्रवन्ध (विश्वास मंग) करता है। (३) मित्रभाव करके पुनः पुनः उसे तोड़ देता है, श्रौर (४) शास्त्र पढ़कर अभिमानी होता है।
- टिप्पारी—किसी की गुप्त बात को दूसरों के पास प्रकट करना उसे 'प्रबंध' कहते हैं।
  - (८) (५) नो दोप (भूल) करने पर भी, उसे रोकने की चेष्टा

- न कर (उसे) ढंकने का प्रयत्न करता है, (६) जो ऋपने मित्रों (हितैषियों) पर भी क्रोध करता है; (७) ऋत्यन्त प्रिय मित्रजनों की एकान्त में निन्दा करता है।
- (९) श्रौर (८) श्रित वाचाल, (९) द्रोही, (१०) श्रिभमानी, (११) लोभी, (१२) श्रसंयमी, (१३) साथियों की श्रिपेत्ता श्रिधक हिस्सा लेने वाला, श्रौर (१४) श्रिप्रीत (शत्रुता) करने वाला। जिसमें इनमें से एक भी दुर्गुण हो उसे। 'श्रिवनयी' कहते हैं।
- (१०) निम्न लिख्त १५ स्थान (गुणों) वाले को विनयी कहते हैं। नीचवर्ती (नम्र), (२) श्रचपल, (३) श्रमायी (सरल), (४) श्रकुतृहली (क्रीड़ा से दूर रहने वाला)।
- टिप्पणी—नीचवर्ती अर्थात् नम्न जो मन में यह समझता है कि मैं तो कुछ भी नहीं हूँ।
- (११) त्रौर जो (५) त्रपनी छोटी सी भूल को भी दूर करने की कोशिश करता है (६) क्रोध (कषाय) की वृद्धि करने वाले प्रवन्धों से दूर रहने वाला, (७) सब के साथ मित्र भाव से रहने वाला, (८) शास्त्र पढ़ कर जो श्रभिमान नहीं करता है।
- (१२) (९) जो पाप की उपेत्ता नहीं करता, (१०) मित्रो पर कभी कोप न करने वाला, (११) श्रिप्रय मित्र के विषय में भी एकांत में कल्याणकारी ही बोलने वाला।
- (१३) (१२) कलह तथा डमर श्रादि कीडाश्रों का त्याग करने वाला। (१३) ज्ञानयुक्त, (१४) खानदान, (१५) एवं संयम की लज्जा रखने वाला है उसे सुविनीत कहते हैं।

टिप्पागी—हमर यह एक प्रकार की हिंसक कोड़ा है।

- (१४) जो हमेशा गुरूकुल में रहकर योग तथा तपरचर्या करता है, मधुर वोलने वाला, श्रीर ग्रुभ काम करने वाला होता है वह शिष्य शिचा प्राप्त करने योग्य है।
- ·(१५) जिस तरह शंख में पड़ा हुआ दूध दो तरह से शोमा देता है उसी तरह (ज्ञानी) भिक्षु; धर्म-कीर्ति तथा शास्त्र इन दोनों द्वारा शोभित होता है।
- टिप्पग़ो—शंख में रक्ला हुआ दूध हो तरह में शोधित होता है, एक तो देखने में सौग्य लगता है, दूसरा, वह उसमें कभी नहीं विगड़ता उसी तरह ज्ञानी का शास्त्र वाहर से भी सुन्दर रहता है और शास्त्रानुकृळ आचार होने से उसकी आत्मा की भी उन्नति होती है।
- (१६) जैसे कंवोज ( देश के ) घोड़ों में आकीर्ए ( सव प्रकार की चालों में प्रवीग तथा सुलच्गा ) घोड़ा अति वेगवान होता है और इसीलिये उत्तम माना जाता है, उसी तरह बहु-श्रुत ज्ञानी भी उत्तम माना जाता है।
- (१७) जैसे आकीर्ण (जाित के उत्तम) घोड़े पर आरूढ़ हढ़ पराक्रमी शूर; दोनों प्रकार से निन्द की अभ्यर्थना से सुशोभित होता है वैसे ही वहु श्रुतज्ञानी दोनों प्रकार (आन्तरिक शांति तथा वाह्य आचरण) से शोभित होता है।
- (१८) जैसे हथिनी से संरचित साठ वर्ष की उम्र का हाथी वल-वान तथा दूसरों द्वारा परामृत न हो सके ऐसा टढ़ होता है, वैसे ही वहुशुतज्ञानी परिपक (स्थिर) चुद्धिवाला विचार

- तथा विवाद के अवसर पर अभिभूत न होकर तटस्थ एवं अलिप्त रहता है।
- -(१९) जैसे तीक्ष्ण (पैने) सींग वाला श्रौर श्रच्छी तरह भरी हुई कुच्च वाला (पशुश्रों के) टोले का नायक सॉंड शोभित होता है उसी तरह (साधु-समृह) में बहुश्रुत-ज्ञानी शोभित होता है।
  - (२०) जैसे त्र्यति उप तथा तीक्ष्यादंत वाला पशुश्रेष्ठ सिंह; सामान्य रीति से पराभूत ( हारता ) नहीं है वैसे ही वहुश्रुतज्ञानी किसी से भी नहीं हारता ।
  - (२१) जैसे शंख, चक्र तथा गदा से मुशोभित वासुदेव (विष्णु) सदा ही श्रप्रतिहत (श्रखंड) बतवान् रहते हैं वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी भी, (श्रहिंसा, संयम श्रौर तप से,) सदाकाल विलिध रहता है।
- ्टिप्पणी वासुदेव अकेले ही दसलाख योद्धाओं को हरा सकता है और उनके पांचजन्य शंख, सुदर्शन चक्र तथा कौमोदकी गदा अस्त्र हैं।
- (२२) जैसे चतुरंगिनी (घोड़ा, हाथी, रथ, प्यादे इन चारों से युक्त) सेना से समस्त शतुओं का नाश करने वाला महान् ऋदिधारक (नवनिधि, १४ रहों का और ६ खंड पृथ्वी का अधिपित ) चक्रवर्ती शोभित होता है वैसे ही चारगितयों को अन्त करने वाला तथा १४ विद्यारूपी लिंघयों का स्वामी बहुश्रुतज्ञानी शोभित होता है। (राज़ाओं में चक्रवर्ती श्रेष्ठ होता है)

दिप्पारी-चक्रवर्ती के १४ रहों के नाम ये हैं:-चक्र, छत्र, असि,

- दण्ड, चर्म, मणि, कांगणी, सेनापति, गाथापति, वार्धिक, पुरोहित, स्रो, अश्व तथा हाथी ।
- (२३) जैसे एक हजार नेत्र ( आंखों ) वाला, हाथमें वज धारण करने वाला, पुर नामक दैत्य का नाश करने वाला, तथा देवों का अधिपति इन्द्र शोभित होता है वैसे ही बहुश्रुत ज्ञानरूपी सहस्र नेत्र वाला, क्षमा रूपी वज्र को धारण करने वाला, मोहरूपी दैत्य का नाशक ज्ञानी शोभित होता है।
- (२४) जैसे श्रंधकार का नाश करने वाला उगता सूर्य, तेज से देदीप्यमान होता है वैसे ही श्रात्मज्ञान के तेज से ज्ञानी प्रभावान होता है।
- (२५) जैसे नज्ञपति (तारों का राजा) चंद्रमा, यह तथा नक्षत्रों से घिरा हुत्र्या पूर्णिमा की रात्रि को पूर्ण शोभा से प्रकाशित होता है वैसे ही श्रात्मिक शोतलता से बहुश्रुत ज्ञानी शोभायमान होता है।
- (२६) जैसे लोक समूह के भिन्न भिन्न श्रन्तों से पूर्ण तथा सु-रिक्षित भगडार शोभित होते हैं वैसे ही (श्रंग, उपांग शास्त्रों की विद्या से पूर्ण) ज्ञानी शोभित होता है।
- (२७) सब वृत्तों में जैसे अनाहत नामक देव का जंबू वृक्ष शोभित होता है उसी तरह ( सब साधुश्रों में ) ज्ञानी शोभायमान होता है।
- (२८) नील पर्वत से निकल कर सागर से भिलने वाली सीता नाम की नदी जिस तरह सब निदयों में श्रेष्ठ है वैसे ही। सर्व साधकों में ज्ञानी श्रेष्ठ है।

- (२९) जैसे पर्वतों में, ऊंचा तथा सुन्दर श्रीर श्रानेक श्रीषियों से शोभित मन्दार पर्वत उत्तम है वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी भी श्रपने श्रानेक गुर्णों से (अन्य ज्ञानियों की श्रपेत्ता श्रिषक) उत्तम है।
- (३०) जैसे श्रज्ञय उदक (जिसका जल कभी न सूखे) स्वयं-भूरमण नामक समुद्र; भिन्न २ प्रकार की मणि मुक्ताश्चों से पूर्ण है वैसे ही बहुश्रुतज्ञानी श्रानेक गुणों से पूर्ण है।
- (३१) समुद्र समान गंभीर, बुद्धि (विवाद) द्वारा कभी पराभूत न होने वाला, संकटों से त्रास न पाने वाला (सिंहण्यु), काम भोगों में अनासक्त, श्रुत से परिपूर्ण तथा समस्त प्राणियों का रचक महापुरुष (बहुश्रुतज्ञानी) कमें का नाश कर अंत में मोच पाता है।
- (३२) इसिलये उत्तम श्रर्थ की गवेषणा (खोज) करने वाला (सत्यशोधक) भिक्षु; श्रुत (ज्ञान) में श्रिधिष्ठान करे (श्रानंदित रहे), जिससे वह स्वयं सिद्धि प्राप्त कर दूसरों को भी सिद्धि प्राप्त करा सके।
- दिप्पणी-ज्ञान अमृत है। ज्ञानी सर्वन्न विजयी होता है। ज्ञान अन्तः-करण की वस्तु है और वह शास्त्रों द्वारा, सत्संग द्वारा, अथवा महा-पुरुषों की कृपा द्वारा प्राप्त होता है।

'ऐसा मैं कहता हूं'—

इस प्रकार 'बहुश्रुतपूज्य' नामक ग्यारहवां ऋध्ययन समाप्त हुआ।

## हरिकेशीय

22

#### हरिकेश मुनि सम्बन्धी

हाल भी आत्मकल्याण के मार्ग का आराधन कर सकता है। चांडाल जाति में उत्पन्न होने वालों का भी पवित्र हृद्य हो सकता है।

महामुनि हरिकेश; चांडाल कुल में उत्पन्न हुए थे फिर भी गुणों के भन्डार थे। वे पूर्व के योग संस्कार होने से, निमित्त पाकर वेराग्य धारण कर त्यागी वने थे। त्यागी वनने के वाद एक यज्ञ ने उनकी कठिन से कठिन कसौटी (परीक्ता) की थी श्रौर उसमें सोने की तरह खरा उतरने पर वह उन महामुनि पर प्रसन्न हुश्रा श्रौर सदेव उनके साथ दास वन कर रहता था।

एक समय यत्त मन्दिर के सभा मंडप में (जहां वह यत्त रहता था) कठिन तपश्चर्या से कृशगात्र हरिकेश ध्यान मन होकर घडोल खड़े थे। इसी समय कौशलराज की पुत्री भद्रा घ्रपनी सिखयों के साथ उस मन्दिर में दर्शनार्थ घ्राई। गर्भद्वार के पास जाकर सब ने पेट भर के दर्शन किये। दर्शन करके हरिकेशीय

वापिस फिरते हुए प्रत्येक साली ने खेल में समामंडप के एक एक स्तम्म की गोदी (जेट) भरलो। सन्ध्या का श्रन्धकार श्रौर भी गाढ़ होता जा रहा था। भद्रा सब से पीछे रह गई थी। श्रपनी सालियों को स्तम्भों से खेल खेलती देख कर उसे भी कौत्रहल हुआ श्रौर श्रन्धकार में स्पष्ट न दीखने से मुनि हरिक्श को स्तम्भ सम्भ कर वह उन्हीं से लिपट गई। यह देख कर वे सालियां खिल खिला उठीं श्रौर बोलीं:—

" तुम्हारे हाथ में तुम्हारे पति श्रागये "। श्रौर वे हंसी करने जिंगीं। भद्रा इससे बहुत चिड़ी श्रौर उसने मुनि महाराज का चड़ा श्रपमान किया।

यत्त को इससे वहुत क्रोध श्राया। भद्रा तो उसी समय अवाक वेहोश होकर नीचे गिर पड़ी। यह वात तमाम शहर में वायुवेग से फैल गई। भद्रा के पिता कौशलराज भी दौड़े दौड़े वहां श्राये। अन्त में दैवी कोप दूर करने के लिये यत्तप्रविष्ट शरीर वाले उस तपस्वीजी के साथ भद्रा का विवाह होने की तैयारियां होने लगी। उसी समय मुनि के शरीर में से यत्त श्रह्मय होगया। तपस्वीजी जब सावधान हुए श्रौर यह सब गड़बड़ देखी तो बड़े ही आश्चर्य में पड़ गये। अन्त में श्रपने उग्र संयम तथा श्रप्न त्याग की प्रतीति देकर के वे महायोगी वहां से प्रयागा कर गये।

ष्रागे जाकर इसी भद्रादेवी का विवाह सोमदेव नामक ब्राह्मण के साथ हुआ। कुल परम्परा के अनुसार इस दंपति (स्त्री पुरुप के युगल) ने ब्राह्मणों द्वारा महायज्ञ कराया। यजमान रूप में जब यह दम्पती मन्त्रोच्चारणादि क्रिया कर रहा था उसी समय श्रम, नगर, शहर ब्रादि सर्व स्थलों में अभेद्भाव से विहार करते हुए वे विश्वोपकारी महामुनि एक महीने की तपश्चयों के अन्त में पारगा। के लिये उसी यक्षशाला में पथारे। वे अपरिचित ब्राह्मण सांधु की हंसी मजाक उड़ाने लगे। जब इससे भी सांधु पर कुछ असर न पड़ा तब वे उन्हें मारने लगे। ऐसे कुसमय में उस तिन्दुक यत्त ने वहां उपस्थित हो कर क्या किया, तथा भड़ा देवी को जब सब बात मालम हुई तब उसकी क्या दणा हुई, सारा बातावरण तपश्चर्या के प्रभाव से कसा महक उठा, आदि सब बातों का इस प्रध्याय में वर्णन किया है।

वर्गा श्रार जाति का विधान श्रीभमान बढ़ाने के लिये नहीं किया गया था। वर्गा व्यवस्था चुित भेद के श्रमुसार की गई थी। उसमें ऊंच नीच के भेदों को कोई स्थान नहीं था। किन्तु जब से उसमें ऊंच नीच का भेद शाव श्राया है तब से सखी वर्ण व्यवस्था ता मिट गई है श्रीर उसके स्थान में (दूसरीं के श्रति) तिरस्कार श्रोर (श्रपनेपन के वडण्पन का) श्रीभमान ये दो शाव श्रागये हैं।

भगवान महाबीर ने जातिबाद का बढ़े जारों से खराडन किया था। गुग्वाद का प्रचार किया था, सब को ध्रमेदमाब रूपी ध्रमृत पिलाया था श्रीर दीन, हीन तथा पतित जीवीं का उद्धार किया था।

#### भगवान सुधर्म ने जम्बू स्वामी से कहा:--

- (१) चांडाल कुल में उत्पन्न किन्तु उत्तम गुगी ऐसे हिस्किश' वल नामक एक जितिन्द्रिय भिक्षु हो गये हैं।
- (२) ईर्या, भाषा, ऐपणा, श्रादान भंड निचेष, उचार पासवण-खेल जल संघाण पारिठाविणया इन पांचों समितियों को पालन करने वाले तथा सुसमाधि पूर्वक यन करने वाले,

- (३) मन से, वचन से, काय से गुप्त (इन तीनों को वश में रखने वाले) श्रीर जितेन्द्रिय ऐसे वे मुनिराज भिक्षा के लिये ब्रह्मयज्ञ की यज्ञबाड के पास श्राकर खड़े हुए।
- ·(४) उप्र तप के कारण सूखी हुई देह तथा जीर्ण उपि (वस्नों) · तथा उपकरण (पात्र श्रादि) वाले उन मुनिराज को श्राते देखकर श्रनार्थ पुरुष हंसने लगे।
- टिप्पग्गी—मुनि के वस्त्र कंबल पात्र आदि को उपिष तथा उपकरण कहते हैं।
- ्(५) जातिमद से उन्मत्त बने हुए, हिंसा में धर्म मानने वाले, इन्द्रियों के दास, तथा ब्रह्मचर्य से रहित वे मूर्ख ब्राह्मण साधु के प्रति ऐसे कहने लगे:—
- (६) दैत्य जैसे रूप वाला, काल के समान भयंकर आकृति वाला, बैठी नाक वाला, फटे वस्त्र वाला, तथा मिलनता से पिशाच जैसे रूप वाला, सामने कपड़ा लपेट कर यह कौन चला आरहा है ? ( उन लोगो ने अपने मन में कहा ) जब मुनि आकर उनके पास खड़े हुए तब उनने मुनिसे कहा:—
- र (७) अरे ! ऐसा अदर्शनीय (न देखने योग्य) तू कौन है ? किस आशा से तू यहां आया है ? जीर्ण वस्त्रों तथा मिलन रूप से पिशाच जैसा दीखने वाला तू यहां से जिस्से यहां तूक्यों खड़ा है ?
- (८) इसी समय महामुनि का अनुकंपक (प्रेमी), तिन्दुके वृत्त वासी यक्ष; अपने शरीर को गुप्त रखकर (मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर) यों कहने लगा:—

- टिप्पण्णि—यह वही यक्ष है जो मुनि का सेवक था और उसीने शरीर में प्रवेश किया है।
- (९) मैं साधु हूँ। ब्रह्मचारी हूँ। संयमी हूँ। घन, परिप्रह तथा दूषित क्रियाओं से विरक्त हुआ हूँ और इसीलिये दूसरों के निमित्त बनाये गये अन्न को देखकर इस समय मैं भिन्ना के लिये आया हूँ।
- टिप्पणी—जैन साधु दूसरॉ के निमित्त बनाये गये अन्न की ही भिक्षा लेते हैं। अपने लिये तैयार की गई रसोई वे ग्रहण नहीं धरते।
- (१०) इस श्रन्न में से वहुतों को भोजन दिया जा रहा है, वहुत से ले रहे हैं, बहुत से स्वाद पूर्वक खा रहे हैं, इसलिये वाकी के वचे श्रन्न में से थोड़ा इस तपस्वी को भी दो, क्योंकि में भिज्ञाजीवी हूँ-ऐसा श्राप जानो।
- (११) (ब्राह्मण बोले)—यह भोजन ब्राह्मणों के ही लिये तैयार किया गया है। एक ब्राह्मण पत्त (समूह) श्रभी यहां श्राकर जीमेगा उसीके लिये यह यहां लाकर रक्खा है। इसमें से तुमे कुछ भी नहीं मिल सकता। तू यहां क्यों खड़ा है ?
- (१२) उच भूमि में या नीची भूमि ( दोनो ) में किसान; श्राशा पूर्वक योग्यता देखकर वीज वोता है। उसी श्रद्धा से तुम मुक्ते भोजन दो। श्रीर इसे सचमुच एक पवित्र चेत्र समम कर इसकी श्राराथना करो।
- टिप्पग्री-वस्तुतः उक्त शब्द मुनि मुख से यह यक्ष ही कह रहा था।
- (१३) वे क्षेत्र, जहां वोये हुए पुराय उगते हैं (जिस सुपात्र को दान देने से वह सुफल होता है) वे सव हमें खबर हैं।

जातिमान ( कुलीन ) तथा विद्यावान, जो त्राह्मण हैं वे ही बहुत उत्तम क्षेत्र हैं ।

टिप्पााी-ये वचन यज्ञ शाला में स्थित क्षत्रियों के हैं।

- (१४) क्रोध, मान, हिंसा, मूंठ, चोरी, परिष्रह (वासना) त्रादि दोष जिनमे हैं ऐसे ब्राह्मण, जाति तथा विद्या इन दोनों से रहित हैं। ऐसे क्षेत्र तो पाप को बढ़ाने वाले है।
- टिप्पणी—डस समय कुछ ब्राह्मण अपने धर्म से पतित होकर महाहिंसा को ही धर्म मनवाने का प्रयत्न करते थे। ऐसे ब्राह्मणों को लक्ष्य करके ही यह क्लोक यक्ष की प्रेरणा से मुनि के मुखसे कहलाया गया है।
  - (१५) अरे ! वेदों को पढ़कर तुम उसके अर्थ को थोड़ा सा भी नहीं जान सके ? इसलिये तुम सचमुच वाणी के भारवाहक ( बोम ढोने वाले ) हो । जो मुनि ऊँच या सामान्य किसी . भी घर में जाकर भिचावृत्ति द्वारा संयमी जीवन विताता है वही उत्तम चेत्र है ।

यह सुनकर ब्राह्मण ५ंडितों के शिष्य वहुत ही गुस्से हुए और वोले:—

- (१६) हमारे गुरुओं के विरुद्ध बोलने वाले साधु ! तू हमारे ही सामने क्या बक रहा है ? भले ही यह सारा श्रन्न नष्ट हो जाय, परन्तु इसमें से तुमें कुछ भी नहीं देंगे।
- (१७) समितियों के द्वारा समाहित (समाधिस्थ), गुप्तियों (मन, वचन, काय) से संयमी तथा जितेन्द्रिय मुक्त समान संयमी को ऐसा शुद्ध खानपान न दोगे तो स्त्राज यज्ञ का क्या

- फल पात्रोंगे ? इस तरह के यक्ष के वचन मुनि के मुख से सुनकर सब बाह्मण क्रोध से लालपीले पड़ गये श्रीर वे गला फाड २ कर चिहाने लगे:—
- (१८) श्ररे! यहां कोई चित्रय, यजमान श्रथवा श्रध्यापक है क्या ? विद्यार्थियों को साथ लेकर लकड़ो तथा ढंडों से इसकी खूब मरम्मत कर तथा श्रद्धेचन्द्र दे (गलची पकड़ कर धका मार) कर निकाल बाहर करे।

- (१९) अध्यापकों की ऐसी श्राज्ञा सुनकर वहुत से शिष्य वहां श्राये श्रोर लकड़ी, ढंढा श्रोर छड़ी तथा चाबुक से मुनिराज को मारने को तैयार हुए।
- (२०) उसी समय परम सुन्दरी कौशल देश के राजा की पुत्री भद्रा ने वहां पर पीटे जाते हुए उस संयमी को देखकर ऋद कुमारों को शांत करते हुए यह कहा:—
- (२१) यक्त के अभियोग से (देवी प्रकोप शांत करने के लिये)
  वश हुए मेरे पिताश्री द्वारा (यक्त प्रविष्ट शरीर वाले)
  इस मुनि को में अप्ण की गई थी, फिर भी अनेक
  महाराजों तथा देवेन्द्रों द्वारा पूजित इस मुनि ने मेरा मन
  से भी चिंतवन नहीं किया और शुद्धि में आते हो इनने
  मुमें उगल (छोड़) दिया।
- टिप्पणी—इस भद्रा ने सरलभाव से वहां पर ध्यानस्य मुनीदवर का अपमान किया था और इसका वदला लेने के लिये उसीके द्वारीर के साथ ( मुनि-त्वारीर में प्रवेश करके यक्ष ने ) मुनि का विवाह का आयोजन कराया था। किन्तु जब मुनि ध्यान से उठे तो उनने भद्रा को शीव ही अपना संयमी होना सिद्ध कर तुम्हारा कल्याण हो, ऐसा आशीर्वाद दंकर उसे मुक्त कर दिया।

- (२२) सचमुच अपूर्व ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय, संयमी तथा उप तपस्वी ये वे ही महात्मा है कि जिसने मेरे पिता कौशल-राज द्वारा स्वेच्छा पूर्वक दीगई मुमें नहीं स्वीकारा था।
- दिप्पाणी —अप्सरा के समान स्वरूपवान युवती स्त्री स्वयं मिलते हुए भी उस पर लेशमात्र भी मनोविकार न लाकर अपने त्याग तथा संयम के मार्ग पर अडोल रहना यही सच्चे त्याग की, सच्चे संयम की, और सच्चे आत्मदर्शन की प्रतीति (निशानी) है।
- (२३) ये महा प्रभावशाली, महा पुरुषार्थी, महान् व्रतधारी तथा उत्तम कीर्तिवाले महायोगी पुरुष है। उनका व्रपमान करना योग्य नहीं है। ब्रारे! इनकी ब्रावगणना मत करो, नहीं तो ये ब्रापने तेज से तुम्हें भरम कर डालेंगे।
- (२४) भद्रा के ऐसे सुमधुर वचनों को सुनकर (वातावरण पर असर हो उसके पहिले ही) देव समूह ऋषिराज की सेवा के लिये आने लगे और कुमारों को रोकने लगे। (फिर भी कुमारों ने नहीं माना)
- िष्पाणी—इस स्थल पर एक ऐसा परंपरा भी चाल है कि यहां भद्रा के पति सोमदेव ने इन कुमारों को रोका था और देवों के वदले उसका ऐसा करना अधिक संभव भी है किन्तु मूल पाठ में 'जक्खा' शब्द होने से वैसा ही अर्थ किया है।
- (२५) श्रीर उसी समय श्राकाश में श्रन्तर्धान भयंकर रूपवाले वहुत से राक्षस वहां श्राये श्रीर उन तमाम लोगों को श्रहश्य रहकर मारने लगे। उनकी श्रन्दरूनी मार से उनके श्रंग फूट निकले श्रीर कोई कोई तो खून की उल्टी करने लगे। उन लोगों की ऐसी दशा देखकर भद्रा फिर बोली:—

- (२६) तुम सब लोग नखों से पर्वत खोदना चाहते हो; दांतों से लोहा चवाना चाहते हो श्रीर हुताशन (श्रिम ) को पैरों से बुमाना चाहते हो (ऐसा मैं मानती हूँ) क्योंकि तुमते ऐसे उत्तम भिक्ष का श्रपमान किया है।
- (२७) ऐसे महर्षि ( यदि क्रोध करें तो ); विषयर सर्प की तरह भयंकर होते हैं। इन उम्र तपस्वी तथा घोर व्रतधारी महापुरूप को तुम लोग भोजन के समय मारने को उद्यत हुए तो श्रव, जिस तरह श्रिमिशिखा में पतंगियों का समृह जल कर भरम हो जाता है, वैसे ही तुम भी जल मरोगे।
- (२८) श्रव भी जो तुम श्रपना धन तथा प्राण वचाना चाहते हो तो तुम सब मिलकर उनकी शरण में जाश्रो श्रौर उनके चरणों में मस्तक नमाश्रो। यदि ये तपस्त्रीराज कुद्ध होंगे तो सारे लोक को जलाकर भस्म कर डालेंगे।
- टिप्पणी—भद्रा इन तपस्त्रीराज के प्रभाव को जानती थी। 'अभी तो यह देवी प्रकोप है, किन्तु जो अब भी नहीं मानोगे और उनकी शरण में नहीं जाओगे तो संभव है कि ये तपस्त्री कुद्ध होकर सारे लोक को जलाकर भस्म कर ढालें —ऐसी मेरे मन में शंका है"—सब को लक्ष्यकर उसने इसलिये ऐसा कहा।
- (२९) (इतने में तो कोई विचित्र घटना होगई) किसी की पीठ अपर तो किमी का माथा नीचे (श्रोंधे) चित्त पड़ गये। कोई कर्म तथा चेष्टा से सर्वथा रहित (संज्ञाशून्य) होकर, कोई जमीन पर हाथ पैर फैलाकर पड़ गये।

किसी की श्रांखें निकल श्राई तो किसी की जीभ बाहिर निकल श्राई तो कोई माथा ऊंचाकर ढल पड़े।

टिप्पााी-यह सब देव-प्रकोप से हुआ।

- (३०) इस तरह काष्ट्रभूत (काठ के पुतले जैसे) बने हुए उन शिष्यों को देखकर वह याजक ब्राह्मण (भद्रा का पित) स्वयं बहुत ही खेदिखन्न हुन्ना न्त्रौर स्वयं त्र्रपनी पत्नी सिहत मुनि के पास जाकर नमस्कार कर पुनः २ विनती करने लगा कि हे पूज्य! न्त्रापकी जो निदा तथा तिर-स्कार हुन्ना है उसके लिये हमें चमा करो।
- टिप्पणी—कोशलराज ने तपस्वी से छोड़ी हुई भद्रा कुमारी का विवाह-सोमदेव नामक ब्राह्मण के साथ कर उसे ऋषिपति ही बनाया था। उस जमाने में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के कर्म भेद तो थे किन्तु आज के से जातिभेद न थे। इसीलिये परस्पर में बेटी-व्यवहार छूट के साथ होता था—ऐसा अनुमान होता है।
- (३१) हे वंदनीय ! श्रज्ञानी, मूर्ख तथा मंद्बुद्धि बालकों ने श्रापकी जो श्रसातना की है उसे चमा करो । श्राप समान श्रिष पुरुप महादयाछ होते हैं । वस्तुतः वे कभी कोप करते ही नहीं।
- श्रपना कार्य करके यत्त चला गया । इसके बाद मुनि श्री सावधान हुए श्रौर यह विचित्र दृश्य देखकर बहुत विस्मित हुए । उनने विनयवंत उन ब्राह्मणों से कहा:—
- (३२) इस घटना के पहिले, वाद में था अभी भी मेरे मन में लेशमात्र भी कोप या द्वेष नहीं है। (परन्तु यह सब देखा

धुलकर साफ हो जाते हैं। चारित्ररूपी पारस बहुत से लोह खंडीं को सुवर्ण रूप में बदल डालता है।

एसा में कहता हूं:—

इस प्रकार 'हरिकेशीय' नामक वारहवां अध्ययन समाप्त हुआ।



#### चित्तसंभूतीय

## चित्तसंभूति संबंधी

१३

स्कृति (संस्कार) यह जीवन के साथ जगी हुई वस्तु है। जीवनशक्ति की यह प्ररणा पुनः पुनः आत्मा को कर्मवल द्वारा भिन्न २ योनियों में पदा (जन्म) करती है। परस्पर के प्रेम से म्हणानुवंध होता है और यदि कोई विरोधी अपवाद न हो तो समानशील के जीव—समान गुण वाले जीव—पक ही स्थान में उत्पन्न होते हैं; और अट्टर प्रेम की सरिता में साथ २ रहते हैं और बाद में भी साथ ही साथ जन्म लेते हैं।

चित्त छौर संभूति दोनों भाई थे। दोनों अखंड प्रेम की गांठ से छुड़े हुए थे। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं किन्तु पांच पांच जनमों तक वे साथ ही साथ रहे थे। दोनों साथ ही साथ जीवित रहे थे। ऐसे प्रवल प्रेमी वंधु छहेभव में पृथक् पृथक् पदा हुए। इसका क्या कारण है ? छहे जन्म में दोनों के मार्ग क्यों छदे छुदे पड़े ? उसका प्रवल कारण एक की छासक्ति तथा दूसरे की निरासक्ति था। हुए ? भाइयों का प्रेम शुद्ध होता गया त्यों त्यों वे दोनों विक्

कर मुक्ते यही लगता है कि ) सचमुच जो यद्ग (मेरी इच्छा न होने पर भी ) सेवा करता है उसी के द्वारा ये कुमार पीड़ित हुए हैं।

- टिण्पणी—जेन दर्शन में सहनशीलता के हजारों ही जबलन्त हष्टांत मरे पड़े हैं। त्यागी पुरुष की क्षमा तो मेरू के समान अद्ग होती है। उसमें कोष या चंचलता आती ही नहीं। कुमारों की यह दशा देख कर ऋषिराज को बहुत ही दया आई। योगो पुरुष दूसरों को दुःख नहीं देते, यही नहीं किन्तु दूसरों को दुःखी होते भी देख नहीं सकते।
- (३३) (सचा स्पष्टीकरण होने के वाद इस ब्राह्मण पर बहुत ही अच्छा असर पड़ा। वह वोला:—) परमार्थ तथा सत्य के स्वरूप के हे ब्राता! महाज्ञानी आप कभी भी कुद्ध नहीं होते। इन सब लोगों के साथ हम सब आपके चरणों की शरण मांगते हैं।
- (३४) हे महापुरुप ! हम श्रापकी सब प्रकार की (बहु सम्मान के साथ) पूजा करते हैं । श्रापमें ऐसी एक भी वात नहीं है जो पृष्य न हो । हे महामुनिराज ! भिन्न २ प्रकार के शाक, रायता, तथा उत्तम जातिके चावलों से तैयार किया हुआ यह भोजन श्राप प्रसन्नता पूर्वक प्रहण करें ।
  - -(३५) यह मेरा वहुत का भोजन रक्खा हुआ है। हम पर कृपा करके उसे आप न्वीकारो। (उनकी ऐसी हार्दिक प्रार्थना सुन कर) उन महात्मा ने मास खमण (एक महीने के उपवास के) भारणा में उस भोजन को सहर्प स्वीकार किया।

- (३६) इतने ही में वहां पर श्राकाश से सुगन्धित जल, पुष्प, तथा धन की धाराबद्ध दिव्य वृष्टि होने लगी। देवों ने गगन में दुंदुभि वाजे वज(ए तथा "श्रहो दान ? श्रहो-दान!" इस प्रकार की दिव्य ध्वनि होने लगी।
- टिप्पणी—देवों हाग वरसाये गये पुष्प तथा जलधारा अजीव होते हैं।
  (३७) "सचमुच दिव्यतप ही का यह प्रभाव है, जाति को कुछ
  भी विशेषता (बड़प्पन) नहीं है धन्य है चांडाल पुत्र हरिकेश साधु को कि जिनकी ऐसी प्रभावशालिनी समृद्धि
  है"! चांडाल पुत्र हरिकेश साधु को देख कर सब कोई
  एक ही स्रावाज से, स्राश्चर्य चिकत होकर इस तरहा
  कहने लगे।
- (३८) (तव तपस्वीजी ने उत्तर दिया,) हे ब्राह्मणों ! श्रग्नि का श्रारम्भ करके पानी द्वारा वाह्य ग्रुद्धि को क्यों शोघ रहे हो ? क्योंकि बाहर की सफाई (बाह्यग्रुद्धि) श्रात्मग्रुद्धि का मार्ग नहीं है। महापुरुषों ने ऐसा कहा है कि:—
- (३९) द्रव्य यहा में कुश (दाभ) को, यूप (जिस काष्ट स्तन्भ से पशुबांध कर वध किया जाता है) को, तृरा, काष्ट (सिमधा) तथा अग्नि और सुबह शाम पानी को स्पर्श (आचमनः आदि) करने वाले तुम मन्द प्राणी वारंवार छोटे २ जीवों को दु:खं देकर पाप ही किया करते हो।
- (४०) (तब ब्राह्मणों ने पूंछा,) हे भिक्षु ! हम कैसा आचरण करें ? कैसा यज्ञ पूजन करें ? किस तरह पापों को दूर करें ? हे संयमी ! ये सब बातें हमें बताओ। हे देवपूज्य !' किस वस्तु को ज्ञानवान पुरुष योग्य मानते हैं ?

- (४१) छकाय (पृथ्वी, पानी, श्राग्न, वायु, वनस्पति, तथा त्रस) जीवों की हिंसा नहीं करने वाला, कपट तथा श्रसत्य श्राचरण नहीं करने वाला, माया तथा श्राममान से दूर रहने वाला तथा परिव्रह, एवं स्त्रियों की श्रासक्ति से डरने वाला पुरुप 'दान्त' कहलाता है श्रीर वही विवेक पूर्वक वर्तता है।
- (४२) (तथा) पांच इन्द्रियों को वश में रखने वाला, श्रपने जीवन की भी परवा नहीं करने वाला, शरीर के ममत्व से रहित ऐसा महापुरूप वाह्यशुद्धि की दरकार (श्रपेक्षा) न करते हुए उत्तम एवं महाविजयी भावयज्ञ करता है।
- (४३, ( उस भावयज्ञ में ) तुम्हारी ज्योति ( ऋग्नि ) क्या है ? श्रीर उस ज्योति का स्थान क्या है ? तुम्हारी कड़श्री क्या है ? तुम्हारी ऋग्नि प्रदीप्त करने वाली क्या वस्तु है ? तुम्हारी लकड़ी (सिमधा) क्या है ? ऋगेर हे भिक्ष ! तुम्हारा शांति मन्त्र क्या है ? ऋगप कौन से यज्ञ से यजन (पृजन) करते हो ? (उन ब्राह्मणों ने यह प्रश्न किया )।
- (४४) मुनि महाराज ने उत्तर दियाः—तप यही श्राग्न है। जीवा-तमा ही उस तपरूपी श्राग्न का स्थान है। मन, वचन श्रीर काय का योग रूपी कड़श्री है। श्राग्न को प्रदीप्त करने वाला साधन यह शरीर है। कर्म (रूपो) ईधन (सिमधा) है। संयम रूपी शांतिमन्त्र है। उस तरह (इतने साधनों से) प्रशस्त चारित्ररूपी यहा द्वारा मैं यजन

करता हूं ऋौर इसी प्रकार के यज्ञ को महर्षिजनों ने उत्तम गिना है।

- टिप्पणी—वेदकीय यज्ञ की तुलना जैन धर्म के संयम से की गई है। वेदकीय यज्ञ के अग्नि, अग्निकुंड, हविष्, सुवा, सुक्, समित्, तथा शांतिमन्त्र ये आवश्यक अंग हैं।
- (४५) (फिर उन ब्राह्मणों ने प्रश्न किया कि हे मुनि !) शुद्धि के लिये तुम्हारा स्नान करने का हृद (कुण्ड) कौनसा है ? तुम्हारा शांतितीर्थ कौनसा है ? श्रीर कहां पर स्नान कर तुम कर्मरज को साफ करते हो, सो कहो। श्राप से हम ये सब बातें जानना चाहते हैं।
- (४६) ( मुनि इनका इस प्रकार उत्तर देते हैं कि हे ब्राह्मणों !)
  धर्म रूपी हृद (कुएड) है। ब्रह्मचर्य रूपी शान्तितीर्थ है।
  श्रात्मा के (प्रसन्न भाव सिहत) विशुद्ध धर्म के कुएड में
  स्नान कर मैं कर्मरन को साफ करता हूं।
- (४७) ऐसा ही स्नान सुज्ञ पुरुषों ने किया है श्रीर महा ऋषियों ने भी इसी महास्नान की प्रशंसा की है। यह ऐसा स्नान है कि जिसको करके पिवत्र महर्षियों ने निर्मल (कर्म सहित) होकर उत्तम स्थान (मुक्ति) की प्राप्ति की है।
- विष्पाणी—चारित्र की चिनगारी से ही हृदय परिवर्तन होता है। जहां चारित्र की सुवास महँकती है वहां की मिलन वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं और वह प्रबल विरोधियों को भी क्षण मात्र में अपना सेवक बना लेती हैं। ज्ञान के मन्दिर चारित्र के नन्दन वन से ही शोभित होते हैं। जाति तथा कार्य में जंच नीच भाव चारित्र के स्वच्छ प्रवाह में

धुलकर साफ हो जाते हैं। चारित्ररूपी पारस बहुत से लोह खंडीं को सुवर्ण रूप में बदल डालता है।

ऐसां में कहता हूं:—

इस प्रकार 'हरिकेशीय' नामक वारहवां श्रध्ययन समाप्त हुआ।



# चित्तसंभूतीय \*\*\*\*\*\*\*\*

## चित्तसंभूति संवंधी

स्कृति (संस्कार) यह जीवन के साथ लगी हुई वस्तु है। जीवनशक्ति की यह प्ररणा पुनः पुनः श्रात्मा को कर्मबल द्वारा भिन्न २ योनियों में पदा (जन्म) करती है। परस्पर के प्रेम से ऋगानुवंध होता है ख्रौर यदि कोई विरोधी भ्रपवाद न हो तो समानशील के जीव—समान गुण वाले जीव-एक ही स्थान में उत्पन्न होते हैं; श्रीर श्रदूर प्रेम की सरिता में साथ २ रहते है श्रीर बाद में भी साथ ही साथ जन्म लेते हैं।

चित्त ग्रौर संमृति दोनों भाई थे। दोनों प्रखंड प्रेम की गांठ से छुड़े हुए थे। एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं किन्तु पांच पांच जनमों तक वे साथ ही साथ रहे थे। दोनों साथ ही साथ जीवित रहे थे। ऐसे प्रवल प्रेमी वंधु इहेमव में पृथक् पृथक् पदा हुए। इसका क्या कारण है ? छट्टे जन्म में दोनों के मार्ग क्यों जुदे जुदे पड़े ? उसका प्रवल कारण पकं की आसक्ति तथा दूसरे की निरासिक था। जा रे भारयों का प्रेम शुद्ध होता गया त्यों त्यों वे दोन् विक् प्रथम जन्म में वे दोनों दगार्ग देश में दास रूप में साथ ही साथ थे। वहां से मरकर दोनों कार्लिजर नामक पर्वत पर साथ ही साथ मृग हुए। संगीत पर उनका गहरा मोह था। वहां से मर कर दोनों मृत गंगा के किनारे हंस रूप में जन्मे। वहां भी स्नेह प्रवक रहे थीर प्रेमवश से एक ही साथ मरे। वहां से निकल कर उन दोनों ने काशी में चाएडाल का

उस समय नमुचि नामक प्रधान द्यति बुद्धिमान तथा प्रकांड संगीत शास्त्री होने पर भी महा व्यभिचारी था। उसने राजा के द्यन्तःपुर की किसी स्त्री से व्यभिचार किया। यह वात राजा को माल्म हुई। तो उसने उसे मृत्यु दंड की शिज्ञा दी।

होनहार वड़ी यलवान है। 'जो काह से न हारे, सोऊ हारे होनहार से' — की कहावत अचरशः सत्य है। राजा द्वारा दें। डेत नमुिव फांसी के तख़ते पर खड़ा किया जाता है किन्तु फांसी देने वाले चांडाल (यह चांडाल चित्त थ्रोर संमृति का पिता था) को नमुिच पर वड़ी दथा थ्रा जाती है थ्रीर वह उसे यचा कर थ्रपने घर में द्विपा लेता है थ्रीर थ्रपने दोनों पुत्रों (चित्त थ्रोर संमृति के पूर्व भव के जीवों) को संगीत विद्या सिखाने पर नियुक्त करता है। योग्य गुरू के पास रह कर थोड़े ही दिनों में वे दोनों वालक गानविद्या में पारंगत हो गये। मनुष्य कितना भी वड़ा बुद्धिमान क्यों न हो किन्तु विपयों के विकार बड़े ही जबईस्त हैं बुद्धिमान भी उनमें फंस जाते हैं। पड़ी हुई बुरी आदत अनेक दुःख भोगने पर भी नहीं छूटती। व्यमिचार के श्रीमयोग में इंडित नमुचि, दया करके चांडाल द्वारा वचाया गया था किन्तु नमुचि का सभाव नहीं छूटा। उसने चांडाल के घर में भूष्टि जान क्या बीवन किया थ्रीर

उसको भ्रागने प्राण लेकर वहां से भाग जाना पड़ा। अन्त में भूमते २ वह हस्तिनापुर आता है और पुग्य प्रभाव से अपनी विद्या तथा गुणों के कारण वहां के राजा का प्रधान मंत्री वन जाता है और उसके हाथ के नीचे सैंकड़ों मन्त्री काम करते हैं।

इधर, चित्त थ्रौर संभूति अपनी संगीत विद्या की प्रवीणता द्वारा देश की सारी प्रजा को आकर्षित करते हैं। इससे काशी राज के संगीत शास्त्रियों ने ईप्यों के कारण उन दोनों का श्रप-मान कराके राजा से नगर के बाहर निकलवा दिया। यहां यह दोनों बड़े ही दु:खित होते हैं श्रौर निरुपाय होकर पहाड़ पर से गिर कर आत्महत्या करने का विचार करते हैं। आत्महत्या के लिये ये पहाड़ पर चढ़ते हैं। यहां पर उनकी एक जैन मुनि से भेट होती है। वे उनसे अपने दुःख का कारण तथा उससे निवृत्ति के लिये आत्महत्या करने के निर्णय को कहते है। श्रनन्त करुणा के सागर वे जैन मुनि इन दोनों की कथा सुन कर उन्हे जगत की असारता, विषयों की क्र्रता और जीवन की ज्ञणभंगुरता का उपदेश देते है। इन दोनों को चैतन्य प्राप्त होता है। जनम का अन्त (आत्महत्या) करने के इरादे से आये हुये वे दोनों युवक, उस उपदेश को सुन कर जन्म परंपरा को ही नाश करने वाली जैन दीज़ा ग्रहण करते है। चांडाल कुल में उत्पन्न होने पर भी, उन्होंने जैन दीक्षा धारग की और उस प्रयत्न में लगे जिससे पुनः जन्म-मरण तथा भ्रप-मान सहना न पड़े। पूर्व संस्कारों की प्रवलता क्या नहीं करती।

विधिविधान बड़ा अटल है। कोई कुछ भी सोचा या किया करे, किन्तु होता वही है जो होनहार होता है। इसमें किसी की मीन मेख नहीं अति कि सिंहित्यम की न कोई तोड सका श्रीर न कोई तोड़ सकेगा। योगमार्ग की सुन्दर शिक्षा प्राप्त व दोनों त्यागी गुरुशाना प्राप्त कर देश विदेश फिरते फिरते तथा श्रनेक ऋढि-सिद्धियों की प्राप्ति करते हुये हिस्तनापुर में श्राते हैं जहां नमुचि प्रधानमंत्री था। नमुचि उन दोनों को देखकर पहिचान लेता है श्रीर कहीं ये लोग मेरा भंडाफांड़ (रहस्योद्ध्यटन) न करदें इस कारण उन दोनों को नगर के बाहर निकलवा देता है। चित्त इस सब कष्ट को शांति तथा श्रियकार भाव से सह लेता है किंतु संभृति इस श्रपमान को सहने में श्रसमर्थ होता है श्रीर प्राप्त सिद्ध का उपयोग करने को तथार होता है। चित्त, संभृति को त्यागी का धर्म समभाता है श्रीर क्षमा धारण करने का उपदेश देता है किंतु संभृति पर उसका कुछ भी श्रसर नहीं होता। उसके मुंह में श्रुंण के बादल के बादल निकलने लगते हैं।

श्रन्त में इस वात की खबर हस्तिनापुर के राजा (चक्रवर्ती सनत्कुमार) को लगती है। वह स्वयं श्रपनी सेना तथा परिवार के साथ उस महा तपस्वीराज के दर्शनार्थ श्राता है। संमृति मुनि उस चक्रवर्ती राजा का वंभव देख कर मोहित हो जाता है।

विषयां का श्राक्षेण देखी! श्रानेकों वर्ष तक उप्र तपस्या करने वाले तथा अद्धि सिद्धियों के धारक मुनि भी उस के पाश में फंस जाते हैं। श्रीर श्रज्ञानी तथा श्रद्धर्र्शी इस साधु को देखी! वह श्रपने श्रपृष्ठ वल से श्राप्त की हुई तपश्चर्या स्पी श्रम् त्य चिन्तामणि रन्त को ज्ञिणिक कामनास्पी कोडी के लिये फंक देने पर उतास हो गया! (जीन दर्शन में इसे 'नियाण' कहते हैं) चित्त के उपदेश का उस पर तिनक भी श्रसर न हुआ।

इसके बाद मर कर ये दोनों जीव अपनी पुरानी तपश्चर्या के कारण देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। वहां पूर्ण आयु भोगने के बाद आसिक के कारण इन दोनों का युगल दूट जाता है आर उसी से संभूति कंपिला नगरी में चुजनी माठा के उदर से बहादत्त नामक चक्रवर्ती राजा पैदा होता है। चित्त का जीव स्वर्ग से चय कर पुणिताल नगर में धनपित नगरसेठ के यहां जनम लेता है और पूर्व पुण्यों के योग से समस्त सांसारिक सुखों से परिवेष्टित होता है।

एक बार एक सन्त के मुख से एक गम्भीर गाथा सुन कर दिवस का जीव विचार में पड़ जाता है। उस पर विचार करते करते उसे ऐसा भाव होता है कि कहीं उसने यह गाथा सुनी है। उस पर विचार करते करते उन्हें जाति स्मरण (अनेक पूर्व भवों का स्मरण) हो आता है। उसी समय जगत की असारता का विचार करते हुए वह माता पिता का प्रेम, युवती दिख्यों के भोग विलास तथा सम्पत्ति का मोह छोड़ कर जैसे सांप कांचली को छोड़ देता है, वैसे ही सांसारिक विषयों को जात भार कर साधु की दीहा धारण करता है।

पूर्व भव का संभृति का जीव अव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था।
चक्रवर्ती के अनुपम, अप्रतिहत तथा सर्वोत्तम दिन्य सुखां को
भोगते हुए भी कभो कभी उसके हदय में एक अन्यक्त श्रीमी
सी वेदना हुआ करती है। एक समय वह उद्यान में विहार का
आन्द ले रहा था। यकायक नवपुष्पों का एक गुच्छा देख
कर उसे ऐसा मालुम हुआ कि ऐसा तो मैंने कहीं देखा है।
और अनुभव भी किया है। तुरन्त हो उसे जाति स्मरण हुआ
और देवगति के साथ सास्ति से अपने पिछले जन्मों के बृतान्त

भोगों की आसिक में अब तक जरा भी न्यूनता नहीं आई थी, परन्तु विशुद्ध एवं गाढ़ भातृ प्रेम ने भाई से मिलने की अपार उत्कर्ठा जागृत करदी। उसने उनकी ढंढ निकालने के लिये "आसि दासा मिगा इंसा चांडाला अमरा जहा " यह आधा एलांक देश देश में ढिढोरा पिटवा कर उसने प्रसिद्ध करा दिया और घोषगा की कि जो कोई इस एलोक को पूर्ण करेगा उसे आधा राज्य दिया जायगा।

यह वात देश के कोने कोने में फैल गई। संयोग से चित्र मिन गाम गाम विचरते हुए कंपिला नगरी के उद्यान में पिशारते हैं। यहां का माली उक्त अर्थ क्लोक गाते हुए वृज्ञों में पानी सींच रहा है। मुनि उस अर्थ क्लोक को सुन कर चिकत हो जाते हैं। अन्त में उस के द्वारा सर्व वृतान्त सुन कर उस अर्थ क्लोक को " इमाणों कृष्टिया जाई अन्त मन्नेण जा विणा" इन दो चरणों द्वारा पूर्ण करते हैं।

माली राज्य मग्डप में झाकर भरे दरवार में उस पूर्ण रलोक को खुनाता है! उसके सुनते ही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती माली हारा कहे गये बुतान्त में झपने भाई को देखते ही सृद्धित हो जमीन पर गिर पड़ता है। ऐसी स्थिति में राज्य पुरुप उस माली को केंद्र कर लेते है। झन्त में माली सारा चुतान्त कह सुनाता है और जिसने उस रलोक को पूर्ण किया. था उन योगीराज को दरवार में उपस्थित करता है।

व्रसदत्त व्रपने भाई का व्यपूर्व क्रोजस्वी शरीर देख क्रुर स्वस्थ (सावधान) होता है क्रोर प्रेम गट्गट् होकर भाई भा पृष्ठता है कि हे भाई! में तो ऐसी ब्रमुपम समृद्धि पाकर हिंगी भोग रहा है ब्रीर ब्राप इस न्युक्त रे दुःखी से दु खी है। कर फिरने हो इसका क्राप्त है। क्रिकेट भीटि के ब्रिकेट क्रिकेंस के सुख वताता है श्रौर त्याग में दुःख नहीं है किन्तु सच्चा सुख है यह सिद्ध कर देता है।

त्याग यह तो परम पुरुपार्थ का फल है। त्याग ,की शरण में बलवान पुरुप ही आ सकते है। सिंहनी का दूध जैसे सुवर्ण पात्र में ही ठहरता है वैसे ही त्याग भी सिंहचृत्ति वाले पुरुप में ही ठहरता है। सभी जीव आत्म प्रकाश से भेट करने में लालायित रहते है। थोड़ा बहुत पुरुषार्थ भी करते है। अपार दु ख भी उठाते हैं फ़िर भी वासना की गुत्थी में फंसे हुए प्राणी का पुरुपार्थ व्यर्थ जाता है और (तेली की घाणी) का बैल जिस तरह तमाम दिन चक्कर लगाते हुए भी जहाँ का तहां ही रहता है वैसे ही विचारे संसारी जीवों का आसित के सामने कुछ वश नहीं चलता। इस आसित रोग का नाश चित्त शुद्धि से ही हो सकता है। और ऐसे ही धन्तः करण में वैराग्य भावना सहज ही जागृत होती है।

(१) चांडाल के जन्म में (कर्मप्रकोप से) अपमानित होकर संभूति मुनीश्वर ने हस्तिनापुर में (सनःकुभारचक्रवर्ती की समृद्धि देखकर) नियाण (ऐसी ही समृद्धि मुक्ते भी मिले तो क्या ही अच्छा हो—इस वासना में अपना तप वेच डाला) किया और उससे पद्मगुल नाम के विमान से चयकर (दूसरे भवमें) चुलनी राणी के उदर में ब्रह्मदत्त के रूप में जन्म लेना पड़ा।

म्मी—कपर के वृत्तांत में सिवस्तर कथा दी है इसिलिये उसे यहाँ कर लिखने की आवश्यकता नहीं है। पद्मगुल विमान में प्रथम विमान के दोनों माई साथ २ थे। इसके बाद ही संभूति जुदा हो इसका कार्ण यहार कि उसने नियाण किया था। नियाण क्षणिक सुख कहां ? और आत्मदर्शन का सुख कहाँ ? इन दोनों की समानता कमी हो ही नहीं सकती।

- (२) इस तरह कंपिला नगरी में संभूति उत्पन्न हुआ। श्रौर (उनका भाई) चित्त पुरिमताल नगर में नगरसेठ के यहाँ पैदा हुआ। (चित्त के श्रंतः करण में तो वैराग्य के गाढ़ संस्कार थे इससे) चित्त तो सच्चे धर्म को सुनकर (पूर्वभावों का स्मरण होने से) शीब ही त्यागी हो गया।
- टिप्पण्णि—यद्यपि चित्त का जन्म भी अत्यंत धनाट्य घर में हुआ था किन्तु अनासक होने से वह कामभोगों से शीव ही विरक्त हो सका
  - (३) चित्त श्रौर संभूति ये दोनों भाई ( उपरोक्त निमित्ता से ) कंपिला नगरी में मिले श्रौर वे परस्पर ( भोगे हुए ) सुख दुःखों के फल तथा कर्मविपाक कहने लगे:—
  - (४) महाकीर्तिमान् तथा महा समृद्धिवान् त्रहादृत्त चक्रवर्ती ने श्रपने बड़े भाई को बहुत सम्मान पूर्वक ये वचन कहे:—
    - (५) हम दोनों भाई परस्पर एक दूसरे के साथ २ हमेशा रहने वाले, एक दूसरे का हित करने वाले श्रीर एक दूसरे के श्रित प्रेमी थे।
  - टिप्पणी—महादत्त को जाति स्मरण और वित्त को अवधिज्ञान हुआ था। इससे वे अपने अनुभवों की यात कर रहे हैं। अवधिज्ञान उस्कृति को कहते हैं जिसमें मर्यादा के अन्दर त्रिकाल की वातें ज्ञात है
  - (६) पहिले भव में हम दोनों का विशा में दास ही है निर्देश भव में का

मृतगंगा नदी के किनारे हंस रूप में थे और चौथे भव में कार्री में चाराडाल कुल में पैदा हुए थे।

- (७) (पांचवे भव में ) हम दोनों देवलोक में महाऋदि वाले देव थे। मात्र छट्टे जन्म में ही हम दोनों जुदे २ पड़ गये हैं।
- टिप्पणी-ऐसा कह कर संभूति ने छट्टे भव में दोनों ने जुदे २ स्थानों में जनम क्यों छिये इसका कारण पूंछा ।
- (८) चित्त ने कहा:—हे राजन ! तुमने (सनकुमार नामक चतुर्थ चक्रवर्ती की समृद्धि तथा उसकी सुनंदा नामकी स्त्री रह्न को देखकर आसक्ति पैदा होने से ) तपश्चर्यादि उच्च कमों का नियाण (ऐसा तुच्छ फल) मांगा। इस कारण उस फल के परिणाम से ही हम दोनों का वियोग हुआ। टिप्पणी—तपश्चर्या से पूर्वकर्मों का क्षय होता है। कर्मक्षय होने से आत्मा हलकी होती है और उसका विकास होता है। पुण्यकर्म से सुंदर संपत्ति मिलती है किन्तु उससे आत्मा के पाणी बनने की संभावना है। इसीलिये महापुरुष पुण्य की कभी भी इच्छा नहीं करते, केंवल पाणकर्म का क्षय ही चाहते हैं। यद्यपि पुण्य सोने की सांकल के समान हैं परन्तु सांकल (चाहे वह किसी भी धातु की चयों न हो) बंधन तो है ही। जिसको बन्धन रहित होना हो उसको सोने की सांकल को भी छोड़ देने की कोशिश करनी चाहिये और अनासक्त भाव से कर्मों को भोग लेना चाहिये।
  - (ब्रह्मदत्त ने कहा:—) पूर्व जन्म में सत्य और कपट रहित तपश्चर्यादि शुभकर्म करने के कारण ही आज में (ऐसी समृद्धि पाकर क्षेत्रस्य भोग रहा हूँ। परन्तु हे चित्त

- (१०) (चित्त ने कहा:—)हे राजेन्द्र ! जीवो द्वारा किये गये सव (सुन्दर या खराव) कमें, फलवाले ही होते हैं। किये हुए कमों को भोगे विना छुटकारा होता ही नहीं इसलिये मेरा जीव भी पुरायकमों के उदय से उत्तम प्रकार की संपत्ति तथा कामभोगों से युक्त था।
- (११) हे संभूति ! जैसे तृ अपने आपको महाभाग्यवान् समक रहा है वेसे ही पुराय के फज से युक्त वित्त को भी महान् ऋद्विवान् जान । श्रौर हे राजन् ! जैसी उस (वित्त) की समृद्धि थी वैसी ही प्रभावशाली कान्ति भी थी।
- टिप्पणी—उपरोक्त दो वलोक चित्त मुनि ने कहे थे और आज वह मुनि

  र रूप में था। यद्यपि इन्द्रियनियमादि कठिन तपश्चर्या तथा आभूपणः
  आदि शरीर विभूपा के त्याग से आज उसकी देह कान्ति बाहर से
  झांसी दिखती थी फिर भी उसका आत्म ओजस् तो अपूर्व ही था।
- (१२) राजा ने पृंछा:—यदि ऐसी समृद्धि मिली थी तो उसका त्याग क्यों किया ? चित्त मुनिने जवाव दिया:—परमार्थ (गंभीर अर्थ) से पूर्ण फिर भी अरूपशब्दों की गाथा (एक मुनिमहाराज ने एक समय) बहुत से मनुष्यों के समृह में कही थी। उस गाथा को सुन कर बहुत से भिक्षकः चारित्र गुण में अधिकाधिक लीन हुए। उस गाथा को सुनकर में अमण (तपस्ती) बना।

टिप्पर्गा—समृद्धि पाकर भी सन्तोप न था किन्तु यह गाथा तो वंधन मद्भण दूर हो गये और त्याग प्रहण किया।

(१३) ( ब्रह्मदत्त श्रासक्त था । दूसको त्याग श्रच्छा हो होत्री। था, इसलिये जार कि कि कि श्रीक्रमप्रने- त्रण दिया ) उच्च, उदय, मधु, कर्क, श्रौर ब्रह्म नाम के पांच सुन्दर महल, भिन्न २ प्रकार के दृश्य (रङ्गशालाएं) तथा मंदिर पांचाल देश का राज्य श्राज से तुमको दिया। हे चित्त ! तुम प्रेम पूर्वक उसे भोगो।

- (१४) ( श्रोर ) हे भिक्षु ! विविध वार्जित्रों के साथ नृत्य करती हुई श्रोर मधुर गीत गाती हुई मनोहर युवतियों के साथ लिपट कर इन रम्य भोगों को भोगो । यही मेरी इच्छा है। त्याग यह तो सरासर कष्ट है।
- (१५) उमड़ते हुए पूर्व स्तेह से तथा काम भोगों में त्रासक्त हुए:

  महाराजा ब्रह्मदत्त को उसके एकान्त हितचिन्तक तथा
  संयम धर्म में लग्न ऐसे चित्त मुनि ने इस प्रकार
  जवाब दिया:—
- (१६) सभी गायन एक प्रकार के विलाप के समान हैं, सभी प्रकार के नृत्य या नाटक विटंबना रूप हैं, सारे अलंकार बोक के समान हैं, और सभी कामभोग एकान्त दु:ख के ही देने वाले हैं।
- टिप्पग्री—यह सारा संसार हो जहां एक महान् नाटक है वहां दूसरे नाटक क्या देखें ? जिसजगह कुछ समय पहिले सगीत तथा मृत्य हो रहे थे वहीं कुछ ही समय बाद हाहाकार भरा करुण क्रन्दन सुनाई पढ़ता है, ऐसी परिस्थिति में संगीत किसे मानें ? आभूपण केवल लिश चित्त वृत्ति को पुष्टकरने वाले खिलौने हैं, उनमें समझदार का स्माह कैसा ? भोग तो आधि, ज्याधि, उपाधि इन तीनों तापों

- (१७) तपश्चर्या रूपी धन से धनवान, चारित्र गुणों में लीन, श्रीर काम-भोगों की श्रासिक से विलक्कल विरक्त ऐसे भिक्षश्रों को जो सुख होता है वह सुख, हे राजन्! श्रद्धानियों को मनोहर लगने पर भी श्रदेक दु:खों को देने वाले ऐसे कामभोगों में कभी हो ही नहीं सकता।
- (१८) हे नरेन्द्र ! मनुष्यों में नीच, माने जाते ऐसे चांडाल जीवन में भी हम तुम दोनों साथ ही साथ थे। उस जन्म में (कर्मवशात्) हम पर वहुत से श्रादिमयों ने श्रप्रीति की थी तथा हम चाएडाल के स्थानों में भी रहे थे। (ये सब वातें तुम्हें याद हैं कि नहीं ?)
- दिप्पणी—चांडाल जाति का अर्थ यहां चांडाल कर्म करने वाले से है। जाति से तो कोई ऊंच या नीच होता ही नहीं। कर्म (कृति) से ऊँचा नीचापन भाता है। यदि उत्तम साधन पाकर भी पिछले भव में की हुई गफलत को इस समय फिर की तो आत्म- विकास के वदले पतित हो जामोगे—इसीलिये पूर्वभव की धातें याद दिलाई हैं।
- -(१९) जिस तरह चांहाल के घर जन्म लेकर उस दुष्ट जन्म में हम तमाम लोगों की निन्दा के पात्र हुए थे, फिर भी शुभ कर्म (तपस्या) करने से आज इस स्थिति को पहुँचे हैं वह भी पहिले किये गये कर्म का ही फल है। (यह न भूलना।)

- (२०) हे राजन ! पुराय के फले से ही तू महासमृद्धिवान तथा महाभाग्यवान हुआ है, इसिलये हे राजन ! चिर्णिक इन भोगों को छोड़कर शाश्वत सुख (मुक्ति) की प्राप्ति के लिये तू त्याग दशा को आंगीकार कर।
- (२१) हे राजन् ! इस (मनुष्य के ) क्षिणिक जीवन में पुण्य-कर्म नहीं करने वाला मनुष्य धर्म को छोड़ देने के बाद जब कभी मृत्यु के मुख में जाता है तब वह परलोक के लिये बहुत ही पश्चात्ताप करता है।
- (२२) जैसे सिंह मृग के बच्चे को पकड़ कर ले जाता है वैसे ही अन्त समय में मृत्युरूपी सिंह इस मनुष्य रूपी मृग-शावक को निर्दय रोति से घर दबाता है और उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसे मदद नहीं कर सकता ।
- (२३) (कर्म के फल स्वरूप प्राप्त) उन दु:खों में ज्ञाति (जाति) वाले, मित्रवर्ग, पुत्र या परिवार के लोग हिस्सा नहीं बाँट सकते। कर्म करने वाले जीव को वे स्वयं भोगने पड़ते हैं, क्योंकि कर्म तो श्रपने कर्ता के पीछे २ लगे रहते हैं, (दूसरों के पीछे नहीं)।
- टिप्पणी—कर्म ऐसी चीज़ है कि उसका फल उसके कर्ता को ही मिलता है, उसमें अपने जीवारमा सिवाय कोई कुछ भी न्यूनाधिक हीं कर सकता। इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि तुम्हीं हारा बंध या मोक्ष कर सकते हो।

स्ति विश्व त्राप्त क्षेत्र, महल, धन धान्य त्रादि सबकोः

श्रकेला यह जीवात्मा ही सुन्दर या श्रसुन्दर परलोक (परभव) को प्राप्त होता है।

टिप्पाणी —यदि शुभ कर्म होंगे तो अच्छी गति होती है और अशुभ कर्मों के योग से अशुभ गति होती है।

(२५) ( मृत्यु होने के थाद ) चिता में रक्खे हुए उसके असार ( चेतना रहित निर्जाव ) शरीर को अग्नि में जलाकर कुटुम्बीजन, पुत्र, स्त्री श्रादि ( उसको थोड़े से समय में भूल कर ) दूसरे दाता ( मालिक ) का श्रनुगमन ( श्राज्ञा पालन ) करने लगते हैं।

ेटिप्पणी—इस संसार में सब कोई अपनी स्वार्थ सिद्धि तक ही संबंध रखते हैं। अपना स्वार्थ सिद्ध हुआ कि फिर कोई पास खड़ा नहीं होता। दूसरे की सेवा में लग जाते हैं।

(२६) हे राजन्! मनुष्य की श्रायु तो थोड़ा सा भी विराम लिये विना निरंवर चय होती रहती है (क्यों २ दिन श्रिधक वीतते जाते हैं स्यों २ श्रायु कम होती जाती है ) क्यों २ वृद्धावस्था श्राती जाती है त्यों २ यौवन की कान्ति कम होती जाती है । इसलिये हे पांचाल राजेश्वर! इन वचन को सुनो श्रीर महारम्भ (हिंसा तथा विपयादि) के कृर कार्यों को न करो।

चित्त के एकान्त वैराग्य को उत्पन्न करने वाले एसे मुवोध वाक्यों को मुनकर ब्रह्मद्त्त (संभृति का जीव) वोला—

(२७) हे साधु पुरुष ! जो व्यवेश ह्याप सुक्ते हे रहे कि हाजारी समम में हो शासी शिक्स के कि कि कि कि कि

- ( श्रासिक्त ) के कारण हैं परन्तु हे श्रार्थ ! हम जैसे दुर्वलों द्वारा उनका जीतना महा किटन है। ( श्रासक्त पुरुषों से काम भोग छूटना बड़ी किटन बात है।)
- (२८) हे चित्त मुनि ! (इसीलिये) हस्तिनापुर में महासमृद्धिवान् सनत्कुमार चक्रवर्ती को देखकर मैं काम भोगों में श्रासक्त होगया श्रीर श्रशुभ नियाण (थोड़े के लिये श्रधिक का त्याग) कर डाला।
- (२९) वह नियाण (निदान) करने के वाद भी (श्रीर तुम्हारे उपदेश देने पर भी) श्रासक्ति दूर न की, उसी का यह फल मिला है। श्रव धर्म को जानते हुए भी कामभोगों की श्रासक्ति मुक्त से नहीं छूटती।
- िटिप्पाणि—वासना जगने पर भी यदि गम्भीर चिन्तन द्वारा उसका निवारण किया जाय तो पतन न होने पावे।
- (३०) जल पीने के लिये गया हुआ (बहुत प्यासा) किन्तु दलदल में फँसा हुआ हाथी (जैसे) किनारे को देखते हुए भी उसे नहीं पा सकता (वैसे ही) काम भोगों में आसक्त हुआ मैं (काम भोग के दुष्ट परिणामों को जानते हुए भी) त्याग मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता।
- (३१) प्रति चण काल (आयुज्य) बीत रहा है और रात्रियां जल्दी २ बीतती जारही हैं। (जीवन क्षय हो रहा है)। मनुष्यों के ये भोगविलास भी सदा काल (स्थर) रहते वाले नहीं हैं। जैसे नीरस वृच्च को पच्ची छोड़ देते हैं;

- टिप्पणी—युवावस्था में जो भोगविलास बढ़े प्यारे लगते थे, वे ही वृद्धावस्था में नीरस लगते हैं।
- (३२) यदि भोगों को सर्वथा छोड़ने में समर्थ न हो तो हे राजन्! दया, प्रेम, परापकार, छादि छार्थकर्म कर। सर्व प्रजा पर द्याछ तथा धर्मपरायण होकर राज्य करेगा तो तृ यहां (गृहस्थाश्रम) से चलकर कामरूप धारण करने वाला उत्तम देव होगा। (ऐसा चित्तमुनि ने कहा)
- टिप्पणी—गृहस्थाश्रम में भी यथा शक्ति त्याग किया जाय तो उससे देवधोनि मिलती है।
- (३३) (योगासक राजा कुछ भी उपदेश प्रहण न करने से चित्तमुनि निर्वेदता (खिनता) श्रनुभव करते हुए वोले:—) हे राजन् ! तुम इस संसार के श्रारंभ तथा परिप्रहों में खूव श्रासक हो रहे हो। काम भोगों को छोड़ने की तुम्हारी थोड़ी सी भी इच्छा नहीं है तो मेरा सव उपदेश व्यर्थ हो गया ऐसा में मानता हूँ। हे राजा! श्रव में श्रापसे विदा होता हूँ (ऐसा कहकर चित्तमुनि वहां से विहार कर गये)।
- (३४) पांचालपित ब्रह्मदत्त ने पिवत्र मुनि के हितकारी वचन (उपदेश) न माने श्रीर श्रन्त में, जैसे उत्तम कामभीग उसने भोगे थे वैसे ही उत्तम (घोरातिघोर सातवें क्षित्र में वह गया।

दिप्पण्यि चंसा करोंगे वेंसा मोगोग्रेन

(३५) श्रोर चित्तक्षी अस्ति । अ

तथा उम्र तपश्चर्या धारण कर, एवं श्रेष्ठ संयम का पालन कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए।

टिप्पग़ी—भोगों को भोगने के बाद उनको त्याग करना बढ़ा ही कठिन है और उनकी आसक्ति हटाना तो और भी कठिन है। भोगों के जाल से निकल भगना बहुत ही कठिन है इसलिये मुमुक्षु जीव को भोगों से दूर ही रहना चाहिये।

'ऐसा मैं कहता हूँ'—

इस प्रकार चित्तसंभूतीय नाम का तेरहवां प्रकरणः समाप्त हुत्रा।

# इषुकारीय -



## ( इषुकार राजा सम्वन्धी )

#### १४

गति का जीवन पर गहरा थ्रसर पड़ता है। ऋणा-नुवन्ध गाढ़ परिचय से जागृत होते हैं। सत्संग से जीवन थ्रमृतमय हो जाता है और परस्पर के प्रेम भाव से एक दूसरे के प्रति सावधान रहे हुए साधक साथ साथ रहकर जीवन के थ्रन्तिम ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं।

इस श्रध्ययन में ऐसे ही द्वः जीवों का मिलाप हुशा है। देवयोनि में से श्राये हुए द्वः पूर्व योगी एक ही इपुकार नगर में उत्पन्न होते हैं। जिन में से चार ब्राह्मण कुल में तथा दो ज्ञिय कुल में पदा हुए। ब्राह्मण कुलोत्पन्न दो कुमार योग संस्कारों की प्रवलता से युवावस्था में ही भोग विलासों की श्रासक्ति से दूर होकर योग धारण करनेके लिये प्रेरित होते हैं। दो जीव जो इन दोनों के माता पिता है वे भी उनके योग प्रकृषता देख कर योग धारण करने का विचार करते हैं। श्रीव्र यह सारा ही कुटुम्ब त्यागमार्भ का श्रवसरण हो है है। अपना प्रकृषता विचार करते हैं। श्रीव्र यह सारा ही कुटुम्ब त्यागमार्भ का श्रवसरण हो है। स्वाप्त करने ना विचार करते हैं। श्रीव्र यह सारा ही कुटुम्ब त्यागमार्भ का श्रवसरण हो है। स्वाप्त नार में धारण करने का विचार करते हैं।

को तोड़ कर एक ही साथ इन चार समर्थ आत्माओं के महा-भिनिष्क्रमण से एक अपूर्व जागृति आती है। सारा नगर धन्यवाद को ध्वनियों से गुंज उठता है। इस को सुन कर वहाँ की रानी की भी पूर्वभव की प्रेरणा जागृत होती है और उसका असर यकायक राजा परे भी पड़ता है। इस तरह से द्यः आत्मादं संयम मार्ग अंगीकार कर कठिन तपश्चरण द्वारा अंतिम ध्येय मोत्त को प्राप्त होते हैं। तत्सम्बन्धी पूरा वर्णन इस अध्ययन में किया गया है।

#### भगवान बोलेः—

- (१) पूर्वभव में देव होकर एक ही विमान में रहने वाले कुछ (छः) जीव देवलोक के समस्त रम्य, समृद्ध, प्राचीन तथा प्रसिद्ध ऐसे इषुकार नगर में पैदा हुए।
- ﴿२) श्रपने वाकी बचे हुए कर्मों के उद्य से वे उचकुल में पैदा हुए श्रौर पीछे से संसारभय से भयभीत होकर समस्त श्रासक्तियों को छोड़ कर उनने जिनदीक्षा (संयम धर्म) की शरण ली।
  - (३) उन छः जीवो में से एक पुरोहित तथा दूसरा जसा नाम की उसकी पत्नी थी और दूसरे दो जीव मनुष्य जन्म पाकर उनके यहां कुमार रूप में श्रवतीर्ण हुए।

िशी—इस प्रकार ये ४ जीव ब्राह्मण कुल में तथा २ जीव वहां के तथा जा रानी के रूप में क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए।

्रे क्रिंप के जरा और मृत्यु के भय से डरे हुए और इसी कारण के किसार के मार के सार चक्र से छूटने के लिये किसी योगीश्वर को देखकर कामभोगों से विरक्त होगये।

टिप्पर्गा—नंगल में कुछ योगिननों के दर्शन होने के बाद पूर्वयोग का स्मरण हुआ और जन्म, जरा तथा मृत्यु से भरे हुए इस संसार से स्टूटने हे लिये टन्हें आदर्श स्याग की अपेक्षा (इच्हा) जगी।

- (५) अपने कर्तव्य में परायण ऐसे उन दोनों ब्राह्मण कुमारों को अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हुआ और पूर्वभव में संयम तथा तपश्चर्या का पालन किया था यह बात उन्हें याद आई।
- (६) ईसिलिये वे मनुष्य जीवन में दिव्य माने जाने वाले श्रेष्ठें: काम भोगों में भी श्रासक्त न हुए श्रीर उत्पन्न हुई श्रपृर्व श्रद्धा से मोक्ष के इच्छुक वे कुमार श्रपने पिता के पास् श्राकर नम्रतापूर्वक इस प्रकार वोले —
- (७) यह जीवन श्रानत्य है, जिस पर श्रानेक रोगादि से युक्तः तथा श्रह्प श्रायुष्य वाला है। इसलिये हमकी ऐसे (संसार चढ़ाने वाले) गृहस्थ जीवन में तिनक भी सन्तोप नहीं होता। इसलिये मुनि दीचा (त्यागी जीवन) श्रहण करने के लिये श्राप से श्राज्ञा मांगते हैं।
- (८) यह मुनकर दु: खित उनके पिता, उन दोनों मुनि ( मानूना से चारित्र शाली ) त्रों के तप ( संयमी जीवन) में डालने वाला यह वचन वोले:—हे पुत्रो ! वेद के प्रमुख्या में पुरुषों ने यों कहा है कि पुत्र रहित पुरुष की हो होती है। त्रां ते

विष्याणी-अपुंत्रस्य गतिनीस्ति, स्वर्गी नैत्र च नैव च । तस्मास्प्रतमुखं दृष्टा पश्चाद्धमें समाचरेत्॥

वेद धर्म का यह वाक्य एक खास अपेक्षा से कहा गया है। वेद धर्म में भी अखंड ब्रह्मचर्य धारण करने वाछे बहुत से स्पागी महात्मा हुए हैं।

जीसा कहा भी है-

अनेकानि सहस्राणि कुमारा ब्रह्मचारिणः

स्वर्गे गच्छन्ति राजेन्द्र ! अकृश्वा कुछसंततिम् ।

उन दोनों बालकों ने अभी तक स्थामी का चेश धारण नहीं किया था। यहां उनकी वैराग्य भावना की प्रबलता बताने के लिए 'मुनि' शब्द का प्रयोग किया है।

(९) इसिलये हे पुत्रो ! वेदों का श्रम्छी तरह 'श्रध्ययन' करके, ब्राह्मणों को संतुष्ट करके तथा स्त्रियों के साथ भीग भाग कर तथा पुत्रों को घर की व्यवस्था सौंप कर बाद में ही श्ररूपय में जाकर प्रशस्त संयमी बनना।

दिष्पाणी—डन दिनों, झाझणों को दान देना तथा वेदों का अध्ययन करना थे दो काम गृहस्थ धर्म के उत्तम अंग माने जाते थे। कुछ-धर्म की छाप सब जीवों पर रहती है इसीलिंगे ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्था-श्रम फिर उसके बाद वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने को कहा है। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि इस प्रतिपादन में पिता की पुत्रवत्सलता गा विशेष स्पष्ट दिखाई दे रही है। इंग (ब्रह्म ब्राह्मण) बहिरातमा के गुण (राग) रूपी ईधन से

मोह हुए बायु दिस्सिक प्रव्वलित तथा पुत्र वियोग

रसे इस प्रकार दीत \_

- वचन (कि है पुत्रों ! त्यागी न वनो श्रादि उद्विग्न वचन ) पुनः २ कहने लगा ।
- (११) श्रौर पुत्रों को तरह २ के प्रलोभन देकर तथा श्रपने पुत्रों को क्रमशः धनोपार्जन तथा उसके द्वारा विविध भोगोप-भाग जन्य सुखों का श्रनुभव करने का उपदेश देते हुए: उस पुरोहित (पिता) को वे दोनों कुमार विचार पूर्वकः ये वचन वोले—
- (१२) हे पिताजी ! मात्र वेदाध्ययन से इस जीव को शरण नहीं मिलती । जिमाये हुए त्राह्मण, प्रकाश (श्रातमभान ) में थोड़े ही ले जाते हैं ? उसी तरह उत्पन्न हुए पुत्र भीत ( कृत पापों के फल भागने में ) शरणभूत नहीं हो सकते । तो श्रापके कथन को कौन मानेगा ?
- टिप्पणी अपने-धर्म को मृत कर केवल बाहाणों को जिसाने में सदमें की प्राप्ति देश सकती है किन्तु अज्ञान और बढ़ता है। साप्त वेदाध्ययन से दे कहीं स्वर्ग नहीं मिल सकता। स्वर्ग या सुक्तिः की प्राप्ति तो धारण किये सत्य धर्म द्वारा ही हो सकती है ?
- (१३) श्रीर कामभाग तो केवल च्लामात्र ही मुख तथा बहुतः काल पर्यत दुःख देने वाले हैं। जिस वस्तु में दुःखः विशेष हो वह सुख केसे दे सकता है। श्रथीत् ये कामभाग केवल अनर्थ परंपरा की खान नथा मुक्ति स्पूर्व के शत्रु समान हैं।
- (१४) विषयसुखों के लिये जहां तहां घूमता हुआ यह किया कामभोगों से विरक्त न के र हमेशा रात ही है। की रहता है।

लिये दूषित प्रवृत्ति करनेवाला ) पुरुष घनादि साधनों को हुँद्ते हुँद्ते खन्त में बुद्धापे से धिरकर मृत्युशरण होता है।

- टिप्पगी—आसक्ति ही आत्मा को सचा मार्ग मुला कर संसार में भट-काती है। आसक्त मनुष्य असऱ्य मार्ग में अपनी तमाम जिंदगी वर्वाद कर डाछता है और अन्त में अपूर्ण वासनाओं के साथ मरता है।
- (१५) यह (सोना, घरबार आदि) मेरा है और यह मेरा नहीं है; मैंने यह ज्यापार किया, अमुक नहीं किया—इस प्रकार बड़बड़ाते हुए प्राणी को रात्रि तथा दिवस रूपी चोर (आयु की) चोरी कर रहे हैं। इसलिये प्रमाद क्यों करना चाहिये ?
- टिप्पणी— समस्त के दूषित वातावरण में तो यावन्मान्न जीव सद रहे हैं। अपनी प्रिय वस्तु पर आसक्ति तथा अप्रिय वस्तु पर हेष करना यह जगत का स्वभाव है। केवल समझदार मनुष्य ही पेसी दशा में जागृत रह सकता है और जो घड़ी निकल गई वह अब कभी छौट कर नहीं आयेगी ऐसा मान कर अपने आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होता है।
- (१६) (पिता कहता है:—) जिसके लिये सारा संसार (सव प्राणीमात्र) महान तपश्चर्या (भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी आदि सहन) कर रहे हैं वे श्रच्य धन, स्त्रियां, कुटुंब तथा कामभोग तुमको श्रनायास ही भरपूर प्रमाण में मिले हैं।

पूर्व पिता (पुरोहित) हुन वचनों से ही यह बताना चाहता है कि

संयम क्यों छेते हो ? किन्तु सच्ची वात तो यह है कि संयम, योग अथवा तप का मुख्य उद्देश्य भौतिक सुख प्राप्ति है ही नहीं, केवल आत्म सुख के लिये ही ये साधन हैं।

- (१७) (पुत्रों ने जवाव दिया:—) हे पिताली ! सत्यधर्म की धुरा धारण करने के अधिकार में स्वलन, धन या कामभोगों की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती । उसके लिये ही हम प्रतिबंध रहित होकर निर्दृद विचरने वाले और भिन्नालीवी वनकर गुण समृह को धारण करने वाले साधु होना नाहते हैं।
- टिप्पणी—इस छोटे से घर का ममत्व छोड़कर समस्त विश्व को इम अपना घर मानेंगे और भिक्षाजीवी आदर्श साध होकर भारमगुण की आराधना करेंगे।
- (१८) जैसे अरिए (काष्ट ) में अग्नि, दूध में घी और तिलों में तैल प्रत्यचरूप से दिखाई न देने पर भी ये सब वस्तुएं संयोग मिलने से पैदा होती हैं वैसे हो हे पुत्रो ! पंच- भूतात्मक शरीर में से ही जीव उत्पन्न होता है। शरीर के भस्मीभूत होने पर आत्मा जैसी कोई भी वस्तु नहीं रहती। (तो फिर यह कष्ट साधन क्यों करते हो ? धर्म- कर्म की क्या जरूरत है ?)

टिप्पणी—चार्वाक मत का यह कथन है कि पंचमहामृत से ही हिं प्रक्ति उत्पन्न होती है और यह दारीर के नादा होते ही की कार्ता है। अर्थात आत्मा जैसी कोई स्वतंत्र वस्तु है ही किन्तु पह मान्यता ज्ञान्तु है । किन्तु पह मान्यता ज्ञान्य है । कि वह दारीरनादा के साथ २ नष्ट ही होती हैं। आत्मा; अक्षय, अमर तथा दादिवत है। काष्ट, दूध तथा तिल में अग्नि, घी तथा तैल प्रत्यक्ष न देखने पर भी इनका अव्यक्त अस्तित्व उन्में हैं उसी तरह दारीर धारण करते समय कमों से घिरी हुई आत्मा उसमें हैं और दारीर पतन के साथ २ वह उसको छोड़कर दूसरे दारीर में प्रविष्ट होती है।

(१९) (पुत्रों ने कहा: —) हे पिताजी ! श्रात्मा श्रमूर्त होने से इंद्रियों द्वारा देखा या छुश्रा नहीं जा सकता। श्रीर सचमुच श्रमूर्त होने से ही वह नित्य माना जाता है। श्रात्मा नित्य होने पर भी जीवात्मा में स्थित श्रज्ञानादि होषों के बंधन में बंधा हुश्रा है। यही बंधन संसार परिश्रमण का मूल है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

दिटिप्पणी — यावन्मात्र अमूर्त पदार्थ नित्य ही होते हैं। जैसे आकाश अमूर्त है तो वह नित्य भी है। परन्तु आकाशद्रव्य अखंड नित्य है किन्तु जीवात्मा (कर्म से बंधा हुआ जीव) परिणामी नित्य हैं और इसीलिये कर्मवशात् वह छोटे बढ़े आकारों के (रूपों में) शरीर के अनुरूप होकर ऊंच नीच गतियों में गमन करता है।

(२०) श्राज तक हम मोह के वंधन से धर्म का स्वरूप नहीं जान सके थे श्रीर इसीलिये भवचक्र में रुंधे हुए थे, तथा काम भोगों में श्रासक्त हो होकर पापकर्मी की परंपरा को बढ़ाते जाते थे। परन्तु श्रव तो सब कुछ जानकर फिर वैसा काम नहीं करेंगे।

हिंदि समय हम श्री अज्ञान से शारि के मोह में आसक

करेंगे। ऐसे विषय सुख कभी नहीं भोगें—सो तो है ही नहीं। इसलिये श्रव तो इस राग (सांसारिक श्रासक्ति) को छोड़कर भिक्षधर्म में श्रद्धा रखना यही श्रेष्ट है।

- ·तरुण पुत्रों के इन हृदय द्रावक वचनों ने पिता के पूर्व संस्कारों को जागृत कर दिया फिर उसने अपनी पत्नी को बुलाकर कहाः—
- (२९) हे वाशिष्टि! मेरा भिचाचरी (भिक्षुधर्म प्रह्ण) करने का समय अब आ गया है क्योंकि जैसे वृच्च शाखाओं से शोभित तथा स्थिर रहता है; शाखाओं के दूटने से जैसे वह सुन्दर वृच्च एकदम शोभाहीन टूंठ दिखाई देता है पैसे ही अपने दोनों पुत्रों के विना मेरा गृहस्थ जीवन में रहना योग्य नहीं है।

ंटिप्पर्गा - पत्नी का विशय गोत्र होने से उसे वाशिष्ठि कहा है।

- -(३०) जिस तरह पंख विना पन्नी, संप्राम में सैन्य रहित राजा, जहाज में द्रव्यहीन व्यापारी शोभित नहीं होता और उन्हें शोक करना पड़ना है वैसे ही पुत्र रहित मैं नहीं शोमता श्रीर दु:खी होता हूँ।
- (३१) (यह हुनकर उसको छी जसा पति की परीक्षा करने के लिये यों वोली:—) उत्तम प्रकार के रसवाले तथा है तो हिंग तमाम कामभोगों के साधन हमें मिले हुए हैं तो हिंग तो का कामभोगों (इन्ट्रियों के निपयों ) को खुन हो है कि प्रमाधन

- (३२) (ब्राह्मण ने कहा:—) हे भाग्यशालिनि ! (कामभोगों के)
  रस खूब भोग लिये हैं। यौवन श्रव चला जा रहा है।
  किर श्रसंयमित जीवन जीने के लिये (श्रथवा किसी
  दूसरी इच्छा से) मैं भोगों को नहीं छोड़ रहा हूँ; किन्तु,
  त्यागी जीवन के लाभालाभ, सुखदु:खों को खूब समभः
  सोचकर मौन (संयममार्ग) को श्रंगीकार कर रहा हूँ।
- टिप्पणी— भिक्षुजीवन में तो भिक्षा मिले और न भी मिले, तथा अनेक प्रकार के दूसरे संकट भी सहने पड़ें। गृहस्थजीवन में तो सब कुछ-स्वतन्न, भोगने को मिला है फिर भी त्यागी जीवन की इच्छा हो इसमें पूर्व जन्म के संस्कार ही कारण हैं। त्याग में जो दुःख है वह गौण है और जो आनन्द है वही मुख्य है। यह आनन्द, यह शान्ति, यह विराम, भौगों में कहीं किसी ने कभी अनुभव नहीं किया और करेगा भी नहीं।
- (३३) पानी के प्रवल प्रवाह के विरुद्ध जानेवाला वृद्ध हंस जैसे वाद में पछताता है वैसे ही तुम भी स्तेही जनों का समरण करके खेदखित्र होगे। इसलिये गृहस्थाश्रम में मेरे साथ रही श्रीर यथेच्छ भोग भोगो। भिन्नाचरी का मार्ग तो बहुत दु:खद है। (यह वाक्य जसा ने श्रपने पतिः से कहा है)।

टिप्प्णी-उक्त क्लोक में सयममार्ग के कष्ट और गृहस्थजीवन के

तथा है भद्रे! जैसे सांप कांचली छोड़कर चला जाता है वैसे मेरे दोनों पुत्र भोगों को छोड़कर चले जा रहे हैं

हमारी भी मान्यताएँ थीं, परन्तु अय तत्व का स्वरूप जानने के बाद वह बात हदय में विछक्तज नहीं उत्तरतो ।

- (२१) सव दिशाश्रों से घिरा हुआ यह सारा संसार तीक्ष्ण शस्त्र-धारों (श्राधि, ज्याधि तथा उपाधि के तापों) से हना जा रहा है। ऐसी दशा में हमें गृहजीवन में लेशमात्र भी। श्रीत ज्यन्त्र नहीं होती। (ऐसा पुत्रों ने कहा)
- (२२) (पिता ने फहा:—) हे पुत्रो ! यह संसार किससे आयृत्त धिरा हुआ ) है ? कौन उसे हन (मार ) रहा है ? संसार में कौन से तीक्षा शक्त्रों की धारें पड़ रही हैं? इन सबके उत्तर मुम्म शंकित हृदय को शीव दो ।
- (२३) (पुत्रों ने उत्तर दिया:—) हे पिताजी !यह सारा जीवलोक मृत्यु से पीड़ित है और बृद्धावस्था द्वारा श्रावृत्त है। तीक्ष्ण श्रस्त्र की धार रूपी दिन रात हैं जो श्रायु को प्रतिच्या काट २ कर कम कर रही हैं। हे पिताजी ! श्राप इसा को खूव सोची विचारों।
- (२४) जो दिन रात निकल जाता है वह फिर कभी लौट कर वापिस नहीं श्राता। तब ऐसे छोटे समय वाले जीवन में श्रवमें करने वाले का जीवन विलक्कल निष्फल चला जाता है।
- टिप्पणी—अमृत्य बिंद्यां (क्षण) फिर फिर नहीं मिलत समय चला जाता है किन्तु उसका परचात्ताप हो यह जाता है किन्तु अपनित्ता है किन्तु किन्तु अपनित्ता है किन्तु

वापिस नहीं श्राता । किन्तु सद्धर्म का श्राचरण करनेवाले का वह समय सफल हो जाता है ।

टिप्पणी—समय के सदुपयोग करनेवाछे को समय के हाथ में से निकळ जाने का पछतावा कभो नहीं होता।

पुत्र के श्रमृततुल्य वचनों से पिता का हृद्य प्लटता जाता था फिर भी वात्सल्य भाव उनको विदा देने में रोक रहा था। वह बोले:——

- (२६) हे पुत्रो ! सम्यक्तव संयुक्त (आसक्ति रहित) होकर थोड़े समय तक हम चारों जन (माता, पिता तथा दोनों पुत्र) गृहस्थाश्रम में रहकर कुछ दिनों बाद हम सब घर घर भिक्षा मांगकर जीवित रहनेवाले ऐसे श्रादर्श मुनि बनेंगे।
- (२७) (पुत्रों ने कहा:—) हे पिताजी ! जिसकी मृत्यु के साथ । मित्रता हो, त्राथवा जो मृत्यु से छुटकारा पा सकता हो, त्राथवा जो यह जानता हो कि मैं नहीं मरूंगा वही सच--मुच कल का विश्वास कर सकता है।
- टिप्पगी—कैसी आदर्श जिज्ञासा है! त्यागी होने की कैसी उत्कट रच्छा है! आदर्श वैरागी के क्याही हृदयभेदक वचन हैं! क्या हि भाव हृदय की गहरी प्रतीति बिना या त्याग की योग्यता बिना तो सकता है ? सत्य की झांखी होने के बाद एक क्षण का भी विरहा नहें असहा लगता है!

्रिटलेये जिसे प्राप्त कर फिर दुबारा जन्म ही न लेना पड़े कि हम ज्यान ही जंगीकार करेंगे। ऐसे विषय सुख कभी नहीं भोगें—सो तो है ही नहीं। इसलिये श्रव तो इस राग (सांसारिक श्रासक्ति) को छोड़कर भिक्षधर्म में श्रद्धा रखना यही श्रेष्ट है।

-तरुण पुत्रों के इन हृदय द्रावक वचनों ने पिता के पूर्व संस्कारों को जागृत कर दिया फिर उसने अपनी पत्नी को जुलाकर कहा:—

(२९) हे वाशिष्टि! मेरा भिचाचरी (भिक्षुधर्म प्रह्ण) करने का समय श्रव श्रा गया है क्योंकि जैसे वृत्त शालाश्रों से शोभित तथा स्थिर रहता है; शालाश्रों के दूटने से जैसे वह सुन्दर वृत्त एकदम शोभाहीन टूंठ दिलाई देता है मैसे ही श्रपने दोनों पुत्रों के बिना मेरा गृहस्थ जीवन में रहना योग्य नहीं है।

्टिप्पर्गा - पत्नी का विशय गोत्र होने से उसे वाशिष्ठि कहा है।

- .(६०) जिस तरह पंख विना पत्ती, संप्राम में सैन्य रहित राजा, जहाज में द्रव्यहीन व्यापारी शोभित नहीं होता और उन्हें शोक करना पढ़ता है वैसे ही पुत्र रहित मैं नहीं शोमता श्रीर दु:स्ती होता हूँ।

- (३२) (ब्राह्मण ने कहा:—) हे भाग्यशालिनि ! (कामभोगों के) रस खूब भोग लिये हैं। यौवन अब चला जा रहा है। किर असंयमित जीवन जीने के लिये (अथवा किसी दूसरी इच्छा से) मैं भोगों को नहीं छोड़ रहा हूँ; किन्तु, त्यागी जीवन के लाभालाभ, सुखदु:खों को खूब समभा सोचकर मौन (संयममार्ग) को अंगीकार कर रहा हूँ।
- टिप्पणी—भिद्यजीवन में तो भिक्षा मिले और न भी मिले, तथा अनेक प्रकार के दूसरे संकट भी सहने पड़ें। गृहस्थजीवन में तो सब कुछ-स्वतंत्र, भोगने को मिला है फिर भी त्यागो जीवन की इच्छा हो इसमें पूर्व जन्म के संस्कार ही कारण हैं। त्याग में जो दुःख है वह गोण है और जो आनन्द है वही मुख्य है। यह आनन्द, यह शान्ति, यह विराम, भोगों में कहीं किसी ने कभी अनुभव नहीं किया और करेगा भी नहीं।
- (३३) पानी के प्रवल प्रवाह के विरुद्ध जानेवाला वृद्ध हैंस जैसे वाद में पछताता है वैसे ही तुम भी स्तेही जनों का स्मरण करके खेदखिन्न होगे। इसलिये गृहस्थान्नम में मेरे साथ रही न्त्रीर यथेच्छ भोग भोगो। भिन्नाचरी का मार्ग तो बहुत दु:खद है। (यह वाक्य जसा ने अपने पितः से कहा है)।
- टिप्पणी—उक्त क्लोक में सयममार्ग के कष्ट और गृहस्थजीवन के क्लोभन देकर पक्की कसौटी की गई है।

है भद्रे! जैसे सांप कांचली छोड़कर चला जाता है वैसे मेरे दोनों पुत्र भोगों को छोड़कर चले जा रहे हैं

- टिप्पग्गि—सांप अपने ही शरीर से उत्पन्न हुई कांचली को छोड़कर फिर ग्रहण करने की इच्छा नहीं करता है उसी तरह साधकों को आसक्ति रूपी कांचली छोड़ देनी ही उचित है।
- ·(३५) (जसा ख्रव विचार में पड़ गई कि जब ये सव) जैसे रोहित मत्स्य जीर्ण जाल को तोड़कर उससे निकल भगते हैं उसी तरह ये कामभोग रूपी जाल से छूटे जा रहे हैं जीर जैसे जातिमान ग्रुपम (बैल) रथ के भार को ख्रपने कंधे पर ष्ठाता है वैसे ही ये धीर चारिज्य तथा तपरचर्या के भार को उठाकर सचमुच ही त्यागमार्ग पर जा रहे हैं।
- ·(३६) फैली हुई जाल को तोड़कर जैसे पत्ती टूर २ आकाश में स्वच्छन्द विचरते हैं वैसे ही भोगों की जाल तोड़कर मेरे दोनों पुत्र तथा पित त्यागधर्म अंगीकार कर रहे हैं तो मैं उनका अनुसरण क्यों न करूं ?

इस तरह ये चारों समर्थ आत्मायें थोड़े ही समय में अनेक मकार के धनधान्य, कुटुंव-परिवार, दासी-दास, आदि को निरासक्त भाव से छोड़कर त्यागधर्म धारण करती हैं और अब उनकी संपत्ति का कोई वारिस न होने से वह सब राज-दरवार में लायी जाती है।

(३७) विशाल तथा कुलीन कुहुंब, धन श्रीर भोगों को हर्जिन दोनों पुत्र तथा पत्नी सहित भुगु पुरोहित का विक्रिक्त मण (दीक्षा महाविक्ति के किल्किन का विक्रिक्ति का

- गया वैभव राजा को लेते देखकर राजमहिषी कमलावती
  (राजा के प्रति) पुनः २ यों कहने लगीः—
- (३८) हे राजन ! जो पुरुष किसी के उल्टी किये हुए भोजन को खाता है उसे कोई अच्छा नहीं कहता । वैसे ही इस ब्राह्मण द्वारा उगला हुआ धन आप प्रहण करना चाहते हो यह किसी भी प्रकार योग्य नहीं है।
- (३९) हे राजन ! यदि कोई तुम को सारा जगत या जगत का सारा धन दे दे तो भी वह आपके लिये पूर्ण न होगा ( तृष्णा का पार कभी आता ही नहीं ) तथा हे राजन ! और यह धन आपको कभी भी शरण रूप नहीं होगा।
- (४०) हे राजन् जब कभी इन सब मनोहर कामभोगों को छोड़ कर श्राप मृत्यु वश होंगे उस समय यह सब श्रापको शरण रूप न होगा। हे राजन्! उस समय तो श्रापका कमाया हुआ धर्म ही श्रापको शरणभूत होगा। इसके सिवाय दूसरा कुछ भी (धनादि) काम न श्रायमा।
  - 'टिप्पणी—रानी के ये वचन उनके गहरे हृद्यवैराग्य के छोतक हैं। महाराजा ने परीक्षा के लिये प्ला—यदि इतना समझती हो तो अब भी गृहस्थाश्रम में क्यों रहती हो ?"
  - (४१) जैसे पिंजड़े में पक्षिणी श्रानन्द नहीं पा सकती वैसे ही (राज्यसुख से परिपूर्ण इस अन्त:पुर में) मुक्ते श्रानन्द नहीं मिलता है। इसिलये में स्नेह रूपी तन्तु को तोड़ कर नहीं मिलता है। इसिलये में स्नेह रूपी तन्तु को तोड़ कर निया श्रारंभ (सूक्ष्म हिंसादि क्रिया) श्रोर परिप्रह भिक्ष श्री है विचित्त, श्रीकंचन, निरासक्त

- (४२) जैसे जंगल में दावािम लगने से श्रीर उसमें वन जन्तुश्रों को जलते देखकर दूर के प्राणी रागद्वेप वश चिणक श्रानन्द प्राप्त करते हैं (कि हम तो वचे हैं) परन्तु उन, भोले प्राणियों को यह खबर नहीं कि कुछ ही देर में हसारी भी यहीं दशा होने वाली है।
- (४३) इसी तरह कामभोगों में आसक्त बने हुए हम राग तथा द्वेष रूपी- श्रिप्त से जलते हुए मारे जगत को मूढ़ की तरह जान नहीं सकते हैं-। (श्रिथीत् रागद्वेषरूपी श्रिप्त सभी को भक्षण करती चली श्रा रही है तो वह, हमें भी भक्षण कर जायगी)
- (४४) जिस तरह श्रप्रतिवंघ पत्ती श्रानन्द के साथ स्वच्छन्दः श्राकाश में विचरता है वैसे ही हमें भी भोगे हुए भोगों को स्वेच्छा में छोड़कर तथा श्रानन्द के साथ संयम धारण कर, गाम नगर श्रादि सभी स्थानों में निरावाध विचरना चाहिये।
- (४५) हमें प्राप्त हुए ये कामभोग कभी स्थिर नहीं रहनेवाले हैं (कभी न कभी ये हमें छोड़ देंगे) तो फिर हम ही इन चारों ब्राह्मणों की तरह इन्हें क्यों न छोड़ दें ?
- '(४६) जैसे गिद्ध को मांस सिहत देखकर अन्य पन्नी उससे छीन लेने के लिये उसको त्रास देते हैं, किन्तु मांस रिहन पक्षी को कोई त्रास नहीं देता वसे ही परिश्रह रूपी मांगे को छोड़कर में निरामिप (निरासक ) होकर विचर्ह्गी
  - (४७) ऊपर कही हुई गिद्ध की उपमा को बरावर सम्बद्धित कर

जिस तरह सांप गरुड़ से बच २ कर चलता है वैसे ही हम को भी भोगों से डर डर के चलना (विवेक पूर्वक चलना) चाहिये।

(४८) हे महाराज ! जैसे हाथी सांकल आदि के बंधन तोड़कर अपने स्थान (विन्ध्याचल, अटवी आदि ) में जाने से आनिद्दत होता है वैसे ही सांसारिक बंधन छूटने से जीवात्मा परम आनन्द को प्राप्त होता है। हे इषुकार राजन ! मैंने ऐसा (अनुभवी सुझ पुरुषों के द्वारा) सुना है और यही हितकर है—ऐसा आप जाने।

टिप्पाणी—सन्नारी भी पुरुष के बराबर ही सामर्थ्य रखती है। पुरुष और स्त्री ये दोनों भारमविकास के समान साधक हैं। जिस तरह पुरुष , को ज्ञान तथा मोंक्ष पाने का अधिकार है वैसे ही स्त्रियों को भी है। योग्यता ही आगे बढ़ाती है, किर चाहे वह स्त्रो हो या पुरुष हो।

- (४९) (कमलावती रानी का ऐसा तत्विववेचन उपदेश सुनकर राजा की मोहनिद्रा भंग हुई श्रीर ) बाद में रानी तथा राजा श्रपना विस्तृत राज्य-पाट श्रीर कठिनता से त्याग-योग्य ऐसे मोहक कामभोगों को छोड़ कर विषयमुक्त स्तेहमुक्त, श्रासक्तिमुक्त तथा परिम्रहमुक्त हुए।
- (५०) उत्तम भोगों को छोड़ने के बाद श्रतिपुरुषार्थी उस दंपित ने सच्चे धर्म के खरूप को समम्कर सर्व प्रसिद्ध तपश्चरी श्रंगीकार की।

ि अन्तरह तथा वाह्य मिल कर संब १२ प्रकार की तपश्चर्या हिंगी काष्ट्र को जलाने में तपश्चर्या अग्नि का कार्य करती है।

- (५१) इस तरह उक्त कम में ये छहों जीव जरा ( बुढ़ापा ) तथा मृत्यु के भय से खिन्न होकर धर्मपरायण वने और दुःखों के अंत ( मोच ) की शोधकर वे क्रमपूर्वक बुद्ध ( केवल ज्ञानी ) हुए।
- (५२) बीतराग ( जीत लिया है मोह जिसने ऐसे ) जिनेश्वर के शासन में पूर्व भव में भाई हुई. भावनाश्रों का स्मरण करके वे छहों जीव दु:खों के श्रन्त ( मोक्ष ) को प्राप्त हुए।
- (५३) देवी कमलावती, राजा, पुरोहित ब्राह्मण ( भूगु ), उसकी पत्नी जिसा ब्राह्मणी, उसके दोनों पुत्र इस तरह ये छहों जीव मुक्ति को प्राप्त हुए। सुधर्म खामी ने जंयूस्तामी को कहा:—'ऐसा भगवान् ने कहा था' इस प्रकार इपुका-रीय नामक चौदहवां अध्ययन समाप्त हुआ।



# स भिक्खू

# वही साधु है

#### १५

सार में पतन के निमित्त बहुत हैं इसिलिये साधक को सावधान रहना चाहिये। मिन्नु का कर्तव्य है कि वह वस्त्र तथा ब्राहार ब्रादि ब्रावश्यक वस्तुक्रों में भी संयम् रक्खे। यह उसकी साधक दशा के लिये जितना उपयोगी है उतना ही उपयोगी सत्कार, मान ब्रथवा प्रतिष्ठा की लालसा को रोकना है।

विविध विद्यापें, जो त्यागी जीवन में उपयोगी न हों उन को सीखने में समय का दुरुपयोग करना यह खंयमी जीवन के लिये विद्य समान है। तपश्चर्या तथा सहिष्णुता ये ही दो श्चात्मविकाश रूपी गगन में उड़ने के पंख है। भिज्ञ को चाहिये कि इन दोनों पंखों को खुब संभाज के साथ लेकर ऊंचे ऊंचे श्चाकाश में विचरे।

### भगवान वोले-

िज़ो सब्वे धर्म को विवेक पूर्वक श्रंगीकार कर, अन्य भिक्षश्रों के संघ में रहकर, निशाण (वासना) को नष्ट कर, सरलस्वभाव धारण कर, चारित्र धर्म में चले एवं जो कामभोगों की इच्छा न करे और पूर्वाश्रमों के संबंधियों की आसक्ति को छोड़ दे; (तथा) अज्ञात (अपरिचित) धरों में ही भिचाचरी करके आनन्दपूर्वक संयमधर्म में गमन करे वही साधु है।

- टिप्पग्तिः—अज्ञात अर्थात् 'आज हमारे यहां साधुजी पधारने वाले हैं इसलिए भोजन कर रक्लें'—ऐसा न जानने वाले घर ।
- (२) उत्तम भिक्षु; राग से निष्टृत्त होकर, पतन से अपनी आत्मा को वचा कर, असंयम से दूर होकर, परिपहों को सहन कर और समस्त जीवों को आत्म तुल्य जानकर किसी भी वस्तु में मूर्छित (मोहित) न हो, वही साधु है।
- (३) यदि कोई उसे कठोर वचन कहे या मारे तो उसे अपने पूर्व संचित कमों का फल जानकर धेर्य धारण करनेवाला, प्रशस्त (ऊँचे लक्ष्यवाला), आत्मा को हमेशा गुप्त (वश) में रखनेवाला और अपने चित्त को अञ्याकुल रख हपे शोक से रहित होकर संयम के पालन में आने वाले कटों को सह लेता है वहीं साधु है।
- (४) जो श्रह्प तथा जीर्ण शय्या श्रीर श्रासन से सन्तुष्ट रहता है; शीत, उप्ण, दंशनाशक, श्रादि के कटों को जो: समभाव से सहन करता है वही साधु है।
- (५) जो सत्कार या पूजा की लालसा नहीं रखता है, यदि कोई उस प्रणाम करे अथवा उसके गुण की प्रशंसा करें तो भी अभिमान मार्ट्सन में नहीं लाता ऐसा संयमी,

- सदाचारी, तपस्वी, ज्ञानवान; क्रियावान, तथा श्रात्मदर्शन का जो शोधक है,विही सचा साधु है।
- ( ६ ) जिन कार्यों से संयमी जीवन को क्षिति हो ऐसे काम न करने वाला, समस्त प्रकार के भेदों को दबाने वाला तथा नरनारी के मोह को वढ़ाने वाले संग को छोड़ तपस्वी होकर विचरने वाला तथा तमाशा जैसी वस्तुओं में रस न लेने वाला ही सचा साधु है।
  - विटिप्पशी—इस क्लोक का अर्थ यह भी हो सकता है कि लो नरनारी (स्त्रजन समृह अथवा कुटुम्ब कवीला) का (पूर्व परिचय होने से) मोह उत्पन्न हो और संयमी जीवन दूषित हो ऐसा संग छोड़ कर तपस्त्री वनकर विहार करने वाला और तमाशों में रस न लेवे वाला ही साधु है।
  - (७) नख, वस्न, तथा दाँत श्रादि छेदने की किया, राग (स्वर भेद) विद्या, सम्बन्धी भू ((पृथ्वी) विद्या. खगोल विद्या (श्राकाशीय प्रह नक्षत्र सम्बन्धी विद्या), स्वप्न विद्या (स्वप्नफलादेश), सामुद्र (शारीरिक लच्चणों द्वारा सुख दु:ख बताना) शास्त्र, श्रंगस्फुरण विद्या (श्रमुक श्रंग के लहकने से श्रमुक फज होता है, जैसे दाहिनी श्रांख का लहकना श्रम और वाई श्रांख का श्रश्चम माना जाता है), दंड विद्या, पृथ्वी में गड़े हुए धन को जानने की विद्या, पश्च-पक्षियों की बोली का जानना श्रादि, कुत्यित विद्या श्रों द्वारा जो श्रपना संयमी जीवन दृषित नहीं बनाता (श्रपना स्वार्थ साधन नहीं कर्न्द्रा) वही साधु है।

(८) मंत्र ज़ड़ीवृदो तथा जुदी २ तहि के पैद्यक उपचारों को

जानकर काम में लाना, जुलाव देना, वमन कराना, घूप (सेक) देना, (श्राँखों के लिये) श्रंजन वनाना, स्तान कराना, रोग श्राने से 'हाय राम, श्रोवावा, श्रो मां,' श्रादि कंदन करना, वैद्यक सीखना श्रादि क्रियाएं योगियों के लिये योग्य नहीं है। इसलिये इनका त्याग जो करता है वहीं साधु है।

- िटिप्पण्डि:--उपरोक्त विद्याएं और टनके संबंध में की जाने वाली कियाएं अन्त में एकान्त त्याग धर्म से विमुख करने वाली सिद्ध होती हैं, इसिलये जैन साधु; इन क्रियाओं को नहीं करते और उनकी अनुमोदना भी नहीं करते।
- (९) जो चत्रियों की वीरता की, कुलीन राजपुत्रों की, तांत्रिक त्राह्मणों की, भोगियों (वैश्यों) की, भिन्न भिन्न प्रकार के शिल्पियों (कारीगरों) की पूजा या प्रशंसा (क्योंकि ऐसा करना संयमी जीवन को कछपित कारक है ऐसा जानकर जो ऐसा) नहीं करता वहीं साधु है।
  - टिप्पर्गा—राजाओं या भोगी पुरुषों की अथवा ब्राह्मणों (उस समम इनका वड़ा जोर था) की झूंडी प्रशंसा करना साधु जीवन का' भयंकर दूपण है। योगी को सदा आत्ममग्न होकर विचरना चाहिये। झूंडी खुशामद करने से आत्म धर्म को धक्का लगता है।
  - (१०) गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा मुनि होने के बाद जिन जिन गृहस्थों का श्रांत परिचय हुआ हो उनमें से किसी के भी साथ ऐहिक मुख के लिये जो संबंध नहीं जोड़ता वहीं साध है।

<sup>-</sup> वा -गृहस्यों के साथ अपूर्णरिचय होने से कभी कभी आत्मधर्म

के विरुद्ध कार्य करने का मौका आं पढ़ता है इसिलये साध को ऐहिक स्वार्थों की सिद्धि के लिये गृहस्थों का परिचय नहीं बदाना चाहिये। मुनि का सबके साथ केवल पारमार्थिक संबन्ध ही होना चाहिये।

(११) आवश्यक शय्या ( घास फूँस या पुँआल की सोने की जगह ), पाट, पाटला, आहार पानी अथवा अन्य कोई खाद्य पदार्थ किंवा मुख् सुगन्ध के पदार्थ को याचना मुनि; गृहस्थ से भी न करे और यदि मांगने पर भी वह न दे तो उसको जरा भी द्वेष युक्त वचन न बोले और न मन में बुरा ही माने। जो ऐसी वृत्ति रखता है वहीं सचा साधु है।

टिप्प ही - त्यागी को मान और अपमान दोनों समान हैं।

- (१२) जो श्रनेक प्रकार के भोजन पान, (श्रवित्त) मेवा श्रथवा मुखवास श्रादि गृहस्थों से प्राप्त कर संग के साथी साधुश्रों को बांटकर पीछे भोजन करता है श्रीर जो मन, वचन श्रीर काय को वश में रखता है इसी को साधु कहते हैं।
- टिप्पााी अथवा "तिविहेण नाणुकंपे" अर्थात्, मन, वचन, काया से भिक्षु धर्म द्वारा प्राप्त किये हुए अल में से किसी को कुछ न देवे। भिक्षा प्राप्त अल में से दान करने से भविष्य में भिक्षु धर्म के भंग होनेका अर्थात् संग्रह वृत्ति आदि का विशेष हर है।
- (१३) श्रोसामस (पतली-दाल), जो का दिलया, गृहस्थ का ठंडा भोजन, जो या कांजी का पानी श्रादि खुराक (रस या श्रन्न) प्राप्त कर उस भोजन की निन्दा नहीं करता

तथा सामान्य स्थिति के घरों में भी जाकर जो भिक्षावृत्ति करता है वहीं साधु है।

- टिप्पर्गा—िमश्र; संयमी जीवन निर्वाह के उद्देश्य से भीजन प्रहण करना है। जिहा की लोलपता को शांत करने के लिये रसाल तथा स्वाटिए भोजन की इच्छा कर धनिक दाता के यहां मिक्सार्थ जाना—साधुत्व की बुटि कहनी चाहिये।
- (१४) इस श्लोक में देव, पशु श्रयवा मनुष्यों के श्रनेक प्रकार के श्रांत्यन्त भयंकर तथा द्वेपोत्पादक शब्द होते हैं। उनको मुनकर को नहीं हरता (विकार को प्राप्त नहीं होता) वहीं साधु है।
- टिप्पर्गाी—पहिले जमाने में साधु विशेष करके जंगलों में रहा करते थे और तब ऐसी परिस्थिति होने की विशेष संभावना थी।
- (१५) लोक में प्रचलित भिन्न २ प्रकार के वादों (तन्त्रादि शास्त्रों) को सममकर, अपने आत्म धर्म को स्थिर रख कर संयम में दरा चित्त पंहित पुरुष; सब परिपहों की जीत कर, समस्त जीवों पर आत्म भाव रख कर कपायों को वश में रक्खे और किसी जीव को जरा भी पीड़ा न पहुंचाये। एसी वृत्ति से जो विचरता है वृह्दी साधु है।
- टिप्पणी—जिनने माथे टतनी सूझें होती हैं। सबकी रायें जुड़ी २ होनी हैं। इसी कारण भिन्न र धर्मी तथा पंथीं का प्रचार हुआ है। परन्तु वास्तिबिक धर्म (सन्य) के कोई विभाग नहीं हो सकते। यह तो सर्वकाल में और सब जगह समान ही होता है। (१६) जो शिल्पविद्यी (कारीगरी) द्वारा श्रपना जीवन निर्वाह.

न करता हो, जितेन्द्रिय (इन्द्रियों को जीतने वाला),
ध्रान्तरिक तथा वाह्य बंधनों से मुक्त, श्राल्प कषायवाला,
थोड़ा तथा परिमित भोजन करने वाला तथा घर को
छोड़कर जो रागद्धेष रहित हो विचरता है वही साधु है।

दिप्पणी—वेश परिवर्तन साधुता नहीं है किन्तु साधुका बाह्य चिन्ह्
है। साधुता, अद्योध, अवैर, अनासिक और अनुपमता में है
सब कोई ऐसी साधुता को धारण कर स्वयम कल्याण की
साधना करें।

### ऐसा मैं कहता हूँ।

इस प्रकार 'स भिवखू' नामक पन्दरह्वां श्रध्याय समाप्त हुत्रा।



# ब्रह्मचर्य समाधि के स्थान



#### १६

ह्याह्म (परमात्मा) के स्वरूप में चर्या करना श्रथवा श्रात्म स्वरूप की पूर्ण रूप से प्राप्ति करना यह सभी का ध्येय है। ध्यर्थात ब्रह्मचर्य की ध्रावश्यकता यह जीवन की थ्रावश्यकता के समान धानिवार्य है। अब्रह्मचर्य यह जब संसर्ग से उत्पन्न होने वाला विकार है। यह विकार जीवात्मा पर मोहनीय कर्म (मोह उत्पन्न करने वाली वासना) का जितना श्रधिक श्रसर होगा उतनी ही श्रधिक मात्रा में, भयंकर सिद्ध होता है। संसार में यह जीवात्मा जितने धनर्थी श्रापत्तियों, तथा दुःखों का श्रनुभव करता है वह श्रपनी ही की हुई भूलों का परिगाम है। भूलों से वचने के लिये या ग्रात्म-शान्ति प्राप्त करने के लिये जो पुरुपार्थ करता है उसे 'साधक' कहते हैं। ऐसे साधक को अब्रह्मचर्य से निवृत्त होकर ब्रह्म-चर्य में स्थिर होने के लिये उसे जितनी श्रान्तरिक लावधानी रखनी पड़ती है उतनी ही नहीं,—उससे भी वहुत श्रधिक साव-धानी उसे वाहा निमित्तों से रखनी पड़ती है। ऊंची से ऊंची कोटि के साधु को भी, निमित्त मिलने पर, बीजरूप में रही हुई अपनी सांसारिक वांसेनाओं के जागृत हो जाने का सदैव डर लगा रहता है। इसिलिये जागरूक साधक को आत्मोन्नित के लिये तथा विशुद्ध ब्रह्मचर्य की आराधना के लिये, भगवान महावीर द्वारा कथित अनुभवों में से जो २ उसको उपयोगी हों उनको ब्रह्ण कर अपने अनुभव में जाना चाहिये—यह मुमु-चुमात्र का सर्वोत्तम कर्तव्य है।

सुधर्म स्वामी ने जम्ब स्वामी से यों कहाः—"हे श्रायुष्मन्! मैंने सुना है कि भगवान महावीर ने ऐसा कहा था जिनशासन में स्थविर भगवानों ( पूर्वतीर्थंकरों ) ने ब्रह्मचर्य समाधि के १० स्थान वताये है जिनको सुनकर तथा हृदय से धारण करके भिद्ध; संयमपुष्ट, संवरपुष्ट, समाधिपुष्ट, जितेन्द्रिय होकर गुप्त (ब्रह्मचारी) बन कर श्राप्रमत्त श्रात्मलक्षी बनकर विचरता है।"

(शिष्य ने पूंडाः—) "भगवन ! ब्रह्मचर्य समाधि के कौन से स्थान स्थिवर भगवान ने कहे हैं जिनको सुनकर तथा ब्रह्म करके भिद्धः, संयमपुष्ट, संवरपुष्ट, समाधिपुष्ट जितेन्द्रियं, होकर गुप्त ब्रह्मचारी बनकर अप्रमत्त आत्मजन्नी बनकर विचरता है ?"

(गुरु ने कहाः—) सचमुच स्थिवर भगवानों ने इस प्रकार दस ब्रह्मचर्य समाधि के स्थान फरमाये हैं कि जिनको सुनकर तथा ब्रह्मा करके भिद्धः; संयमपुष्ट, संवरपुष्ट, समाधिपुष्ट, ब्रौर जितेन्द्रिय होकर गुप्त ब्रह्मचारी वन कर ब्राव्यमत्त ब्रात्मजन्ती बन कर विचरता है। वे १० समाधि स्थान इस प्रकार हैः—

(१) स्त्री, पशु तथा नपुंसक रहित उपाश्रय तथा स्थान का जो सेवन करता है वही निर्मिथ (श्रादर्श मुनि) कहा जाता है। जो (साधु) स्त्री, पशु तथा नपुंसक सहित उपाश्रय शय्या श्रथवा स्थान का सेवन करता है उसे निर्मिथ नहीं कहते।

शिष्यः-- 'क्यों, अगत्रन् ?'

त्राचार्यः — स्नी, पशु या नपुंसक सहित त्र्यासन शय्या, या स्थान का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य पालन करने में शंका (ब्रह्मचर्य पाछ्ं कि न पाछ्ं) उत्पन्न हो सकती है अथवा दूसरों को शंका हो सकती है कि स्त्री सहित स्थान में रहता है तो यह ब्रह्मचारी है या नहीं ? (२) श्राकांचा (इच्छा) निमित्त पाकर मैथुनेच्छा जागृत होने की संभावना है। (३) विचिकित्सा (ब्रह्मचर्य के फल में संशय )--- उक्त प्राणियों के साथ रहने से 'ब्रह्मचर्य पालने से क्या लाभ ?' ऐसी भावना होने की संभावना है। कभी २ ऐसे दुर्विचार होने से श्रौर एकान्त स्थान मिलने से पतन होते का विशेप भय रहता है श्रीर मैथुनेच्छा से उन्मत्त होने का दर है। ऐसे विचारों या दुष्काय से परिगाम में दीर्घकाल तक टिकने वाला शारीरिक रोग हो जाने का डर है श्रीर इस तरह क्रमशः पतित होने से ज्ञानी द्वारा वताये हुए सद्धर्म से च्युत होजाने का डर है। इस प्रकार विषयेच्छा अनुर्थी को खान है श्रीर उसके निमित्त स्त्री, पशु श्रथवा नपुंसक हैं। इसलिये ये जहां रहते हों ऐसे स्थानों में निर्प्रथ साधु न रहे।

(२) जो छी कथा (शृंगाररसोत्पादक वार्तालाप) नहीं करता उसे साधु कहते हैं।"

शिष्यः — 'क्यों, भगवन् ?'

श्राचार्यः - "स्वियों की शृंगारवर्द्धक कथाएं कहने से

उपर्युक्त सभी हानियां होने का डर है। इसिलये ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री संबंधी कथा न कहनी चाहिये।"

- टिप्पणी श्रंगार रस की कथायें कहने से पतन का दर है। अतः दन्हें तो त्याग ही देना चाहिये। साथ ही साथ साध को कभी भी अकेशी खी से एकान्त में वार्तीलाप करने का प्रसंग न आने देना चाहिये।
- (३) जो स्त्रियों के साथ एक श्रासन पर नहीं बैठता वह श्रादर्श. साधु है।

शिष्यः—'क्यो, भगवन्' ?

श्राचार्यः—"हित्रयों के साथ एक श्रासन पर पास पास बैठने से एक दूसरे के प्रति भोहित होने का तथा ऐसे स्थान में दोनों के ब्रह्मचर्य में उपर्युक्त दूषण लगने का डर है। इसलिये ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्री के साथ, एक श्रासन पर नहीं बैठना चाहिये।

- टिप्पणी—जैनशास्त्र तो जिस स्थान पर अन्तसुहूर्त (४८ मिनिट) पहिले कोई स्त्री वैठी हो उस स्थान पर भी ब्रह्मचारी को बैठने का निपेध करते हैं। जिस प्रकार ब्रह्मचारिणी को स्त्रियों से सावधानी रखनी चाहिये वैसे ही ब्रह्मचारी को पुरुषों से भी सावधानी रखनी चाहिये। खासकरके ऐसे प्रसंग एकान्त के कारण आते हैं। फिर भी यदि कोई आकस्मिक ऐसा प्रसंग आ पड़े तो वहां विवेक पूर्वक आचरण करना उचित है।
- (४) स्त्रियों की सुन्दर, मनोहर तथा त्राकर्षक इन्द्रियों को विषय बुद्धि से न देखें (कैसी सुन्दर हैं, कैसी भोग योग्य हैं ? ऐसा विचार न करें ) और न उनका चिंतवन ही ' करें । जो कियों का चिंतवन नहीं करता वहीं साधुं है।

शिष्यः—'क्यों, भगवन् ?'

श्राचार्थ:—''सचमुच ही खियों की मनोहर एवं श्राक्षणक इन्द्रियों को देखने वाले या चितवन करने वाले श्राह्मचारी (साधु) के ब्रह्मचर्य में शंका, श्राकांक्षा, श्रायवा विचिकित्सा उत्पन्न होने की संभावना रहती है जिससे ब्रह्मचर्य के खंडित होजाने, उन्माद होजाने श्रीर श्रान्त में दीर्घकालिक रोग पैदा होजाने का डर है। इसके सिवाय केवली क्ष्माचन द्वारा कथित धर्म से पतन होजाने की संभावना है। इसलिये सच्चे ब्रह्मचारी साधक को स्त्रियों के मनोहर तथा श्राक्षणक श्रंगोंपांगों को विषय- बुद्धि से न देखना चाहिये श्रीर न उनका चितवन ही करना चाहिये।"

(५) कपड़े के पर्दे अथवा दीवाल के पीछे से आते हुए स्त्रियों के कूजन (कोयलों का सा मीठा स्तर), (शब्द), रुदन, गायन, हँसने का शब्द, स्तेही शब्द, कंदित शब्द तथा पित विरह से उत्पन्न विलाप के शब्दों को जो नहीं सुनता है वही आदर्श बहाचारी या साध है।

शिष्यः—"क्यों, भगवन् ?"

श्राचार्यः—"पर्दे श्रथवा दीवाल के पीछे से श्राते हुए स्त्रियों के कूलन; रुद्न, गायन, हास्य शब्द, स्त्रित (रित प्रसंग के सीत्कार श्रादि) श्रानंद श्रथवा विलाप मय शब्दों के सुनने से ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में चित पहुँचती है श्रथवा उन्माद होने की संभावना है। जिससे क्रमशः शरीर में रोग उत्पन्न होकर सगवान हारा कथित

 मार्ग से पतन होने का हर है। इसिलये सचे ब्रह्मचारी को पर्दे के या भींत के भीतर से खाते हुए उक्त प्रकार के शब्दों को नहीं सुनना चाहिये।

िट प्याि — महाचारी जहां ठहरा हो वहां दीवाल के पीछे से भाते हुए स्त्री पुरुषों की रतिक्रीदा के शब्द भी विषयजनक होने के कारण उसको नहीं सुनने चाहिये भोर न उनका चिन्तवन ही करना चाहिये।

(६) पहिले गृहस्थाश्रम में स्त्री के साथ जो जो भोग भोगे थे श्रथवा रितक्रीड़ाएं की थीं उनका जो पुनः स्मरण नहीं करता है वही श्रादर्श ब्रह्मचार्रा (साधु) है। शिष्य:—"क्यों, भगवन् ?"

श्राचार्यः—"यदि ब्रह्मचारी पहिले के भोगों श्रथवा रितकीड़ाश्रों को याद करे तो उसको ब्रह्मचर्यपालन में शंका, श्राकांचा तथा विचिकित्सा होने की संभावना है जिससे उसके ब्रह्मचर्य के भंग होजाने, उन्माद होजाने तथा शरीर में विषयचिंतन से रोगादिक होजाने श्रीर भगवान कथित पुरायपथ से पतित होजाने का उर है। इसलिये निर्मेथ साधु को पूर्व विषयभोग या रितकीड़ाश्रों को याद नहीं करना चाहिये।

(७) जो श्रांतिरस (स्वादिष्ट) श्राथवा इन्द्रियों को विशेष पुष्ट करने वाले भोजन नहीं करता वही साधु है। शिष्य:—"क्यों, भगवन् १"

र्थाचार्यः—''स्वादिष्ट भोजन करने से स्रथवा विशेष पुष्टिकर भोजन करने से उपर्युक्त सभी दोष स्राने की . संभावना है । इसलिये ब्रह्मचारी (साधु) को स्वादिष्ट ब्रथवा पुष्टिकर मोर्जन न.खाने चाहिये ।''

टिप्पर्णा—स्वादिष्ट सोजन में चरपरा (तीखा), नमकीन, मीठा अदि रसनेन्द्रिय की लोलुपता की दृष्टि से किये हुए बहुत से भोजनों का समावेश होता हैं। रसनेन्द्रिय की असंयतता बहाचर्य खंडन का सब में प्रथम तथा प्रवल कारण हैं और उसके संयम से ही ब्रह्मचर्य का रक्षण होता है।

(८) जो मर्थादा के उपरान्त श्रित श्राहार पानी (भोजन पान ) नहीं करता वहा साधु है।

शिष्यः— "क्यों, भगवन् ?"

श्राचार्यः—"श्रित भोजन करने से उपर्युक्त सभी दूपण लगने का हर है जिससे ब्रह्मचर्य के खंडन तथा संयमधर्म से पतन होजाना संभव है। इसलिये ब्रह्मचारी को श्रिति भोजन पान न करना चाहिये।

- टिप्पणी—अति भोजन करने से अंग में आलस्य आता है, दुष्ट भावनाएँ; जागृत होती हैं और इस तरह क्रमशः उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्म मार्ग में विक्नवाधाएँ आती जाती हैं।
- (९) जो शरीर विभूषा (शृंगार के निसित्त शरीर की टापटीप) करता हो वह साधु नहीं है।

शिष्यः—'क्यों, भगवन्' ?

श्राचार्यः—"सचमुच ही सीन्दर्य में भूला हुआ श्रीर शरीर की टापटीप करने वाला ब्रह्मचारी खियों की आक-र्पिक होता हैं श्रीर इससे उसके ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, , विचिकित्सा होने की संभावना रहती है 1 जिसके परि- गाम स्वरूप ब्रह्मचर्य खंडित होजाने का डर है। इसलिये ब्रह्मचर्य को विभूषानुरागी न होना चाहिये"।

- टिप्पणी—सौन्दर्य की आसक्ति अथवा शरीर की टापटीप करने से विषय-वासना जागृत होने की संभावना है। सादगी और संयम ये ही ब्रह्मचर्य के पोपक हैं।
- (१०) स्पर्श, रस, गंघ, वर्गा, शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों में जो आसक्त नहीं होता है वहीं साधु (ब्रह्मचारी) है। शिष्यः—'क्यों, भगवन् ?'

श्राचारं:—"स्पर्श, रस, गंध, वर्ण श्रौर शब्द श्रादि विषयों में श्रासक्त ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य में उपर्युक्त क्षतियां ( शंका, कांचा, विचिकित्सा ) होने की संभावना है जिससे क्रम से संयमधर्म से पतन, श्रादि सभी दूषण लग सकते हैं। इसिलये स्पर्शादि पंचेन्द्रियों के विषयों में जो श्रासक नहीं होता है वहीं साधु (ब्रह्मचारी) है।

इसं तरह ब्रह्मचर्य के १० समाधि स्थान पूर्ण हुए। श्रव तत्संबधी श्लोक कहते हैं जो निम्न प्रकार हैं:--

#### भगवान बोलेः—

- (१) (श्रादर्श) ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये स्त्री, पशु तथा नपुंसक रहित ऐसे श्रात्म चिंतन के योग्य एकान्त स्थान का ही सेवन करना चाहिये।
- (२) ब्रह्मचर्य में अनुरक्त हुए भिक्षुको; मन को ख़ुब्ध करनेवाली तथा विषयों की आधिक बढानेवाली स्त्री कथा (कहना) छोड़ देनी चाहिये।

- (३) पुनः पुनः खियों की शृंगारवर्द्धक कथा कहने ( अथवा वारंवार खियों के साथ कथावार्ता के प्रसंग लाने ) से अथवा खियों के साथ श्रित परिचय करने से त्रह्मचर्य खंहित होता है। इसलिये ब्रह्मचर्य के प्रेमी साधु को उक्त प्रकार के संगों का त्याग कर देना चाहिये।
- (४) ब्रह्मचर्य के श्रनुरागी साधु को स्त्रियों के मनोहर श्रंग डपांगों को इरादा-पूर्वक वारंवार नहीं देखना चाहिये श्रीर डन्हें न्त्रियों के कटाक्ष श्रथवा उनके मधुर वचनों पर श्रासक्त न होना चाहिये।
- (५) िश्त्रयों के कोयल जैसे मधुर शब्द, कदन, गीत, हास्य, त्रेमी के विरह्जन्य कंदन (विलाप) अथवा रितसमय के खीत्कार या श्रंगारिक वातचीत को उसे ध्यानपूर्वक न सुनना चाहिये। यह सब कर्णेन्द्रिय के विषयों की आसिक है। ब्रह्मचर्य के प्रेमी साथक को उन्हें त्याग देना चाहिये।
- (६) गृहस्थाश्रम ( असंयमी जीवन ) में स्त्री के साथ जो २ हास्य, क्रांड़ा, रितक्रीड़ा, विषय सेवन, शृङ्गार रसोलित्ता, मानद्शा, वलात्कार, अभिसार, इच्छा विरुद्ध काम सेवन श्रादि पूर्व में जो २ विषय के सुखसेवन किये थे उनका भी ब्रह्मचारी को पुन: २ स्मरण नहीं करना चाहिये।
- टिण्पर्गी:—पूर्व में भोगे हुए विषयों को स्मरण करने से विषयवासना तथा इसंबद्ध पैदा होते हैं जो ब्रह्मचर्य के लिये महा हानिकर हैं।
- (७) ब्रह्मचर्यातुरक्त भिक्षु को विषयवर्द्धक पुष्टिकारक भोजनों . का त्याग कर देना चाहिये।
- (८) भिद्ध; संयमी जीवन निमाने के लिये ही भिद्धधर्म की

रक्षा करते हुए प्राप्त भिन्ना को भी भिक्षा ही के समय परिमाणपूर्वक प्रहण करे। ब्रह्मचर्य के उपासक एवं तपस्वी भिक्षुत्रों को भी श्रिधिक भोजन न करना चाहिये।

- टिप्पणी—भिक्षुओं का भोजन संयमी जीवन निभाने के लिये ही होना चाहिये। अति भोजन आल्स्यादि दोषों को बढ़ाकर ब्रह्मचर्य (संयमी) जीवन से पतित कर देता है।
  - (९) ब्रह्मचर्यानुरक्त भिक्षु को शरीररचना (शरीरशृङ्गार) छोड़ देना चाहिये। शृङ्गार की वृद्धि के लिये वह वस्त्रादि कोई भी वस्तु धारण न करे।
- टिप्पणि—नस्त या केश संवारमा अथवा शारीर की अनावदयक टीपटाप करना, उसके लिये सतत लक्ष्य रखना, भादि सभी बातें ब्रह्मचर्य की दृष्टि से अनावश्यक हैं, इतना ही नहीं परन्तु वे शारीर की आसक्ति को अत्यधिक वटा देती हैं जिससे संयमी को अपने साधुत्व से गिर जाने की संभावना रहती हैं।
- ं(१०) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा शब्द इन पंचेंद्रियों के विषयों की लोळपता का त्याग कर देना चाहिये।
- ईटप्याी—आसक्ति, यही दुःख है, यही वंधन है। यह वधन जिन २ वस्तुओं से पैदा हो उन सबका त्याग कर देना चाहिये। पांच इन्द्रियों को अपने वश में रखकर उनसे योग्य कार्य लेना चाहिये यही साधक के लिये आवश्यक है। शरीर से सत्कर्म करना, जीम से मीठे शब्द और सत्य बोलना, कान से सत्पुरुपों के बचनामृतों का पान करना, आंखों से सद्ग्रंथों का बाचन करना, मन से आत्म-चितन करना-यही इन्द्रियों का संयम है।
- (११) सारांश यह है कि (१) स्त्रीजनों से युक्त स्थान, (२)

मन को छुभाने वाली स्त्रीकथा, (३) स्त्रियों का परि-चय, (४) स्त्रियों के सुन्दर श्रंगोणंग देखना—

- (१२) (५) स्त्रियों के कोयल के से मीठे शब्द, गीत, रुदन, हास्य, छादि शब्द, (६) स्त्री के साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण, (७) स्वादिष्ट भोजन खाना, (७) मर्यादा के वाहर भोजन करना—
- (१३) (९) कृत्रिम सोंदर्भ वढ़ाने के लिये शरीर की टापटीप करना श्रीर (१०) पंचेन्द्रियों के दुर्जय विषय भीग ये १० वार्ते श्रात्मशोधक जिज्ञासु के लिये तालपुटक (भर्यकर विप) के समान हैं।
- टिप्पग्री—उपरोक्त तीन क्लोकों में प्रवंकथित वस्तुएं विशेष स्पष्टता से। गिनाई हैं।
- (१४) तपस्वी भिक्ष; दुर्लभ काम भोगों को जीत कर जिन २ वातों से ब्रह्मचर्य में क्षति पहुंचने की संभावना हो ऐसे सक शंका के स्थानों को भी हमेशा के लिये त्याग देवे।
- (१५) धेर्यवान् तथा सद्धर्मरूप रथ के चलाने में सारथी के समान ऐसा भिक्षक धर्म रूपी उद्यान में ही विचरे श्रीर उसीमें श्रनुरक्त होकर इन्द्रिय दमन कर ब्रह्मचर्य में ही समाधि लगाने।
- (१६) देव, टानव, गंधर्व, यत्त, रात्तस तथा किन्नर जाति के देव भी उस पुरुष को नमस्कार करते हैं जो न्त्रत्यन्तः दुष्कर, दुर्धर ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। (ब्रह्म-चारी की देव भी सेवा करते हैं)
- (१७) यह ब्रह्मचर्य रूपी धर्म निरंतर स्थिर (शाश्वत) तथा

नित्य है। इस धर्म को धारण कर श्रनेक जीवात्माएं मोच को प्राप्त हुई हैं, प्राप्त हो रही हैं श्रीर प्राप्त होंगी ऐसा तीर्थंकर ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।

दिएपगी:—भादर्श ब्रह्मचर्य यद्यपि सब किसी को सुलभ नहीं है किन्तु वह भाकाश कुसुमवत् अशक्य भी नहीं है। ब्रह्मचर्य मुमुक्षु के लिये तो जीवनधन है। सत्यशोधक के लिये वह मार्ग दीपक है और आत्म-विकास की प्रथम सीढ़ी है। इसलिये मन, वचन और काय से यथा शक्य (शक्ति के अनुसार) ब्रह्मचर्य का आरा-धन करना, ब्रह्मचर्य की प्रीति को बढ़ाते रहना, तथा ब्रह्मचर्य रक्षण के लिये उपर्युक्त वस नियमों पर चलना यही उचित है।

### ऐसा मैं कहता हूँ:-

इस तरह "ब्रह्मचर्य समाधि (रक्षण) के स्थान" नामक स्रोलहवां अध्याय समाप्त हुआ।



# षाप श्रमणीय

## पापी साधु का अध्ययन

#### 9%

्या यम लेने के वाद उसको निभाने में ही साधुता है। यदि त्यागी जीवन में भी आसक्ति अथवा आहंकार जागृत हों तो त्याग की इमारत डगमगाये विना न रहें। ऐसे अमण, त्यागी नहीं है किन्तु उनकी गणना पापी अमणों में की जाती है।

### भगवान वोले-

- (१) त्याग धर्म को सुनकर तथा कर्तव्य परायण होकर जो कोई दीचित हो वह दुर्लभ बोधिलाभ करके फिर सुख पूर्वक चारित्र का पालन करे।
- टिप्पर्गा—बोधिलाम अर्थात् शत्मभान की प्राप्ति । आत्मभान की प्राप्ति के बाद ही चारित्र मार्ग में विशेष दृढ्ता आती हैं। चारित्रमार्ग में दृढ़ होना ही दीक्षा का उद्देश्य है। खाना, पीना, मजा करना आदि, वार्ते त्याग हा उद्देश्य नहीं है।
- (२) संयम लेने के वाद कोई कोई साधु ऐसा मानते हैं कि

उपाश्रय सुन्दर मिला है पिहरने के लिये वस्त्र मिले हैं, खाने के लिये मालपानी भी उत्तम ही मिल जाया करते हैं तथा जीवादिक पदार्थों को तो मैं जानता ही हूँ तो फिर छाव (श्रपने गुरु के प्रति) हे श्रायुष्मन् ! हे पूज्य! कहने की तथा शास्त्र पढ़ने की क्या जारूरत है ? टिप्पणी:—ऐसी विचारणा केवल प्रमाद की सूचक है। संयमी को हमेशा मनन पूर्वक शास्त्राध्ययन करते रहना चाहिये।

- (३) जो संयमी बहुत सोने की श्राद्त डालते हैं श्रथवा श्राहार पानी कर (खा पीकर) वाद में जो बहुत देर सोते रहते हैं वे पापी श्रमण हैं।
- टिप्पणी—संयमी के लिये दिनचर्या तथा रात्रिचर्या के भिन्न २ कार्य निर्दिष्ट हैं तदनुसार क्रमपूर्वक सभी कार्य करने चाहिए।
- (४) विनय मार्ग (संयम मार्ग) तथा ज्ञानं की जिन त्र्याचार्य तथा उपाध्याय द्वारा प्राप्ति हुई है उन गुरुत्रों को जो ज्ञान प्राप्ति के बाद निन्दा करता है त्र्यथवा उनका तिरस्कार करता है, वह पापी श्रमण कहलाता है।
- (५) जो श्रहंकारी होकर श्राचार्य, उपाध्याय तथा श्रन्य संगी साधुश्रों की सद्भाव पूर्वक सेवा नहीं करता है, उपकार को भूल जाता है श्रथवा पूज्यजनों की पूजा सन्मान नहीं करता वह पापी श्रमण कहलाता है।
- (६) जो त्रस जीवों को, वनस्पति श्रथवा सूक्ष्म जीवों को दुःख देता है; उनकी हिंसा करता है वह श्रासंयमी है फिर भी वह श्रपने को संयमी माने तो वह पापी श्रमण कह-लाता है।

- (७) त्यादि की शय्या, पाट, या बाजोठ, स्वाध्याय की पीठि का, बैठने की चौकी, पग पोंछने का वख, कंवल आदि सभी वस्तुओं को संभाल पूर्वक देखभाल कर काम में लावे। जो कोई इन्हें देखे भाले बिना काम में लाता है वह पापी श्रमण कहलाता है।
- टिप्पणी: —जैन शास्त्रों में संबमी को दिन में दो बार अपने साधनों की देखभाल करने की आज्ञा दी गई है क्योंकि वैसा न करने से सुक्षम जीवों की हिंसा होने की संभावना रहती है। इसके सिवाय भी अनेक अनर्थों के होने की भी सम्भावना है।
- (८) जो अपने संयम मार्ग को न शोभे ऐसे कृत्य करे; वारंवार क्रोध किया करे अथवा प्रमादपूर्वक जल्दी २ गमन करे वह पापी अमण कहलाता है।
- (९) जो देखे विना जहाँ तहाँ श्रव्यवस्थित रीति से श्रपने पात्र, वज्ञ, श्रादि साधनों को छोड़ दे श्रथवा उन्हें देखे भी तो श्रसावधानी से देखे, वह पापी श्रमण कहलाता है।
- टिप्पाः-अन्यवस्या तथा असावधानता ये दोनों संयम में बांधक हैं।
- (१०) जो श्रपने गुरुं का वचन से या मन से श्रपमान करता है तथा श्रनुपयोगी वार्ते सुनते र श्रसावधानी से प्रति लेखन (निरीक्षण) करता है वह पापी श्रमण कह- लाता है।
- (११) जो वहुत कपट किया करता है, श्रसत्य भाषण करता है, श्रहंकार करता है, लोभी या श्रजितेन्द्रिय है, श्रविश्वास तथा श्रसंविभागी (श्रवते साथी सुनियों से क्षिपाकर

श्रधिक वस्तुश्रो को भोगता ) है वह पापी श्रमण कहलाता है।

- (१२) जो श्रधर्मी (दुराचारी), श्रपनी कुबुद्धि से दूसरे की वुद्धि का श्रपमान करता है, विवाद खड़ा करता है, हमेशा कलह छेश में लगा रहता है वह पापी श्रमण कहलाता है।
- (१३) जो अस्थिर तथा कचकचाहर करते हुए आसन पर जहां तहां वैठता फिरता है, आसन पर वैठने में असावधानी करता है अथवा किसी भी कार्य में बराबर उपयोग (मन, वचन, काया का सुचार रूप से लगाना ) नहीं लगाता है वह पापी अमण कहलाता है।
- (१४) जो घूल से भरे पैरों को माड़े बिना ही शय्या पर लेटता है अथवा उपाश्रय या शय्या को विवेक पूर्वक नहीं देखता तथा शय्या में सोते २ असावधानीपूर्ण आचरण करता है वह पापी अमण कहलाता है।
- टिप्पणी-अदर्श संयमी के लिये तो छोटीसी भी भूल पाप समान है।
- (१५) जो दूध, दही अथवा ऐसे ही दूसरे तर पदार्थ वारंबार खाया करता है किन्तु तपश्चर्यों की तरफ प्रीति नहीं लगाता वह भी पापी अमरा कहलाता है।
- (१६) सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक बारंबार वेला-कुवेला (समय कुसमय) श्राहार ही किया करता है श्रीर यदि गुरु या पूल्य शिक्षा दें तो उसको न मानकर उसकी श्रवगणना करता है वह भी पापी श्रमण कहलाता है।

(१७) जो सद्गुरु को त्यागकर दुराचारियों का संग करता है

६-६ महीने में एक संप्रदाय छोड़ कर दूसरे संप्रदाय में मिलता फिरता है तथा नियचरित्र होता है वह पापी अमण कहलाता है।

- टिप्पणी—सम्प्रदाय अर्थात् गुरुकुछ । साधक निस गुरुकुछ में रहकर अपनी साधना करता हो उसे किसी खास कारण के घिना छोड़ कर दूसरे संघमें मिळने वाळा स्वच्छंबी साधु अन्तमें पतिन हो जाता है।
- (१८) श्रपना घर ( गृहस्थाश्रम ) छोड़कर संयमी हुआ है फिर भी रसलोलुर्पा श्रथवा भोगी चनकर पर ( गृहस्थों के ) घरों में फिरा करता है तथा ज्योतिप श्रादि विद्याओं द्वारा श्रपना जीवन चलाता है ( ऐसा करना साधुत्व के विरुद्ध है ) ऐसा साधु पापी श्रमण कहलाता है ।
- (१९) भिक्षु होने के वाद तो उसे 'वसुधैव छुटुंबकम्' होना चाहिये, फिर भी सामुदानिक (१२ छुल की) भिक्षा को प्रहर्ण न कर केवल अपनी जाति वाले घरों से ही भिचा प्रहर्ण करता है तथा कारण सिवाय गृहस्थ के यहां वारंवार वैठता है वह पापी अमण कहलाता है।
- टिप्पणी:— जिस कुछ में अभक्ष (मांसादि) आहार होते हों तथा नीच आचार विचार हों उसे ही वर्ज्य मानकर अन्यस्थलों से भिक्षा ग्रहण करना— ऐसी जैन शासकारों ने जैनी साधुओं को छूट दी है। गृहस्थ के यहां गृह, रोगी या तपन्त्री साधु ही कारण वद्यात् चैठ सकता है इसके सिवाय जन्य कारण से नहीं, वर्षोंकि गृहस्थ के साथ अति परिचय करने से पतन तथा एक ही जाति का पिंड छेने से वन्धन (आसक्ति) हो जाने की सम्मावना है।
- (२०) उपर्युक्त (पतित, रसलोलुपी, खन्छंदी, श्रासक्त श्रौर

कुशील ) पांच प्रकार के कुशील के लच्चणों सिहत (दुराचारी) तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप श्रीर वीर्य इन पांच गुर्गों से रिहत कुशील, केवल त्यागी का वेश-घारी ऐसा पापीश्रमण, इस लोक में विष की तरह निंद-नीय बनता है श्रीर इस लोक तथा परलोक दोनों में कभी सुखी नहीं होता।

(२१) ऊपर के सब दोपों से जो सदा काल बचता है तथा मुनि-संघ में सचा सदाचारी होता है वही इस लोक में श्रमृत की तरह पूज्य बनता है। तथा ऐसा ही साधु इस लोक तथा परलोक दोनों को सिद्ध करता है।

टिप्पणी:—संयम छने के बाद पदस्थ सम्बन्धी जवाबदारी बढ जाती है। चछने फिरने में, खाने पीने में, उपयोगी साधन रखने में, विद्या प्राप्ति में, गुरुकुछ के विनयनियम पाछन में, अथवा अपना कर्तव्य समझने में, यदि थोड़ी सी भी भूछ होती है तो उतने ही अंश में संयम दूपित होता है। अप्रमत्तता तथा विवेक को प्रतिक्षण सामने रखकर क्रोध, मान, माया, छोभ, विषय, मोह, असूया, ईंब्यी आदि आत्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करते करते आगे २ वढ़ता जाय उसी को धर्मश्रमण कहते हैं। जो प्राप्त साधनों का दुरुष्योग करता है अथवा प्रमादी बनता है, वह पाणीश्रमण कहलाता है, इसिछिये श्रमण साधक को खूब सावधान रहना चाहिये और समाधि को ही साधना करनी चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूं-

इस तरह 'पापी श्रमण्' नामक १७ वां श्रध्यायः समाप्त हुश्रा ।

# संयतीय

→<:><</p>

## संयति राजिं संवंधी

#### १८

प्रभाव हजारों व्याख्यानदाता ष्रथवा लाखों प्रभाव हजारों व्याख्यानदाता ष्रथवा लाखों चौपड़े (प्रथ) नहीं डाल सकते। ज्ञान का एकतम उद्देश्य चारित्र का स्फुरण (उत्पत्ति) है। चारित्र की एक ही चिन-गारी सेंकड़ों जनमों के कर्मावरण (कर्मों के परदों) को जला कर भस्म कर देती है। चारित्र की सुवास करोड़ों पापों की दुगैंथ को नष्ट कर देती है।

पक समय कंपिला नगरी के महाराजा शिकार के लिये कांपिल्यकेसर वन में प्रविष्ट होते हैं इस कारण इस वन के समस्त निर्दोप मृगादिक पशु भयभीत हो वेचैन हो जाते हैं। मृगया रस में इवे हुए महाराजा के हृद्य में द्या के वदले निर्देयता ने श्रद्धा जमाया है।

घोड़े पर सवार होकर, श्रनेक हिरनों को वाण मारने के चाद ज्यों हीं वह एक घायल मृग के पास श्राता है त्यों ही उस मृग के पास पद्मासन लगा कर वैठे हुए एक योगिराज को वह देखता है भ्रौर देखते ही श्राश्चर्य चिकत हो स्तंभित हो जाना है। तत्त्वण घोड़े पर से उतर कर मुनीश्वर के पास श्राकर विनयपूर्वक उनके चरण पूजन करता है श्रौर बारम्बार नमस्कार करता है।

ध्यान में ग्रहोत वैठे हुए गर्दभाली योगीश्वर को इन वातों से कुछ संवन्ध नहीं है। वे तो अपनी मौन समाधि में मग्न वेठे हैं परन्तु महाराजा योगिराज की तरफ से कोई प्रत्युत्तर न पाकर वह श्रौर भी श्रधिक भयभीत हो जाता है। निर्देशि पश्चित्रों को की हुई हिंसा उसको अब वारम्बार खटकती है। हाय, मैंने क्यों इन निर्देशिं का हनन किया किया का श्रहा विगाड़ा था के कितना निष्ठुर हुं निर्देशता का श्रहा बने हुए उसी मन में श्रव श्रनुकम्या का समुद्र हिलोरें मारने खगा।

योगीश्वर की संमाधि ट्रस्ती है। वे अपनी छांखें खोजते है! उस सौम्य मूर्ति का दर्शन कर राजा अपना नाम टाम देकर योगिराज के कृपा प्रसाद की याचना करता है। योगिराज उस भानभु के राजा को उपदेश देकर यथार्थ भान कराते है। और वहीं उसी समय उस संस्कारी आत्मा का उद्धार होता है जिसका शांतरसपूर्ण वर्णन इस अध्ययन में किया है।

### भगवान बोले-

(१) (पांचाल देश के) कंपिला नगरी में चतुरंगिनी सेना तथा गाड़ी, घोड़ा, पालकी छादि ऋद्धियों (विभूतियों) से सिहत संयति नामक महाराजा राज्य करता था। एक वार शिकार खेलने के लिये वह अपने नगर के बाहिर निकला।

प्राप्त होती हैं परन्तु आदर्श साधु; उनका कभी दुरुपयोग नहीं करते किन्तु फिर भी महाराजा को दर लगना स्वाभाविक था क्योंकि दनका हदय स्वयं दोप स्वीकार कर रहा था।

समाधि ट्रटने पर साधुने अपनी आंखें खोटीं । सामने अपनी हाथ यीधे हुए भयभीत राजा को खड़ा देख कर वे वोले ।

- (११) हे राजन ! तुम श्रभय होवो ! श्रीर श्रव से तूभी (श्रपने सं क्षुद्र) जीवों के प्रति श्रभय (दान का ) दाता हो जा । श्रनित्य इस जीवलोक (संसार) में हिसा के कार्य में क्यों श्रासक्त होता है ?
- टिप्पणी—जैमे तू मेरे भय से मुक्त हुआ वैसे ही तू भी आज से तेरे भय से सब जीवों को मुक्त कर दे। अभयदान के समान कोई दूसरा दान नहीं है। क्षणिक इस मनुष्य जीवन में ऐसी घोर हिंसा के काम क्यों करते हो?
- (१२) यदि राजपाट, महल मकान, वागवगीचा, कुटुम्ब कवीला श्रीर शरीर को छोड़ कर तुमे श्रागे पीछे कभी न कभी कमेवशात् जाना ही पड़ेगा तो श्रानित्य इस संसार में राज्य पर भी श्रासक्त क्यों होता है ?
- (१३) जिसपर तू मोहित हो रहा है वह जीवन तथा रूप ये तो विजली के कौंदा (चसकारा,) के समान एक च्राण स्थायी हैं। इसलिये हे राजन्! इस लोक की चिंता छोड़ कर परलोक की कुछ चिंता कर। भविष्य परिणाम को तू क्यों नहीं सोचता ?
- (१४) स्त्री, पुत्र, मित्र श्रथवा वन्धुवांधव केवल जिन्दगी में ही साथ देते हैं; मरने पर कोई साथ नहीं देता।

- टिप्पणी—ये रिश्तेदारियां ( सगे सम्बन्धी ), ज़िन्दगी तक ही रहते हैं और यह मनुष्य जीवन केवळ क्षणिक तथा परतन्त्र है तो उस क्षणिक सम्बन्ध के लिये जीवन हार जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।
- (१५) जैसे पितृ वियोग से श्रित दुःखी पुत्र; मृत पिता को घर के बाहर निकाल देते हैं वैसे ही मृत पुत्रों के शरीर को पिता बाहर निकालता है। सब सगे सम्बन्धी ऐसा ही करते हैं। इसिलये हे राजन्! तपश्चर्या तथा त्याग (श्रनासिक) के मार्ग में गमन करो।
- टिप्पग्री—जीव निकल जाने पर यह सुन्दर देह भी सढ़ने लगती है इसलिये प्रेमीजन भी उसको जल्दी बाहर निकाल कर चिता में जला देते हैं।
- (१६) हे राजन ! घरधणी ( मालिक ) के मरने पर उसके इकट्ठे किये हुए धन तथा पाली पोसी गई हित्रयों को कोई दूसरे ही भोगने लगते हैं तथा घरवाले लोग हर्ष तथा संतोष के साथ उस मरे हुए के आभूषणों को पहिर कर आनंद करते हैं।
- टिप्पणी—सृत सम्बन्धी का दुःख थोड़े ही दिन तक सालता है क्योंकि संसार का स्वभाव ही यह है कि स्वार्थ होने पर बहुत दिनों में और स्वार्थ न होने पर थोढ़े समय में ही उस दुःख को भूल जाते हैं।
- (१७) संगे संबंधी, धन, परिवार ये सब यहीं के यहीं रह जाते हैं। केवज जीव के किये हुए शुभाशुभ कमें हो साथ जाते हैं। उन शुभाशुभ कमों से विष्ठित जीवात्मा अकेला ही परभव में जाता है।

- (२) त्रश्वदल, हाथीदल, रथदल और पायदल इन चार प्रकार की वड़ी सेनाओं से वेष्ठित (विराहुआ)—
- (३) रस (पशु मांस के खाद) में आसक्त वह महाराजा घोड़े पर सवार होकर कांपिल्यकेसर नामक उद्यान में मृगों को भगा भगा कर भयत्रस्त कर रहा था तथा जो मृग दौड़ते २ थफ जाते थे छन्हें वाण द्वारा वींघ हालता था।
- (४) उसी कांपिल्य केंसर उद्यान में तपोधनी (तपस्वी) तथा स्वाध्याय (चिंतन) श्रीर ध्यान में लगे हुए एक श्राणः गार (साधु) धर्मध्यान में लीन होकर वैठे थे।
- (५) वृत्तों से व्याप्त ऐसे नागरवेल के मंडप के नीचे वे मुनि श्रास्तव (कर्मागमन) को दूरकर निर्मृत चित्त से ध्यान कर रहे थे। उनके पास आये हुए एक मृग को भी राजा ने वाणविद्ध कर दिया।
- टिप्पाणीः —राजा को यह खत्रर नहीं थी कि यहां कोई मुनिराज वैठे हैं। नहीं तो विष्टता की दृष्टि से वह ऐसे महायोगी के पास ऐसी घोर हिंसा का काम न करता।
- (६) हांफते हुए घोड़े पर जल्दी जल्दी दौड़कर श्राया हुआ वह राजा वहां पर पड़े हुए उस मृग हिरण को देखता है श्रीर उसको देखते ही पास में ध्यानस्थ वैठे उन त्यागी महात्मा को भी देखता है।
- (७) (यह देखते ही कि मेरे वागा से शायद मुनिराज मारे गये ! यदि मुनिराज न मारे गये हों 'तो (क्योंकि ) यह मृग उनके पास श्राया था तो संभव है यह मृग योगिराज

का ही होगा और हाय ! वह मुक्त मारा गया ! श्रव मेरा क्या होगा ? श्रथवा ऐसे दयासागर योगी के पास ऐसी घोर दिसा का काम मैंने कर डाला इससे उन्हें दु:ख होगा इत्यादि प्रकार के विचार उस राजा के मन में उठते हैं ) इससे भयभीत तथा शंकाप्रस्त वह राजा मन में श्रपने श्राप को धिक्कारता हुश्रा कि "मुक्त मंदभागी, रसासक, श्रौर हिंसक ने सचमुच ही मुनि-राज को दु:ख दिया" उस मुनिराज के पास श्राया।

- (८) घोड़े पर से उतर कर तथा उस को दूर वांध कर वह उनके पास आया और वड़ी भक्तिपूर्वक उसने मुनिराज के चरणों को वंदना की और अतिविनयपूर्वक कहने लगा कि 'भगवन, मेरे अपराध को चमा करो'।
- (९) परन्तु उस समय वे योगिराज ध्यानपूर्वक धर्मध्यान में लीन थे इससे उनने उसे कुछ भी उत्तर न दिया। राजा उत्तर न पाने से श्रौर भी भयभीत हो ज्याकुल हो गया।
- दिष्पणी:--गुन्हेगार (दांपी) का हृदय स्वयमेव जलता रहता है। उसके हृदय में भय तो पहिले ही से था, किन्तु योगीश्वर के मीन से वह ओर भी बढ़ गया।
- (१०) (राजा श्रपना परिचय देते हुए बोला:—)हे भगवन् ! में संयति (नामक राजा) हूँ । श्राप मुक्त से कुछ भी बोलो क्योंकि मुक्ते बहुत हर लग रहा है कि श्राप योगिराज कहीं कुछ होकर श्रपनी तेजोलेश्या से करोड़ों मनुष्यों को भस्म न कर डालें!

दिष्पणीः - तपस्वी तथा योगीपुरचोंको अनेक प्रकार की ऋदि सिद्धियां

प्राप्त होती हैं परन्तु आदर्श साधु; उनका कभी दुरुपयोग नहीं करते किन्तु फिर भी महाराजा को दर कगना स्त्रामानिक था क्योंकि दनका हृद्य स्वयं दोप स्वीकार कर रहा था।

समाधि इटने पर साधुने अपनी आंखें खोटीं। सामने अपनी हाथ बाँधे हुए भयभीत राजा को खदा देख कर वे बोले ।

- (११) हे राजन ! तुम श्रभय होवो ! श्रीर श्रव से तूभी (श्रपने सं क्षुद्र) जीवों के प्रति श्रभय (दान का ) दाता हो जा । श्रनित्य इस जीवलोंक (संसार) में हिसा के कार्य में क्यों श्रासक्त होता है ?
- टिप्पणी—जैमे त् मेरे मय से मुक्त हुआ वैसे ही तू भी आज मे तेरे भय से सव नीवों को मुक्त कर दे। अभयदान के समान कोई दूसरा दान नहीं है। क्षणिक इस मनुष्य जीवन में ऐसी घोर हिंसा के काम क्यों करते हो?
- (१२) यदि राजपाट, महल मकान, वागवगीचा, कुदुम्ब कवीला श्रौर रारीर को छोड़ कर तुमे श्रागे पीछ कभी न कभी कमेवरात जाना ही पड़ेगा तो श्रमित्य इस संसार में राज्य पर भी श्रासक्त क्यों होता है ?
- (१३) जिसपर तू मोहित हो रहा है वह जीवन तथा रूप ये तो विजली के कोंदा (चयकारा,) के समान एक चर्ण स्थायी हैं। इसलिय हे राजन्! इस लोक की चिंता छोड़ कर परलोक की कुछ चिंता कर। भविष्य परिणाम को तू क्यों नहीं सोचता ?
- (१४) स्त्री, पुत्र, मित्र प्रथवा वन्धुवांधव केवल जिन्दगी में ही साथ देते हैं; मरने पर कोई साथ नहीं देता।

- टिप्पणी—ये रिश्तेदारियां ( सगे सम्बन्धी ), ज़िन्दगी तक ही रहते हैं और यह मनुष्य जीवन केवल क्षणिक तथा परतन्त्र है तो उस क्षणिक सम्बन्ध के लिये जीवन हार जाना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।
- (१५) जैसे पितृ वियोग से श्रित दुःखी पुत्र; मृत पिता को घर के बाहर निकाल देते हैं वैसे ही मृत पुत्रों के शरीर को पिता बाहर निकालता है। सब सगे सम्बन्धी ऐसा ही करते हैं। इसलिये हे राजन्! तपश्चर्या तथा त्याग (श्रनासिक) के मार्ग में गमन करो।
- टिप्पाती—जीव निकल जाने पर यह सुन्दर देह भी सड़ने लगती है इसलिये प्रेमीजन भी उसको जल्दी बाहर निकाल कर चिता में जला देते हैं।
- (१६) हे राजन ! घरधणी ( मालिक ) के मरने पर उसके इकट्ठे किये हुए धन तथा पाली पोसी गई स्त्रियों को कोई दूसरे ही भोगने लगते हैं तथा घरवाले लोग हर्ष तथा संतोष के साथ उस मरे हुए के आभूषणों को पहिर कर आनंद करते हैं।
- टिप्पणी—मृत सम्बन्धी का दुःख थोड़े ही दिन तक सालता है क्योंकि संसार का स्वभाव ही यह है कि स्वार्थ होने पर बहुत दिनों में और स्वार्थ न होने पर थोड़े समय में ही उस दुःख को मूल जाते हैं।
  - (१७) संगे संबंधी, धन, परिवार ये सब यहीं के यहीं रह जाते हैं। केवज जीव के किये हुए शुभाशुभ कमें ही साथ जाते हैं। उन शुभाशुभ कमों से वेष्टित जीवारमा अकेला ही परभव में जाता है।

- टिप्पणी—संसार का ऐसा स्वरूप वताने से उस संस्कारी राजा का हृदय वैराग्यमय हो गया।
- (१८) इस प्रकार योगीश्वर द्वारा सत्यधर्म सुनकर वह राजा (पूर्व संस्कारों की प्रवलता से ) उसी समय संवेग (मोच्च की तीव्र श्रमिलापा ) तथा निर्वेद (कामभोग से विरक्ति), को प्राप्त हुआ।
- (१९) श्रव संयति राजा राज्य छोड़कर गर्दभाली मुनि के पास जैनदीचा घारण कर संयति मुनि वन गये।
- टिप्पणी—सच्चे वैराग्य के जागृत होने पर एक क्षण भी रहना मुश्किल है। ऐसे संस्कारी जीव अपूर्व आत्मवलशाली होते हैं।

गर्दभाली मुनीश्वर के शिष्य संयतिमुनि साधु जीवन में दृद् तथा गीतार्थ (ज्ञानी) वनकर गुरु आज्ञा लेकर एक वार प्रामानुप्राम विचरते हुए एक स्थान पर आते हैं । वहां टन्हें एक दूसरे राजिं के दर्शन होते हैं। ये क्षत्रिय राजिं देवलोक से चयकर मनुष्य योनि में आये हैं। वे भी पूर्व के प्रवल संस्कारी होने से टन्हें थोड़ा सा ही निमित्त मिलने पर जातिस्मरण ज्ञान होता है। और इस कारण त्यागी होकर देशदंश विचर कर जिनशासन को शोभित कर रहे हैं।

- (२०) राज्य को छोड़कर दीचित हुए वे क्षत्रिय मुनि; योगीश्वर संयित से यो प्रश्न करते हैं:—"हे मुनीश्वर! श्रापका श्रोजस्वी शरीर जैसा वाहर से दिखाई देता है वैसा ही श्रापका हृदय भी श्रोजस्वी तथा प्रसन्न है।
- (२१) श्रापका नाम क्या है ? पूर्वाश्रम में श्रापका क्या गीत्र था ? श्राप किस कारण से श्रमण हुए ? श्राप किस श्राचार्य

के शिष्य हैं ? आप किन कारणों से विनीत कहलाते हो ? (२२) (संयति मुनि उत्तर देते हैं:—) "मेरा नाम संयति है, गौतम मेरा गोत्र है ! ज्ञान तथा चारित्र से विभूषित ऐसे आचार्य गर्दभाली हमारे गुरुदेव हैं।"

उटिप्पणी-मुक्ति सिद्धि के लिये योग्य ऐसे गुरूवर की मैं सेवा करता हूँ। अब "विनीत किसे कहते हैं ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। (२३) त्रहो क्षत्रियराज महामुनि ! (१) क्रियावादी (सममे बिना केवल किया करने वाले); (२) श्रक्रियावादी ( तोता के ज्ञान के समान ज्ञानवाले किंतु किया शून्य ); (३) केवल विनय द्वारा ही मुक्ति प्राप्ति में मानने वाले; तथा ... (४) त्रज्ञानवादी—इन ४ प्रकार के वादों के पक्षपाती पुरुष भिन्न २ प्रकार के मात्र विवाद ही किया करते हैं किन्तु सच्चे तत्व की प्राप्ति के लिये जरासा भी प्रयन्न नहीं करते। इस विषय में तत्त्वज्ञ पुरुषों ने भी यही कहा है। विटप्पणी-ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि ऐसे मत को मानने वाला एकांतवादी साधक विनीत नहीं कहा जा सकता। इन वाक्यों से मैं एकांतवादों को नहीं मानता हूँ ऐसा संयति मुनिने स्पष्ट कर दिया।

(२४) तत्व के ज्ञाता, सच्चे पुरुषार्थी तथा क्षायिक ज्ञान ( शुद्ध ज्ञान ) तथा क्षायिक चारित्रधारी ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने भी इसी प्रकार प्रकट किया ( कहा ) है।

(२५) इस लोक में जो श्रमत्य प्रक्रपणा (धर्मतत्त्व को उल्टा सममाते हैं) कहते हैं वे घोर नरक में जाते हैं श्रीर जो श्रीय (सत्य) धर्म का प्रक्रपण करते हैं वे दिव्यगित को अपन होते हैं।

- (२६) सत्य सिवाय दूसरे मान कपट युक्त मत प्रवर्त रहे हैं वे निरर्थक तथा खोटे वाद हैं—ऐसा जान कर मैं संयम में दत्तवित्त हो ईयी समिति में तहीन रहता हूं।
- टिप्पणी—सर्व श्रेष्ठ जैन शासन को जानकर उस मार्ग में मैं गमन करता हूँ। इर्या समिति यह जैन श्रमणों की एक किया है। विवेक तथा उपयोगपूर्वक गमन करना—इसको इयो समिति कहते हैं।
- (२७) (चित्रिय राजिं ने कहाः—) इन सव अशुद्ध तथा श्रसत्य दृष्टि वाले श्रनार्थ मतों को मैंने भी जान लिया तथा पर-लोक के विषय मे भी जान लिया है इससे श्रन्न में सत्य-रूप से श्रात्मस्वरूप को पिहचान कर मैं भी जैना शासन मे विचरता हूँ।
- टिप्पणी—क्षत्रिय राजिं ने सब वादों को जान लिया था और उनमें अपूर्वता मालूम पड़ने से ही उनने पीछे से जैन जैसे विशाल शासनः की दीक्षा ली थी।

### यह सुनकर संयति मुनिने कहाः—

- (२८) में पहिले महाप्राण नाम के विमान में पूर्ण श्रायुष्यधारी कान्तिमान देव था। वहाँ की सौ वर्ष की उपमावाली उत्कृष्ट श्रायु है जो वहुत लम्बे काल प्रमाण की होती है।
- टिप्पणी पाँचवे देवलोक में मैं देवरूप में या तब मेरी आयु इस सागर की थी। सर्व संख्यातीत महान काल प्रमाण को सागरोपम कहते हैं।
- (२९) में उस पंचम स्वर्ग (ब्रह्म) से चय कर मनुष्य योनि में संयति राजा के रूप में अवतीर्ग हुआ हूँ। (निमित्त

वशात् दीचित होकर) श्रव में श्रपनी तथा दूसरे की श्रायु को बराबर जान सकता हूं।

- टिप्पणी—संयति राजर्षि को वैसा विद्युद्ध ज्ञान था कि जिसके द्वारा वे अपनी तथा दूसरे की आयु जान सकते थे।
- (३०) हे क्षत्रिय रार्जीष ! संयमी को भिन्न २ प्रकार की रुचियों स्वच्छन्दों का त्याग कर देना चाहिये श्रौर सभी काम-भोग केवल श्रनर्थ के मूल हैं ऐसा जानकर ज्ञानमार्ग में गमन करना चाहिये।
- (३१) ऐसा जानकर दूषित ( निमितादि शास्त्रों द्वारा कहे ज़ाते ) प्रश्नों से मैं निवृत्त हुन्ना हूँ। तथा गृहस्थों के साथ गुप्त रहस्यभरी बातें करने से भी विरक्त हुन्ना हूँ। श्रहा! संसार के सच्चे त्यागी संयमी को दिनरात ज्ञानपूर्वक तपश्चर्यों में ही संलग्न रहना चाहिये।
- उटिप्पणी—इस तरह संयति राजर्पि ने बड़ी मधुरता से साधु का आच-रण वर्णन कर स्वयं तदनुसार पालन करते हैं इसकी प्रतीति देकर विनीत (जैन शास्त्रानुसार श्रमण की व्याख्या ) कह सुनाई।
- यह सुनकर चित्रय राजिए ने इस विषय में अपनी पूर्ण सम्मित प्रकट करते हुए इम दोनों एक ही जिनशासन के अनुयायी हैं ऐसी मतीति देकर कहा:—
- (३२) यदि मुक्त से सच्चे तथा शुद्ध श्रंतः करण से पूछो तो मैं तो यही कहूँगा कि जो तत्व तीर्थं कर देवों ने कहा है वहीं श्रपूर्वज्ञान जिनशासन में प्रकाशित हो रहा है।

- (३३) उन ज्ञानी पुरुपों ने कहा है कि श्रिक्रिया ( जड़क्रिया ) को छोड़कर धीर साधक सत्यज्ञान सिंहत क्रिया को श्राचरे। तथा समदृष्टि से युक्त होकर कायर पुरुपों को कठिन लगने वाले (एसे) सद्धर्म में गमन करे।
- टिप्पणा—सम्बन्दिष्ट जीव की दृष्टि विलक्ष् सीधी होती है। वह किसी के दोप नहीं देखता। मात्र सत्य का शोधक वनकर उसीका आच-रण करता है। जैन दर्शन जिस तरह जड़िक्या (ज्ञानरहित किया) को नहीं मानता उसी तरह शुष्कज्ञान (किया रहित तोते के ज्ञान) को मी मुक्तिदाता नहीं मानता है। इसमें ज्ञान तथा चारित्र दोनों ही की आवश्यकता स्त्रीकारी गई है।
- (३४) मोच रूपी छार्च तथा सद्धर्म से शोभित ऐसे पवित्र उपदेश को भुनकर पूर्वकाल में भरत नामक चक्रवर्ती ने भी भरतकेत्र का राज्य तथा दिन्य भोगोपभोगों को छोड़कर चारित्रधर्म को छंगीकार किया था।
- (३५) पूर्व, पश्चम तथा दिल्ला दिल्ला में समुद्र पर्यन्त तथा उत्तर दिल्ला में चूलिहमवंत पर्वत तक जिसकी राज्य-सीमा थी ऐसे सगर नामक दूसरे चक्रवर्ती समुद्र तक फैले हुए भरतज्ञेत्र के विशाल राज्य तथा सम्पूर्ण अधि-कार छोड़कर संयम अंगीकार कर मोचगामी हुए हैं।
- (३६) श्रपृर्व ऋदिमान् तथा महाकीर्तिवान ऐसे मधव नामक तीसरे चक्रवर्ती भी भरतचेत्र का राज्य छोड़कर दक्षिण लकर श्रंतिम गति को प्राप्त हुए।
  - (३७) महा ऋदिमान सनत्रुमार नामक चौथे चकवर्ती ने भी

श्रपने पुत्र को राज्य देकर संयम प्रहरा किया था तथा कमों का नाश किया था।

- (३८) समस्त लोक में अपार शान्ति को प्रसराने वाले महान श्रृद्धिमान शान्तिनाथ चक्रवर्ती भी भरतचेत्र का राज्य छोड़कर प्रज्ञज्या धारणकर मोचगामी हुए।
- (३५) इक्ष्वाकु वंश के राजाओं में वृषभ के समान उत्तम तथा विख्यात कीर्तिवाले नरेश्वर चक्रवर्ती कुंथुनाथ भी राज्य पाट तथा संपत्ति का त्याग कर श्रनुत्तर गति (मोच) को प्राप्त हुए।
- (४०) समुद्र तक फैले हुए भरतचेत्र के अधीश्वर अरनाथ नाम के , सातवें चक्रवर्ती भी समस्त वस्तुओं का त्याग कर कर्म रहित होकर श्रेष्ठ गति (मोक्ष) को प्राप्त हुए।
- (४१) महान् चतुरंगिनी सेना, त्रपूर्व वैभव तथा भारतवर्ष का विशाल राज्य छोड़कर महापदा चक्रवर्ती ने दीक्षा त्रंगीकार कर तपश्चरण द्वारा उत्तम गति प्राप्त की।
- (४२) पृथ्वी पर के समस्त राजाओं के मानमहून करने वाले तथा मनुष्यों में इन्द्र के समान दसवें चक्रवर्ती हरिषेण ने महिमंडल में एकछत्र राज्य स्थापित किया और श्रन्त में उसे छोड़कर संयम धारण कर उत्तम गति (मोत्त) को प्राप्त की।
- (४३) हजारों राजाओं से वेष्ठित ११वें जय नामक चक्रवर्ती ने भी सच्चा त्याग धारण कर आत्मदमन किया और वे श्रंतिम गति (मोच ) के अधिकारी हुए।

टिप्पणी—चक्रवर्ती अर्थात् इह एांड का अधिपति राजा। ऐसे महा-भाग्यशाली पुरुपों ने भी अपार समृद्धि तथा मनोरम कामभोगों को छोड़कर न्यागधर्म अंगीकार किया था। भरतखंड के १२ चक्रवर्तियों में से टपरोक्त १० मोक्षगामी हुए। तथा ८ वां चक्रवर्ती सुमृम तथा १२ वां चक्रवर्ती ब्रह्मडच ये दोनों भोग भोगकर नरक गति में गये।

## जैन शासन में कीन २ राजा दीचित हुए हैं उनकी नामावित

- (४४) प्रत्यक्ष शक्रेन्द्र की प्रेरणा होने से, प्रसन्न तथा पर्याप्त दशार्णभद्र ने दशार्ण राज्य को छोड़कर त्याग मार्ग स्वीकारा।
- (४५) साचान् शकेन्द्र की प्रेरणा होने पर भी निमराजा तो भोगों से श्रपनी श्रात्मा को वश में रखकर वैदेही नगरी तथा घर-वार को छोड़कर चारित्र धर्म में सावधान हुए।
- (४६) कलिंग देश के करकंडु राजा, पांचाल देश के द्विमुखराजा, विदेह देश के (मिथिला नगरी के) निमराजेश्वर तथा गांधार देश के निर्गत नाम के राजेश्वर परिश्रह त्याग कर संयमी वने।
- टिप्पर्शा—ये चारों प्रत्येक बुद्ध ज्ञानी पुरुप हो गये हैं। प्रत्येक बुद्ध , उसे कहते हैं जो किसी एक एक पदार्थ को देखकर बोध को प्राप्त हुए हैं।
- (४७) राजाश्रों में श्रमणी के समान ये सब राजा श्रपने २ पुत्रों को राज्य देकर जिनशासन में श्रतुरक्त हुए थे श्रीर उनने चारित्र मार्ग की श्राराधना की थी।

- (४८) सिंधु सोवीर देश के श्रयगी समान ह्हायन नामक महाराज ने राज्य छोड़कर संयम धारण किया श्रीर श्रन्त में मोच्चगति प्राप्त की।
- (४९) काशी देश के ( सप्तम नन्दन नामक बलदेव ) राजा ने भी राज्य तथा काम भोगों को छोड़कर संयम प्रहण् किया श्रौर श्रन्त में कल्याण तथा सत्यमार्ग में पुरुषार्थ करके कर्मरूपी महावन को काट डाला।
- टिप्पणी —वासुदेव की विभूति तथा बल चक्रवर्ती की ऋदि से आधी होती है। वासुदेव के बड़े भाई को बलदेव कहते हैं। बलदेव धर्म प्रेमी ही होते हैं और वे कभी भोगों में रक्त नहीं होते और नियम से मोक्षगामी होते हैं।
- (५०) श्रपयश का नाश करने वाले तथा महाकीर्ति वाले ऐसे विजय नामक राजा ने भी गुण समृद्ध राज्य की छोड़कर दीचा धारण की।
- टिप्पणी-विजय ये दूसरे नंबर के बलदेव हैं।
- (५१) उसी प्रकार प्रसन्नचित्तपूर्वक उप तपश्चर्या धारण कर महावल नामक राजिष भी माथा देकर केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त कर मुक्तिगामी हुए थे।
- टिप्पग्गि—उपरोक्ष राजाओं के सिवाय दूसरे सात बलदेव राजा तथा दूसरे अनेक राजा भी जैनशासन में संयमी हुए हैं। यहाँ तो केवल थोड़े से ही प्रसिद्ध दृष्टांत गिनाए हैं।
- (५२) घीरपुरुप निष्प्रयोजन वाली वस्तुत्र्यों के साथ उन्मत्त की तरह स्वच्छंदी होकर कैसे विचरे ? ऐसा विचार करके

ही उपरोक्त भरतादिक शूरवीरों तथा प्रवल पुरुपार्थी पुरुषों ने ज्ञान तथा क्रिया से युक्त जैनमार्ग को धारण किया था।

(५३) संसार का मृल शोधने में समर्थ यह सत्यवाणी मैंने श्राप से कही है, उसे सुनकर श्राचरण में लाने से वर्द्धत से महापुरूप (इस संसार सागर को ) तैर कर पार गये हैं; वर्तमान काल में (तुम्हारे जैसे ऋषिराज) तर रहे हैं श्रीर भविष्य में श्रानेक भवसागर पार जायेंगे।

टिप्पणी—इस तरह इन डोनों आत्मार्थी अणगारों का सत्संग संवाद समाप्त होता है और डोनों अपने २ स्थानों को विहार कर जाते हैं।

(५४) घीरपुरूप संसार की निरर्थक वस्तुओं के लिये अपनी आत्मा को क्यों हते ? अर्थात् नहीं हते ऐसा जो कोई विवेक करता है वह सर्व संग (आसक्तियों) से मुक्त होकर त्यागी होता है और अन्त में निष्कर्मा होकर, सिद्ध होता है।

टिप्पणी—चक्रवर्ती जैसे महाराजाओं में मनुष्य लोक की संपूर्ण शक्ति जितनी शक्ति तथा ऋदि होती है। भला उनके भोगों में क्या कमी हो। सकती हैं ? फिर भी उनको पूर्ण तृष्ति तो नहीं हुई। सची वात तो यह हैं कि तृष्ति भोगों में हैं की नहीं, वह केवल वैराग्य में है। तृष्ठि निरासिक में है, तृष्ति निर्मोह दशा में है, इसीक्षिये ऐसे समर्थे तथा समृद्धिवान राजाओं ने वाह्य संपत्ति को छोड़कर आन्तरिक संपत्ति की प्राप्ति के लिये संयम मार्ग में गमन किया था।

सुख का केवल एक ही मार्ग है; शान्ति से मेंटने की केवल एक ही श्रेणी है तथा सन्तोप का यह एक ही सोपान है। अनेक जीवारमाणें भूलकर,भटक कर, इधर दधर रखद कर अन्त में यहीं आई हैं, यहाँ ही उनने विश्राम लिया है और यहाँ ही उन्हें इष्ट पदार्थ की प्राप्ति हुई है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने कहा था वह मैंने श्रब तुमसे कहा है—ऐसा श्री सुधर्म खामी ने जंबू स्वामी से कहा।

'ऐसा मैं कहता हूँ'—

इस तरह संयति मुनि संबंधी श्रठारहवाँ श्रध्ययनः समाप्त हुत्रा ।



# मृगापुत्रीय

ちゅうのよう

## मृगापुत्र संवंधी

#### 38

कि कम के परिणाम कर होते हैं। दुरातमा की दुष्ट वासना की का श्रमुसरण करने में बड़ा भय है। केवल एक छाटी सी भूल से इस लोक तथा परलोक दोनों में श्रमेक संकट भोगने पड़ते हैं। दुर्गति के दुःख इतने दारुण होते हैं जिनको सुन कर भी रांमें खड़े हो जाते हैं तो फिर उनको भोगने की तो वात ही क्या?

मृगापुत्र पूर्व के संस्कारों के कारण योगमार्ग पर जाने के लिये तत्पर होता है। माता पिता अपने पुत्र को योगमार्ग में आने वाले दारण संकटों तथा कछों का परिचय देते है। पुत्र उत्तर देता है:—माता पिता जी! खेच्छा से सहन किये हुए कष्ट कहां? और परतंत्र रूप से भोगने पड़ते दारण दुःख कहां? इन दोनों में समानता हो ही नहीं सकती।

श्चन्त में मृगापुत्र की संयम ग्रहण करने की उत्कट श्रिमिलापा माता पिता को पिघला देती है। संसार का त्याग कर तथा त्तपश्चर्या का मार्ग ग्रहण कर योगीश्वर मृगापुत्र इसी जन्म में परम पुरुषार्थ द्वारा कर्मरूपी कांचली को भेदते हैं तथा झन्तिम ध्येय को प्राप्त कर शुद्ध बुद्ध और सिद्ध वन जाते हैं।

### भगवान बोले--

- (१) बड़े २ वृक्षों से गाढ बने हुए काननों, क्रीड़ा करने योग्य उद्यानों से सुशोभित तथा समृद्धि के कारण रमणीय ऐसे सुप्रीव नामक नगर में बलभद्र नामक राजा राज्य करता था और उसकी पटरानी का नाम मृगावती था।
- (२) माता पिता का श्रत्यंत प्यारा तथा राज्य का एकमात्र युवराज बलश्री नाम का उनके एक राजकुमार था जो दिमतेन्द्रियों में श्रमणी था। उसको प्रजा मृगापुत्र कह कर पुकारती थी।
- (३) वह दोगुन्दक (त्रायस्त्रिंशक जाति के) देव की तरह मनोहर रमिश्यों के साथ हमेशा नन्दन नामक महल में. श्रानन्द पूर्वक क्रीड़ा किया करता था।

टिप्पााी—देवलोक में त्रायखिशक नामक भोगी देव होते हैं।

- (४) जिनके फर्श मिए तथा रत्नों से जड़े हुए हैं ऐसे महल में बैठा हुन्ना वह खिड़की में से नगर के तीन रास्तों के संगम स्थानों, चौरस्तों तथा बड़े बड़े चौगानों को सरसरी तौर से देख रहा था।
- (५) इतने में उस मृगापुत्र ने तपश्चर्या, संयम तथा नियमों को धारण करने वाले श्रपूर्व ब्रह्मचारी तथा गुणों की खान के समान एक संयमी को वहां से जाते हुए देखा।

- (६) मृगापुत्र एक टक मं उस योगीश्वर को देखता रहा। देखते देखते उसको विचार त्राया कि कहीं न कहीं ऐसा स्वरूप (वेश) मैंने पहिले कभी देखा है।
- (७) साधुनों के दर्शन होने के बाद इस प्रकार चितवन करते हुए (उसका) हुभ श्रध्यवसाय (मनोभाव) जागृत हुश्रा श्रीर क्रम से मोहनीय भाव उपशांत ऐसे मृगापुत्र को तस्क्षण जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुश्रा।
- टिप्पग्री—जैन दर्शन में प्रत्येक जीवातमा क्षाठ कमों से वेष्टित माना गया है और उन्हों कमों का यह फल है कि इस आत्मा को जनम मरण के दुःव मोगने पढ़ रहे हैं। इन आठ कमों में मोहनीय कमें सवसे अधिक कर तथा बलवान है। इस को उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडा कोडी सागरोपम है। इतनी स्थिति अन्य किसी भी कमें की नहीं है। इस कमें का जितने अंशों में क्षय अथवा उपशम होता जाता है उतनी उतनी आत्मामिमुख प्रवृत्तियां बढ़ती जाती है। मृगापुत्र के मोहनीय कमें के उपशम होने से उन्हें जाति स्मरण ज्ञान होना आनिवाय नहीं है। इस ज्ञान के होने से संज्ञी (मन सहित) पंचेंदिय जीव अपने पिछले ९०० भवों का समरण कर सकता है। जातिस्मरण ज्ञान मतिज्ञान का ही एक भेद है।
  - (८) संज्ञी (मन सहित) पंचे न्द्रिय का ही होने वाले (जाति स्मरण) ज्ञान के उत्पन्न होने से उसने अपने पूर्व भवों का स्मरण किया तो उसे माछ्म हुआ कि वह देवयोनि में से चयकर मनुष्य भव में आया है।

- क्ष महान ऋदिवान मृगापुत्र पूर्व जन्मों का स्मरण करता है। उनको स्मरण करते करते उन भवों में धारण किये साधुत्व का भी उसे स्मरण होता है।
- (९) साधुत्व की याद त्र्याने के बाद (इन्हें) चारित्र के प्रति श्रत्यधिक प्रीति श्रौर विषयों से उतनो ही विरक्ति पैदा हुई। इसलिये मातापिता के पास श्राकर वे इस प्रकार वचन बोले ।
- (१०) हे मातापिता ! पूर्व काल में मैंने पंच महात्रत रूपी मंयम धर्म का पालन किया था उसका मुक्ते स्मरण होरहा है छोर इस कारण नरक, पशु श्रादि श्रनेक गति कें दुःखों से परिपूर्ण इस संसार समुद्र से निवृत होना चाहता हूँ। इसलिये श्राप मुक्ते श्राज्ञा दो। में पवित्र प्रतित्या (गृहत्याग ) श्रंगीकार करूंगा।
- टिप्पणी—"पूर्वकाल में पंचमहानत धारण" करने की बात कही है इससे सिद्ध होता है कि प्रथम तीर्थद्वर श्री ऋषभदेव के समय में मृगापुत्र संयमी हुऐ होंगे।
- (११) हे मातापिता ! अन्त में विष (किंपाक) फल की तरह निरन्तर कडुए फल देंने वाले तथा एकान्त दुःख की परम्परा से वेष्टित ऐसे भोगों को मैंने (पूर्व काल तथा इस जन्म में) खूब खूब मोग लिया है।
- (१२) यह शरीर श्रश्चित्व (शुक्र वीर्यादि) से उत्पन्न होने से केवल श्रपवित्र तथा श्रनित्य है (रोग, जरा, इत्यादि के) दु:ख तथा क्लेशों का भाजन है तथा क्षणभंगुर है।

<sup>🕸</sup> यह गाथा किसी किसी प्रति में अधिक पाई नाती है।

- (१३) पानी के बुद्बुद् के समान श्रस्थिर इस शरीर में मोह कैसा ! वह श्रभी श्रथवा पीछे ( वाल, तरुण, वृद्धावस्था में कभी न कभी ) श्रवश्य जाने वाला है तो मैं उस में क्यों छुभाऊं ?
- (१४) (यह शरीर) पीडा तथा कुष्टादि रोगों का घर है, बुढापा तथा मृत्यु से विरा हुआ है। ऐसे श्रसार तथा चणभंगुर मनुष्य के शरीर में श्रव मुक्ते चणमात्र के लिये भी रित (श्रानन्द) प्राप्त नहीं होता।
- (१५) ऋहो ! सचमुच यहं सारा ही संसार ऋत्यन्त दुःखमय है। इसमें रहने वाले विचारे प्राणी जन्म, जरा, रोग तथा मरण के दुखों से पिसे जा रहे हैं।
- (१६) (हे मातापिता)! ये सब चेत्र, घर, सुवर्ण, पुत्र, स्त्री, वन्धु वांधव तथा इस शरीर को भी छोड़ कर त्र्यागे पीछे कभी न कभी, पराधीन रूप में सब को श्रवश्य जाना ही पड़ेगा।
- टिप्पणी—जीवात्मा यदि इन कामभोगों को नहीं छोड़ेगा तो ये काम-भोग ही कभी न कभी इसे छोड़ हैंगे। जब छोड़ना निर्धित है तो क्यों न में उन्हें स्वेच्छाप्वेंक छोड़ हैं? स्वेच्छा से छोड़े हुए काम-भोग दुःखद नहीं, किन्तु सुखद होते हैं।
- (१७) जैसे किंपाक फल का परिणाम श्रन्छ। नहीं होता वैसे ही भोगे हुए भोगो का फल सुन्दर नहीं होता।
- टिप्पर्णा—किंपाक बृक्ष का फल देखने में मनोहर तथा खाने में अति-मधुर होता है परन्तु खाने के बाद थोड़ी ही देर में उससे मृत्यु हो जाती है।

- (१८) (श्रीर हे माता पिता!) जो मुसाफिर श्रद्वी (बीयां-बान जंगल) जैसे लम्बे मार्ग पर कलेवे के विना मुसाफिरी करने को चल पड़ता है श्रीर श्रागे जा कर भूख प्यास से श्रत्यन्त पीडित होता है।
- (१९) उसी तरह जो छात्मा धर्म धारण किये विना पर भव में जाता है वह वहां जाकर छनेक प्रकार के रोगों तथा उपाधियों से पीडित होता है।
  - टिप्पाणी—यह संसार एक प्रकार की अटवी है। जीव मुस्एितर है। तथा धर्म कलेवा है। जो साथ में धर्म रूपी कलेवा हो तो ही पर जन्म में शान्ति मिल सकती है और समस्त संसार रूपी अटवी को सजुशल पार कर सकता है।
  - (२०) जो मुसाफिर श्रटवी जैसे लम्बे मार्ग पर कलेवा साथ ले कर गमन करता है वह रास्ते में क्षुधा तथा तथा तथा से रहित सुख से गमन करता है।
  - (२१) उसी तरह जो श्रात्मा धर्म का पालन करके परलोक में जाता है वह वहां श्रन्पकर्मी होने से सदैव नीरोग रह कर सुख लाभ करता है।
  - (२२) श्रोर हे मातापिता ! यदि घर में श्राग लग जाय तो घर का मालिक श्रसार वस्तु को छोड़ कर सब से पहिले बहुमूल्य वस्तुएं ही निकालता है।
  - (२३) उसी द्वाह यह समस्त लोक जन्म, जरा, मरण से जल रहा है। यदि श्राप मुक्ते श्राज्ञा दें तो मैं उसमें से (तुच्छू काम भोगों को छोड़ कर) केवल श्रपनी श्रात्मा को है। इवार छं।

- (२४) (तरुण पुत्र की उत्कट इच्छा देख कर) माता पिता ने कहा—हे पुत्र ! साधुपन श्रत्यन्त कठिन है । साधु पुरुष को हजारों गुण धारण करने पड़ते हैं ।
- टिप्पणी —सचे साधु को समस्त दोपों को दूर कर हजारी गुणों का विकास करना पढ़ता है।
- (२५) जीवन पर्यन्त जगत के समस्त जीवों पर समभाव रखना पड़ता है। शत्रु तथा मित्र दोनों को एक दृष्टि से देखना पड़ता है छौर चलते, फिरते, खाते, पीते आदि प्रत्येक किया में होने वाली सृहमातिसृहम हिंसा का त्याग करना पड़ता है। सचमुच ऐसी परिस्थिति प्राप्त करना सर्व सामान्य के लिये दुर्लभ है।
- (२६) साधु जीवन पर्यन्त भूल में भी श्रसत्य नहीं बोलता । सतत श्रयमत्त (सावधान) रहकर हितकारी किन्तु सत्य वचन ही बोलना यह वात बहुत बहुत कठिन है।
- (२७) साधु दांत कुरेदने की सींक तक भी स्त्रेच्छा पूर्वक दिये विना यहण नहीं कर सकता। इस तरह की निर्दोप भिक्षा प्राप्त करना ऋति कठिन है।
- टिप्पणी—दश्विकालिक सृत्र के तीसरे अध्ययन में ४२ दोपों का वर्णन है। उन दोपों से रहित भोजन को ही प्रहण करने की साधु को आज्ञा है।
- (२८) कामभोगों के रस के जानकार के लिये अन्नहाचर्य (मैथुन) से विलक्कल विरक्त होना अत्यन्त कठिन वात है। ऐसा घोर अखंड नद्यचर्य व्रत पालन करना अति अति कठिन है।

- टिप्पणी— जिसने स्त्रीभोग विषयक रस को जानिकया है उसकी अपेक्षा आजन्म ब्रह्मचारी के लिये ब्रह्मचर्य पालन करना अधिक सरल है क्योंकि आजन्म ब्रह्मचारी को तो उस रसकी खबर न होने से संकल्प विकल्प या स्मरण होने का कारण ही नहीं है किन्तु जो उस रस को जानता है वह तो स्मरण, संकल्प विकल्प, तथा उसके बाद मान-सिक, वाचिक तथा शारीरिक ब्रह्मचर्य की बड़ी सुविकल से रक्षा कर सकता है।
- (२९) धन धान्य या दास दासी श्रादि किसी भी प्रकार का परिष्रह न रखना तथा हिंसादि सभी क्रियाश्रों का त्याग करना बड़ा ही कठिन है। त्याग करके भी श्रासक्ति का न रखना यह श्रीर भी कठिन है।
- (३०) साधु अन्न, पानी, मेवा, या मुखवास इन चारों में से किसी भी प्रकार का आहार रात्रि को प्रहण नहीं कर सकता तथा किसी भी वस्तु का दूसरे दिवस के लिये संप्रह नहीं कर सकता। यह छठा न्नत है और यह भी अति कठिन है।
- दिप्पाती—जैन साधु को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महावर्तों का मन, वचन, काय से विशुद्ध रीति से आजीवन पालन करना पढ़ता है। तथा रात्रि भोजन का भी सूर्वथा स्थाग करना पढ़ता है।

साधु जीवन में आने वाले आकस्मिक संकट-

(३१) क्षुघा, तथा, शीत, उद्या, दंशमशक (ध्यानावस्था में हैं डांस मच्छरों द्वारा कष्ट पहुँचना ), कठोर वचन, दु:खद् स्थल, तणस्पर्श, मल्।

- (३२) मारपीट, तर्जन, वध तथा वंधन आदि के कष्ट सहना भी आसान नहीं है। सदा भित्ताचर्या करना, मांगने पर भी दिया हुआ ही प्रहण करना, मांगने पर भी न मिलना आदि के दुःख सहना वड़ा कठिन है।
- (३३) यह कापोती वृत्ति ( कवृतर की तरह कांटे छोड़कर परि-मित अन्नकण का चुगना ) संयमी जीवन, दारुण केश-लोंच तथा दुर्घर त्रहाचर्य पालन आदि का पालन शक्ति-शालियों के लिये भी वहा हो कठिन है।
- टिप्पण्णि—जैन मुनियों को आजन्म हाथ से अपने केश उखाइने की तपश्चर्या करनी पड़ती है। इसको केस लींच कहते है।
- (३४) मातापिता ने कहा:—हे पुत्र ! तू सुकोमल है; भोग्न त्रिलासों में श्रिति श्रासक्त रहा है तथा भोगविलासों ही के यांग्य तेरा शरीर है। हे पुत्र ! तू सचमुच साधुत्व धारण करने को समर्थ नहीं है।
- (३५) हे पुत्र ! लोहे के भारी बोम के समान आजीवन श्रवि-श्रांत रूप से संयमी के उचित गुर्णों का भार वहन करना तेरे लिये दुष्कर है ।
- (३६) हे पुत्र ! गगनचुन्त्री घवल शिखर वाले चूलहिमवंत पर्वत से निकलती हुई गंगा की धार रोकना अथवा दो हाथों से सागर को तर जाना जैसे अति कठिन है वैसे ही संयमी गुणों को पूर्णरूप से धारण करना तेरे लिये अति कठिन है।
- (३७) रेत का कौर (उर्द्ध जित्ना है जित्ना ही नीरस (विषय-सुद्ध

- चलना जितना कठिन है उतना ही तपश्चर्या के मार्ग पर
- (३८) हे पुत्र ! जैसे सांप की तरह एकान्त सीधी ( श्रात्म ) दृष्टि से चारित्र मार्ग में चलना दुष्कर है; जैसे लोहे के चने चवाना कठिन है वैसा ही कठित संयम पालन करना है।
- (३९) जैसे प्रज्वलित श्राग्न की शिखा को पीजाना कठिन है वैसे ही तक्या वय में संयम पालना कठिन है।
- (४०) जैसे हवा से थैली भरना कठिन श्रथवा श्रसाध्य है वैसे ही कायर द्वारा संयम का पालन होना कठिन है।
- (४१) जैसे कांटे से एक लाख योजन वाले मेर पर्वत को भेदना श्रशक्य है वैसे ही निर्वल मनोवृत्ति के पुरुषों द्वारा शंका रहित तथा निश्चल संयम का पालना कठिन है।
- (४२) जैसे दो हाथों से विस्तीर्ण समुद्र को पार कर जाना कठिन है वैसे ही अनुपशांत (अशक्त) जीवों द्वारा दम (इंद्रिय निम्नह) रूपी सागर का पार कर जाना कठिन है।
- (४३) इसितये हे पुत्र । अभी तो तू स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द इन पांचों इन्द्रियों के विषयों को मनमाना भोग और भुक्तथोगी होकर बाद में कभी चारित्रधर्म को खुशी से प्रहण करना ।
  - (४४) इस प्रकार मातापिता के वचन सुनकर मृगापुत्र ने कहा:—हे माता पिता ! आपने जो कहा सो सब सत्य है हैं परन्तु निःस्पृही (इच्छा रहित) के लिये इस लोक में कुछ भी श्वशक्य नहीं है।

- (४५) इस संसारचक्र में दु:ख तथा भय उत्पन्न करने वाली शारीरिक तथा मानसिक वेदनाएं श्रनंत वार सहन कर चुका हूँ।
- (४६) जरा तथा मरण से घिरे हुए तथा चार गति रूप भय से भरे हुए इस संसार में मैंने जन्म-मरण की महा भयंकर वेदनाएं वहुत वार सहन की हैं।

## नरक भूमि के घोर दुःख—

- (४७) यहां की श्राग्न जितनी गरमं होती है उससे श्रानन्त गुनी' श्राधिक गरम नरक योनि की श्राग्न होती है। नरक योनियों में ऐसी उप्ण वेदनाएं मैंने कमेवशात् वहुत वारा सहन की हैं।
- (४८) यहां की ठंडी की अपेक्षा नरक योनि में अनंत गुनी अविक ठंडी पड़ती है। मैंने (कर्मवशात्) अनेक वार नरक योनि में वैसी ठंडी की वेदनाएं सहन की हैं।
- (४९) कंदु नाम की छुंभी (लोहे की कुप्पी) में विलाप करता करता पैर ऊंपर तथा सिर नीचे (ओंघा) किया जाकर अनेक वार में (देवकृत) अग्नि में पकाया गया हूँ।
- े टिप्पग्गी—नरक योनि में कन्दु आदि नाम के भिन्न २ छुंमी स्थान होते हैं जहाँ नारकी जीव उत्पन्न होते हैं। उन नारकी जीवों को परमार्ध्यामिक नामक यहां के अधिष्ठाता अनेक कष्ट देते हैं।
  - .०) पूर्व काल में महा दावाग्नि के समान मर्भूमि की वज्र जैसी कठिन नली वाली कदंव वाछका नदी में में अनंत वार जला हूँ।

- (५१) कन्दु कुंभियों में श्रसहाय ऊंचा बँघा हुत्रा तथा जोर २ से. चिहाता हुत्रा में श्रारा तथा क्रकच (शस्त्र विशेष) श्रादि द्वारा श्रनेक बार चीरा गया हूँ।
  - (५२) श्रित तीक्ष्ण कांटों से व्याप्त ऐसे सेंमल वृक्ष के साथ बॉधकर तथा श्रागे पीछे उल्टा सुल्टा खींचकर परमा-घामिकों द्वारा दी गई यातनायें मैंने श्रनेक वार सहन की हैं।

टिप्पणी—सॅमल का वृक्ष ताड़ से भी अधिक ऊँचा होता है।

- (५३) पापकर्म के परिगाम से मैं पूर्वकाल में बड़े २ यंत्रों में गन्ने की तरह स्रिति भयंकर चीत्कार करता हुन्ना स्रिनेक बार पेरा गया हूँ।
- (५४) सूत्रार तथा कुत्ते के समान श्याम शेवल जाित के परमा-धार्मिक देवों ने स्त्रनेक बार तड़फा तड़फा कर मुक्ते जमीन पर दे मारा, शस्त्रादिकों से मुक्ते चीरफाड़ डाला तथा वचास्रो, वचास्रो की प्रार्थना करते हुए भी स्रनेक बार मेरे दुकड़े रे कर डाले हैं।
  - (५५) परमाधार्मिको ने पापकर्म से नरक स्थान में गये हुए मेरे शरीर के सरसों के पुष्पवर्णी तलवार, खड़, तथा भालों से दो खंड, श्रानेक खंड तथा श्राति सूक्ष्म खगड़ २ कर डाले।
  - (५६) चमचमाते हुए धुरा तप्त जुआवाले तथा लोहे के रथ में प्रवशात जोड़ कर तथा जुए के जोतों द्वारा वांच कर जिस तरह लाठियों से रोज (पशु विशेष) को मारते हैं वैसे ही मुक्ते भी मर्मस्थानों, अथवा जमीन पर डाल खूब मार मारी है।

- (५७) चितात्रों में रख कर जिस तरह भैंसों को भून डालते हैं वैसे ही पापकर्मों से वेष्टित मुक्ते पराधीन रूप से प्रदीप्त श्रिम में डाल कर भूना है तथा जला कर भस्म कर डाला है।
- (५८) ढेंक तथा गिद्ध पिचयों के रूप घर कर लोहे की सणसी के समान मजवूत चोंचों द्वाग रुदन करते हुए मुक्त को परमाधार्मिकों ने अनंत बार चोंचें मार २ कर दुःख दिया है।
- (५९) नरक गित में प्यास से बहुत पीड़ित होकर में इधर-उधर दौड़ता फिरा और बैतरणी नदी में पानी देखकर में उधर दौड़ पड़ा। किन्तु उस छुरा को सी पैनी धार वाले पानी ने मेरे श्रंगभंग कर डाले।
- (६०) ताप से पीड़ित होकर श्रिख (तलवार) पत्र नामक वन में (छाया की श्राशा से) गया था। वहां वृक्ष के नीचे वैठा ही था कि माट ऊपर से तलवार के समान धारवाले पत्तों के पड़ते से मैं श्रनन्तवार छेदा गया।
- (६१) मुग्दर, मूसल नामक शस्त्रों, जूलों, तथा सहाखों द्वारा मेरे श्रंगडपांग सब छिद गये थे श्रीर ऐसे दु:ख मैंने ध्रनंतवार सहन किये हैं।
- (६२) छुरी की तीक्ष्ण धार से मेरी अनन्तवार खाल उतारी गई तथा अनन्तवार में कैवियो द्वारा काटा और छेदा गया हूँ। ३) (वहां) शिकारी की कपट जालों में पकड़ा जाकर मृग की तरह परवशता के कारण बहुत बार बांधा गया, कैंधा गया वथा मुक्त पर बोक्त लादा गया।

- (६४) मोटे जाल के समान छोटों २ मछलियों को निगल जाने वाले मगरमच्छों के सामने एक छोटे से मच्छ की तरह परवशता के कारण बहुत बार मैं परमाधार्मिकों द्वारा पकड़ा गया, खींचा गया, फाड़ा गर्या श्रौर मारा गया।
- (६५) जिस तरह कांटे वाली तथा लेपवाली जालों में पत्ती विशेषतः फांसे जाते हैं उसी तरह मैं परमाधार्मिकों द्वारा श्रातेक वार पकड़ा गया, लेपागया, बांधा गया तथा मारा गया।
- (६६) बढ़ई जिस तरह वृक्ष के टुकड़े २ कर देता है वैसे ही परमाधार्मिकों ने कुल्हाड़ी तथा फरसों द्वारा मुक्ते चीर डाला. मृंज की तरह वंट डाला, कूट डाला तथा छील डाला।
- (६७) जैसे छुहार चीमटा तथा घन से लोहे को टीपता है वैसे ही मैं भी अनंतवार कूटा गया हूँ, भेदा गया हूँ और मारा गया हूँ।
- (६८) मेरे बहुत श्रिधक चीत्कार तथा रुदन करने पर भी तांबा, लोहा, सीसा, श्रादि धातुश्रों को खूब खौलती हुई गरम करके मुमे जबर्दस्ती पिलाया है।
- (६९) ( उक्त धातु प्रवाहों को मुक्ते पिलाते २ परमाधार्मिक यों कहते जाते थे:—) ऋो अनार्य कार्य करने वाले ! तुक्ते पूर्वभव में मांस बहुत प्रिय था तो ले यह मांस पिंह ! ऐसा कह कर उनने ऋपि से लाल तप्त चिमटों से देश शरीर का मांस नोंच २ कर तथा उसे ऋपि में तपा जबर्दस्ती मेरे मुँह में अनेक वार हूँसा था।

(७०) (तथा तुमें) पूर्वभव में गुड़ तथा महुडे आदि

Dr.

वनी हुई शराव बहुत पसंद थी तो यह ले शराव! ऐसा कहकर उनते श्रतेक बार मेरे ही शरीर के रक्त तथा चरवी निकाल तथा तपाकर मुक्ते पिलाया है।

- (७१) भयसिहत, उद्देग सिहत, दुःख सिहत पीड़ित मैंने श्रात्यनत दुःख पूर्ण वेदनाश्रों के श्रानेक श्रानुभव किये हैं।
- (७२) नरक्योनि में मैंने तीव्र, भयंकर, श्रसहा, महाभयकारक, घोर एवं प्रचंड वेंदनाएं श्रनेक वार सहन की हैं।
- (७३) हे तात ! मनुष्य लोक में जैसी भिन्न २ प्रकार की वेदनाएं सही जाती हैं उससे अनन्त गुनी वेदनाएं नरकं में भोगनी पड़ती हैं।
- (७४) हे माता-िपता ! जहां पलक मारने (पलमात्र) तक के लिये भी शांति नहीं है ऐसे सर्व भवों में मैंने असाताएं (वेदनाएं) सही हैं।
- (७५) यह सुनकर माता-िपता ने कहा:—"हे पुत्र ! जो तेरी इच्छा है तो भले ही ख़ुशी से दीना प्रहण कर किंतु चारित्र धर्म में दुःख पड़ने पर प्रतिक्रिया (इलाज) नहीं होती—क्या यह तुमें खबर है"
- (७६) मृगापुत्र ने जवाब दिया:— "श्राप जो कहते हैं वह सत्य है। परन्तु मैं श्राप से यह पृंछता हूँ कि जंगल में पशु-पन्नी विचरते हैं उनके ऊपर कप्ट पड़ने पर उनकी प्रतिक्रिया कौन करता है "
- (१ क्षेत्रणी—पञ्चपक्षियों के कष्ट जैसे उपाय किये यिना ही शान्त हो जाते:
  - इं) जैसे जंगल में श्रकेला मृग सुख से विदार करता है वैसे

ही संयम तथा तपश्चर्या से मैं एकाकी (रागद्वेष रहित) होकर चारित्र धर्म में सुख पूर्वक विचक्ता।

- (७८) बड़े वन में एक बड़े वृक्ष के मूल में वैठे हुए मृग को जब (पूर्वकर्मीदय से) रोग उत्पन्न होता है तब वहाँ/
  उसका इलाज कौन करता है ?
- (७९) वहां जाकर उसे कौन श्रौषधि देता है ? उसके सुख दु:ख की चिन्ता कौन करता है ? कौन उसको भोजन पानी लाकर खिलाता है ?
- टिप्पणी जिसके पास अधिक साधन हैं उसीको सामान्य दुःख अति-दु-ख रूप माल्यम होते हैं।
- (८०) जब वह नीरोग होता है तब वह स्वयमेव वन में जाकर सुन्दर घास तथा सरोवर दूँढ़ लेता है।
- (८१) घास खाकर, सरोवर का पानी पीकर तथा मृगवर्या करके फिर पीछे अपने निवास स्थान पर आजाता है!
- (८२) इसी तरह उद्यमवंत साधु एकाकी मृगचर्या करके फिर ऊँची दिशा में गमन करता है।
- (८३) जैसे एक हो मृग अनेक जुदे २ स्थानों में रहता है इसी तरह मुनि भी गोचरी (भिन्नाचरी) में मृगचर्या की तरा भिन्न २ स्थानों में विचरे और सुन्दर भिक्षा मिले या र मिले तो भी दाता का तिरस्कार या निंदा न करे।
- (८४) इसिलिये हे माता-िपता ! मैं भी उसी मृग की तूर् (निरासक्त ) चर्या करूँगा । इस प्रकार पुत्र का वैराग्यभाव देखकर माता-िपता के वात्सल्य से क् हृद्य भी पिघल गये श्रीर उनने कहा:—हे पुत्र ! जिः

तुमको सुख मिले वहीं काम खुशीं से करो। इस तरह माता-िपता की त्राज्ञा मिलने पर वे (सृगापुत्र) प्रालंका-रादि सब टपाधियों के त्यागने को तत्पर हुए।

- (८५) पक्षी श्राज्ञा लेने के लिये फिर मृगापुत्र ने कहा:—हे माता थिता ! जो श्राप प्रसन्नचित्त से मुक्ते श्राज्ञा देते हों तो मैं श्रभी सब दु:खोंसे छुड़ानेवाले मृगधर्मी के समान संयम को प्रहण करूँ । यह सुनकर मातापिता ने प्रसन्न चित्त से कहा:—हे प्यारे पुत्र ! यथेच्छ विचरो ।
- (८६) इस तरह वहुत प्रकार से माता पिता को सममावुभाकर तथा उनकी आज्ञा प्राप्त करके, जैसे महान हाथी युद्ध में राज्जवष्तर को तोड़ डालता है उसी तरह उनके ममत्व का नाश किया।
- (८०) जैसे बस्न पर लगी हुई घृल को सब कोई माइ देता है बैसे ही जनने धनदौलत, बैभव, मित्र, 'स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्बीजन श्रादि सभी को त्याग दिया श्रीर संयम मार प्रह्मा कर बिहार किया।
- (८८) पांच महात्रत, पांच समिति, श्रीर तीन गुप्ति इनको प्रह्ण कर श्राभ्यंतर (श्रांतरिक) तथा वाह्य तपश्चर्या में उद्यम (करने लगे।
- , '८९) ममत्व, श्रहंकार, श्रासक्ति, तथा गर्व को छोड़कर त्रस तथा स्थावर जीवों पर श्रपनी श्रात्मा के समान (श्रात्मवत्) कि कि कि मान दिखाने लगे।
  - (२४) तथा लाभालाभ में, सुख दुःख में, जीने मरने में, निंदा

- (९१) श्रहंकार, कषाय, दंड, शल्य, भय, हास्य, शोक, तथा वीसना से निवृत्त होकर वे स्वावलंबी वने।
- टिप्पग़ी—दण्ड नीन प्रकार के होते हैं। (१) मन दण्ड, (२) वचन, दण्ड, और (३) काय दण्ड। शब्य भी तीन प्रकार की होती है। (१) माया, (२) निदान (३) मिथ्यात्व। कपार्थे ४ प्रकार की हैं। (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) छोम।
- (९२) इस लोक तथा परलोक संबंधी श्राशा से रहित हुए। भोजन मिले या न मिले, कोई शरीर पर चंदन लगावे या मारे-वे दोनों दशाश्रों में समवर्ती हुए।
- (९३) तथा पापों के अप्रशस्त आस्त्रव (कर्मागमन) से सव तरह से रहित बने तथा आत्म ध्यान के योगों द्वारा कषायों का नाश करके वे प्रशस्त शासन में स्थिर हुए।
- (९४) इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, तथा विद्युद्ध भाव--नात्रों से श्रपनी श्रात्मा को विद्युद्ध बनाकर—
- (९५) बहुत वर्षों तक चारित्र (साधुत्व) का पालन कर एक मास का अनशन कर अंत में श्रेष्ठ सिद्धगति को प्राप्त हुए।
- टिप्पणी:—अनशन दो प्रकार के होते हैं। (१) मरणपर्यन्त का (आयुका अन्तकाल आया देखकर भरणपर्यन्त आहार न करना ) (२) काल भर्यादित (अयुक सुद्दत तक आहार न करना )
- (९६) जैसे राजर्षि मृगापुत्र तरुण वय में ही भोगोपभोगों हे निवृत्त हो सके वैसे ही तत्वज्ञ पंडित पुरुष भोगों से सहर्या निवृत्त होते हैं।
- (९७) महा प्रभावशाली तथा महान यशस्त्री मृगापुत्र के सौम्य चरित्र सुनकर उत्तम प्रकार की तपश्चर्या तथा।

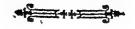
की श्राराधना करके, तीन लोक में प्रसिद्ध उत्तम गति (मोत्त) को लक्ष्य में रखकर—

(९८) तथा दु:ख वर्धक, (चोर छादि) भय के महान निमित्त रूप तथा छासक्ति को बढ़ाने वाले धन के खरूप को वरा-वर पिहचान कर उसको त्याग करो तथा सच्चे सुख को लाने वाले, मुक्ति योग्य गुण को प्रकट करने वाले तथा सर्वेश्रेष्ठ धर्मरूपी जुए को धारण करो।

'टिप्पणी—सारा ही संसार दुःखमय है किन्तु यह संसार कहीं वाहर नहीं हैं। नरक या पशु गित में नहीं है। यह संसार तो आत्मा के साथ जकदा हुआ है। वासना ही संसार है—आसिक यही संसार है। इसी संसार से सुख दुःख पैदा होते हैं, पाले पोसे और वढ़ाये जाते हैं। वाहर के दूसरे शारीरिक कप्ट, या अकस्मात आई हुई स्थित का दुःख ये तो पतंगरंग जैसा क्षणिक है। दुःखा- नुभूति का होना या न होना उसका आधार वासना पर अवलंतित है। जिसने इस वात को जाना, विचारा, तथा अनुभव किया वे ही इस संसार के पार जाने का प्रयक्ष कर सके हैं—ऐसा मानना चाहिये।

### ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस तरह 'मृगापुत्र संबंधी' उन्नीसवां अध्ययन समाप्त हुन्ना ।



# महा निर्प्रथीय

450

### महा निर्प्रथ मुनि संवंधी

२०

द्वीरा की वेदना दूर करने की कदाचित कोई श्रौषधि होनी। बाह्य बंधनों की वेदना को शांत करने के भी शस्त्र (श्रौजार) मिल जांयगे, किन्तु गहरी उतरती जाती हुई श्रात्म-वेदना को दूर करने की श्रौषधि बाहर (श्रन्यत्र) कहीं भी नहीं मिल सकती। श्रात्मा की श्रनाथता दूर करने में बाह्य कोई भी शिंक काम नहीं श्राती। श्रात्मा की सनाथता के लिये श्रात्मा ही की सावधानता चाहिये। दूसरे श्रवलंब (साधन) तो जादूगर के तमाशे के समान केवल ढोंग हैं। श्रात्मा के श्रवलंबन ही श्रात्मा के सच्चे साधन हैं।

ध्रताथी नाम के योगीश्वर संसार की अनित्यता का अनु-भव कर चुके थे। राज्य वैभव के समान ऋदि, अपार भोग-विलास, रमणियों का आकर्षण तथा माता पिता का अप्रयी, अपत्यस्नेह आदि सभी को उनने वलपूर्वक त्याग दिया।

एक समय की बात है कि वे युवा तेजस्वी त्यागी विकेश उद्यान के एकान्त कोने में ध्यानस्थ वैठे थे। उसी समय स्मकस् राजगृही का राजा श्रेणिक वहां श्रापहुंचा श्रौर उन युवा योगी।
श्वर की प्रसन्न मुखमुद्रा तथा देदीप्यमान श्रातम उयोति से
प्रदीप्त त्यागी दशा देखकर उन पर मुग्ध हो गया। क्या ऐसे
युवान भी त्यागी हो सकते हैं ? यह प्रश्न वार २ उसके मन को
जुन्ध करने लगा। इस योगी के विशुद्ध ब्रान्दोलन ने श्रेणिक
के हृदय में जो हलचल मचा दी थी उसका निरीन्नण करना
प्रत्येक मुमुन्तु के लिये श्रत्यावश्यक है।

### ंभगवान बोलेः—

- (१) श्रिरहंत, सिद्ध, श्राचार्य, उपाध्याय तथा साधु (संयमी पुरुषों) को भाव पूर्वक नमस्कार करके परमार्थ (मोज्ञ) दाता धर्म की यथार्थ शिज्ञा (न्याख्या) कहता हूँ सो तुम ध्यान पूर्वक सुनो:—
- (२) श्रपार संपत्ति के स्वामी तथा मगध देश के नराधिप श्रेणिक महाराजा मंडितकुत्ति नामक चैत्य की तरफ विहार यात्रा के लिये निकते।
- (१) भिन्न २ प्रकार की लंतावृक्षों से न्याप्त, विविध पुष्पो तथाः फलों से मंडित तथा विविध पत्तियों से सेवित वह उद्यान सचमुच नन्दनवन जैसा शोभित था।
- (४) वहां एक वृत्त के मूल में बैठे हुए सुख (भोगने) के योग्या सुकोमल, पद्मासन लगाये ध्यानस्थ एक संयमी साधु को उनने देखा।
- ं) वह राजा (उस) योगीश्वर के उस रूप को देखकर इस अत्यन्त कौत्हल को प्राप्त हुआ।

- (६) त्रहा ! कैसी इनकी कान्ति है ! कैसा इनका त्रजुपम रूप है ? त्रहा ! इन त्रार्य की कैसी त्रपूर्व सौम्यता, क्षमा, निर्लोभता तथा भोगों से निवृत्ति है ?
- (७) उन मुनि के दोनों चरणों को नमस्कार करके, प्रदित्तणा देकर न स्रित दूर इपौर न स्रित पास इस तरह खड़ा हो तथा हाथ जोड़कर महाराज श्रेणिक उनको इस तरह पूंछने लगे:—
- (८) हे आर्थ ! इस तरुणावस्था में भोगविलास के समय आपने दी जा क्यों ली है ? इस उप चारित्र में आपको ऐसी क्या प्रेरणा मिली, जिससे आपने इस युवावय में अभिनिष्क्रमण किया ? आदि सभी बातें मैं आप से सुनना चाहता हूँ।
  - (९) मुनि ने कहाः—हे महाराज ! मैं श्रनाथ हूँ । मेरा रक्षक कोई नहीं है; श्रीर श्रभी तक ऐसा कोई ऋपाछ मित्र भी मुक्ते नहीं मिल सका है।
  - (१०) यह सुनकर मगध देश का श्रधिपति राजा श्रेगिक हैंस पड़ा। क्या श्राप जैसे प्रभावशाली तथा समृद्धिशाली पुरुष को श्रभी तक कोई स्वामी नहीं मिल सका ?
  - टिप्पाणि—योगिश्वर का ओजस् देखकर उनका सहायक कोई नहीं है यह बात असंगत (विश्वास के न योग्य) लगी और इसीलिये महा-राजा ने यह पूंछा आ।
  - (११) हे संयमिन ! यदि श्रापका कोई सहायक नहीं है तो है (सहायक) होने को तैयार हूँ। मनुष्य भव (जन्मे सचमुच श्रात्यन्त दुर्लभ है। मित्र तथा स्वजनों से वे( १४

होकर आप सुखपूर्वक हमारे पास रहो और भोगों को भोगो।

(१२) हे मगधेरवर श्रेणिक ! तू स्वयं ही श्रनाथ है ! श्रोर जो स्वयं ही श्रनाथ है वह दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है ? (१३) मुनि के वचन सुनकर उस राजा को छाति विस्मय हुआ। ऐसा वचन उसने कभी किसी से नहीं सुना था। इससे उसे व्याकुलता तथा संशय दोनों ही हुए।

टिप्पर्गी—उसको यह छगा कि यह योगी मेरी शक्ति, सामर्थ्य तथा सम्पत्ति नहीं जानता इसीसे ऐसा कहता है। (१४) श्रेिएक ने ध्यपना परिचय देते हुए कहा—घोड़ों, हाथियों तथा करोड़ों आदमियों, शहरों, नगरों (वाले आंगदेश तथा मगध देश ) का मैं स्वामी हूँ । सुन्दर अन्तःपुर में में नरयोनि के सर्वोत्तम भोग भोगता हूँ । मेरी संता

( श्राज्ञा ) तथा ऐरवर्य श्रजोड़ ( श्रनुपम ) हैं। (१५) इतनी विपुल मनवां छित संपत्ति होने पर भी मैं अनाथ कैसे हूँ ? हे भगवन् ! कहीं आपका कथन असत्य तो (१६) ( मुनि ने कहा:—) हे पार्थिव ! तू अनाथ या सनाथ के परमार्थं को जान ही नहीं सका। हे राजन्! तू अनाथ तथा सनाथ के भाव (श्रसली रहस्य) को विलकुल नहीं समम सका (इसीसे तुमें संदेह हो रहा है)। है महाराज ! श्रनाथ किस कहते हैं ? मुमे श्रनाथता का भान कहां श्रीर किस तरह हुश्रा श्रीर क्यों मैंने यह दीक्षा ली-यहं सर्वे वृत्तान्त तू स्वस्थिचत होकर सुन।

- (१८) प्राचीन नगरों में सर्वोत्तम ऐसी कौशांबी नाम की एक नगरी थी श्रीर वहां प्रभूतधनसंचय नाम के मेरे पिता रहते थे।
- (१९) एक समय हे महाराज ! तरुण वय में मुमे यकायक त्रांख की श्रतुल पीड़ा हुई श्रीर उस पीड़ा के कारण तमाम शरीर को दाघज्वर लागू हो गया ।
- (२०) जैसे कुद्ध शत्रु शरीर के मर्मों पर श्रित तीक्ष्ण शस्त्रों से घोर पीड़ा पहुँचाता है वैसी ही तीत्र वह श्रांख की पीड़ा थी।
- (२१) श्रीर उस दाघ ज्वर की दारुण पीड़ा इन्द्र के वन्त्र की तरह मेरी कमर, मस्तक तथा हृदय को पीड़ित करती थी।
- (२२) उस समय वैद्यकशास्त्र में श्रित प्रवीण, जड़ीबूटी, मूल तथा मंत्रविद्या में पारंगत, शास्त्रविचचण तथा श्रीषि (निदान) करने में श्रित दक्ष श्रमेक वैद्याचार्य मेरे इलाज के लिये श्राये।
- (२३) चार उपायों से युक्त ऐसी प्रसिद्ध चिकित्सा उनने मेरी की किन्तु वे महा सामध्यवान वैद्य मुक्ते उस दुःख से छुड़ा न सके—यही मेरी अनाथवा है।
- (२४) मेरे लिए पिताजी सब संपत्ति छुटा देने को तैयार थे परन्तु वे भी मुक्ते दुःख से छुड़ाने में असमर्थ ही रहे— यही मेरी अनाथता है।
- (२५) वात्सस्य के समुद्रकी सी मेरी माता मेरे हु.ख से रे हु:खित—श्रति व्याकुलं—हो जाती थी, किन्तु उससे मेरा हु:ख छूटा नहीं-यही मेरी श्रनाथता है।

- (२६) एक ही नाता के पेट से जनमें हुए मेरे छोटे वड़े भाई भी मुक्ते मेरी पीड़ा से छुड़ा न सके—यही मेरी अनाथता है।
- (२७) हे महाराज ! छोटी छोर वड़ी मेरी सगी वहनें भी मुक्के इस हु: य से न बचा सकीं—यह मेरी अनायता नहीं है तो क्या है ?
- (२८) हे महाराज ! उस समय सुम पर अत्यन्त प्रेम करनेत्राली पितंत्रता पत्नी आंस्भरे नेत्रों द्वारा मेरे हृद्य को भिगो रही थी !
- (२९) मेरा दुःख देख कर वह नवयौवना मुक्त से जान-श्रजान' में श्रन्न, पान, स्तान या मुगन्वित पुष्पमाला श्रथवा विलेपन श्रादि कुछ भी (शृङ्गार) नहीं करती थी। (सव शृङ्गार का उसने त्याग कर रक्खा था।)
- (३०) और हे मडाराज ! एक क्षण के लिये भी वह सहचारिए। मेर पास से दूर न होती थी। (इतनी अगाध सेवा द्वारा भी) वह मेरी इस वेदना को दूर न कर सकी— यहीं मेरी अनाथता है।
- (२१) इस प्रकार चारों तरफ से श्रसहायता का श्रनुभव होने से मेंने सोचा कि इस श्रनन्त संसार में ऐसी वेदनाएं सहन करनीं पड़ें यह बात बहुत श्रसहा है।
  - इमिलये नो श्रवका वार में इस दाक्ण वेदना से छूट
     जाऊँ तो मैं खांत( चमाशीन ) दान्त तथा निरारम्भी हो कर तत्त्रण ही संयम धारण करूंगा।

र्विन्हे राजन्! रात्रि को ऐसा निश्चय करके में सो गया श्रीर

च्यों ज्यों राजि व्यतीत होती गई त्यों त्यों मेरी वह दारुण वेदना भी जीण होती गई।

- (३४) उसके वाद प्रातःकाल तो मैं बिलकुल नीरोग होगया श्रीर उक्त सभी सगे सम्बन्धियों की श्राज्ञा लेकर चांत, दांत, तथा निरारम्भी होकर मैं संयमी बन गया।
- (३५) संयम घारण करने के बाद मैं अपने आपका तथा समस्त त्रस (द्वीन्द्रियादिक) जीवों तथा स्थावर (एकेन्द्रियादिक) जीवों—सब का नाथ (रचक) होगया।
- हिट्युगीि—आसक्ति के बन्धन छूटने से अपनी आत्मा छूटती है। इसी
  आत्मिक स्वावलम्बन का अपर नाम सनाथता है। ऐसी सनाथता
  मिल जाने पर बाह्य सहायताओं की इच्छा ही नहीं रहसी। जिस
  जीव को ऐसी सनाथता प्राप्त होती है वह जीवात्मा दूसरे जीवों का
  भी नाथ बन सकता है। बाह्य बन्धनों से किसी को छुढ़ा देना
  इसीका नाम सची रक्षा नहीं है किन्तु दुःखी प्राणियों को आन्तरिक
  बन्धन से छुढ़ाना इसो का नाम सचा स्वामित्व—सची द्या—है।
  ऐसी सनाथता ही सची सनाथता है इसके सिवाय की दूसरी बातें
  सभी अनाथताएं ही हैं।
- (३६) हे राजन ! क्योंकि यह श्रात्मा ही (श्रात्मा के लिये) वैतरणी नदी तथा कृटशाल्मली वृत्त के समान दुः खदायी है श्रीर वहीं कामधेनु तथा नन्दन वन के समान सुरूष्ट्र दायी भी है।
- टिप्पाणि—यह जीवारमा अपने ही पाप कमों द्वारा नरक गाँ अनन्त दुःख भोगता है और वही अपने ही सकमों द्वारा स्वर के विविध दिन्य सुख भी भोगता है।

- (२६) एक ही माता के पेट से जन्मे हुए मेरे छोटे बड़े भाई मुक्ते मेरी पीड़ा से छुड़ा न सके—यही मेरी अनाथता
- (२७) हे महाराज ! छोटी और चड़ी मेरी सगी वहनें भी ? इस दु:ख से न बचा सकीं—यह मेरी श्रानाथता नहीं तो क्या है ?
  - (२८) हे महाराज ! उस समय सुम पर श्रत्यन्त प्रेम करनेता पित्रता पत्नी श्रांसूभरे नेत्रों द्वारा मेरे हृदय को भि-रही थी।
  - (२९) मेरा दुःख देख कर वह नवगीवना मुक्त से जान-श्रज्ञा में श्रन्न, पान, स्नान या सुगन्धित पुष्पमाला श्रथट् विलेपन श्रादि कुछ भी (श्रद्धार) नहीं करती थी (सव श्रद्धार का उसने त्याग कर रक्खा था।)
  - (३०) श्रौर हे महाराज ! एक क्षण के लिये भी वह सहचारिर्णा मेरे पास से दूर न होती थी। (इतनी श्रगाध सेवा द्वारा भी) वह मेरी इस वेदना को दूर न कर सकी—यही मेरी श्रनाथता है।
- (३१) इस प्रकार चारों तरफ से श्रसहायता का श्रनुभव होते से मैंने सोचा कि इस श्रनन्त संसार में ऐसी वेदनाएं सहन करनी पड़ें यह वात बहुत श्रसहा है।
  - १२) इसलिये जो श्रवकी वार में इस दारुण वेदना से छूट १५) जाऊँ तो में क्षांत( चमाशील ) दान्त तथा निरारम्भी हो।

रिम्हे राजन् ! रात्रि को ऐसा कि यु करके मैं सो गया श्रीन

च्यों च्यों रात्रि च्यतीत होती गई त्यों त्यों मेरी वह दारुण वेदना भी चीण होती गई।

- (३४) उसके वाद प्रातःकाल तो मैं बिलकुल नीरोग होगया श्रोर उक्त सभी सगे सम्बन्धियों की श्राज्ञा लेकर ज्ञांत, दांत, तथा निरारम्भी होकर मैं संयमी बन गया।
- (३५) संयम घारण करने के बाद मैं अपने आपका तथा समस्त त्रस ( द्वीन्द्रियादिक ) जीवों तथा स्थावर (एकेन्द्रियादिक) जीवों—सब का नाथ ( रक्तक ) होगया।
- हिटप्ताी—आसक्ति के बन्धन छूटने से अपनी आस्मा छूटती है। इसी आस्मिक स्वावलम्बन का अपर नाम सनाथता है। ऐसी सनाथता मिल जाने पर बाह्य सहायताओं की इच्छा ही नहीं रहती। जिस जीव को ऐसी सनाथता प्राप्त होती है वह जीवास्मा दूसरे जीवों का भी नाथ बन सकता है। बाह्य बन्धनों से किसी को छुड़ा देना इसीका नाम सच्ची रक्षा नहीं है किन्तु दुःखी प्राणियों को आन्तरिक बन्धन से छुड़ाना इसो का नाम सच्चा स्वामित्व—सच्ची द्या—है। ऐसी सनाथता ही सच्ची सनाथता है इसके सिवाय की दूसरी बातें सभी अनाथताएं ही हैं।
- (३६) हे राजन ! क्योंकि यह श्रात्मा ही (श्रात्मा के लिये) वैतरणी नदी तथा कृटशाल्मली वृत्त के समान दु:खदायी है श्रीर वहीं कामधेनु तथा नन्दन वन के समान सुर्ह् दायी भी है।
- दिष्पग्री—यह जीवारमा अपने ही पाप कर्मी द्वारा नरक गाँदि अनन्त दुःख भोगता है और वही अपने ही सत्कर्मी द्वारा स्वर के विविध दिन्य सुख भी भोगता है।

- (२७) यह जीवात्मा ही सुख तथा दुःखों का कर्ता तथा भोका है श्रीर यह जीवात्मा ही (यदि सुमार्ग पर चले तो) श्रपना सबसे बड़ा मित्र है श्रीर (यदि कुमार्ग पर चले तो) स्वयं श्रपना सब से बड़ा शत्रु है।
  - इस प्रकार अपनी पृर्वावस्था की प्रथम अनाथता का वर्णन कर अब द्सरे प्रकार की अनाथता वताते हैं।
  - (२८) हे राजन ! बहुत से कायर पुरुप निर्मन्थ धर्म को श्रंगीकार तो कर लेते हैं किन्तु उसका पालन नहीं कर सकते हैं। यह दूसरे प्रकार की श्रनाथता है। हे नराधिप ! इस बात को तू बराबर शान्तिचत्त होकर सुन।
  - (३९) जो काई पहिले पाँच महाव्रतों को यहण कर, वाद में अपनी असावधानता के कारण उनका यथोचित पालन नहीं करता और अपनी आत्मा का अनिष्रह (असंयम) कर रसादि स्वादों (विषयों) में आसक्त हो जाता है ऐसा भिक्ष राग तथा हेप रूपी संसार के वन्धनों का मूलो-च्छेदन नहीं कर सकता।
    - रूप्पाा—प्रवच्या ( दीक्षा ) का उद्देश्य आसित के बीनों का उता, दना है। किसी भी वस्तु को छोड़ देना सरल है किन्तु नत्सस्वन्धी आसित को दूर कर देना जरा देही खीर है। इसलिये सुनि को , सदेव इसका ही प्रयव करना चाहिये।
    - ्रे (१) इयी ( उपयोगपूर्वेक गमनागमन, )(२) भापा, र (३) ऐपणा ( मोजन, वस्त्र श्रादि यहण करने की ( वेट्टुन्ति ), (४) भोजन, पात्र, कंवल, वस्त्रादि का उटाना

रखना, तथा कारणवशात् वची हुई (५) ऋधिक वस्तु का योग्य स्थान में त्याग—इन पांच समितियों का जो साधु पालन नहीं करता वह महावीर द्वारा प्ररूपित जैन-धमें के मार्ग में नहीं जा सकता—आराधना नहीं कर सकता।

- (४१) जो बहुत समय तक साधुव्रत की क्रिया करके भी त्रपने व्रत नियमों में अध्यिर हो जाता है तथा तपश्चर्या आदि अनुष्ठानों से अष्ट हो जाता है, ऐसा साधु बहुत वर्षों तर्क (त्याग, संयम, केशलोंच तथा दूसरे) कष्टो द्वारा अपने शरीर को सुखाने पर भी संसारसागर के पार नहीं जा सकता।
- (४२) वह पोली मुट्ठी श्रथवा छाप विना के खोटे सिक्के की तरह सार (मूल्य) रहित हो जाता है श्रीर वैंडूर्यमणि के सामने जैसे काच का टुकड़ा निरर्थक ( व्यर्थ ) है वैसे हो ज्ञानी-जनों के समीप वह निर्मूल्य हो जाता है ( गुणवानों में ंडसका श्रादर नहीं होता )।
- (४३) नो इस (मनुष्य) जन्म मे रजोहरणादि मुनि के मात्र बाह्य चिन्ह रखता है तथा मात्र आजीविकाके लिये ही वेशधारी साधु वनता है, ऐसा मनुष्य त्यागी नहीं है और त्यागी न होते हुए भी अपने को मूँठमूँठ ही साधु कहलवाता है। ऐसे कुसाधु को पीछे से बहुत काल तक (नरकारी जन्मों की) पीड़ा भोगनी पड़ती है।
- (৪४) वालपुट ( ऐपा दारुण विष जिसको हथेली पुर रही वालु फूट जाय ) विष खाने से, उल्टो ग्री

- (५२) इस प्रकार ज्ञानपूर्वक चारित्र के गुणों से भरपूर साधक श्रेष्ट संयम का पालन कर निष्पाप हो जाते हैं तथा वे पूर्वसंचित कभी का नाश कर अन्त में सर्वोत्तम तथा अक्षय एसे मोच सुख को प्राप्त होते हैं।
- (५३) इस प्रकार कर्मशत्रुओं के घोर शत्रु, दाँत, महातपस्ती, विपुल यशस्त्री, हृद्वती, महामुनीश्वर श्रनाथी ने सच्चे निर्प्रथ मुनिका महाश्रुत नामक श्रध्ययन श्रति विस्तार से श्रेणिक महाराज को सुनाया।
- (५४) सनाथता के सच्चे श्रर्थ को सुनकर श्रेणिक महाराज् श्रत्यंत सन्तुष्ट हुए श्रोर उनने दोनों हाथ जोड़कर कहा— हे भगवन्! श्रापने सुके सची श्रनाथता का स्तरूप वड़ी ही सुन्दरता के साथ समका दिया।
- (५५) हे महर्षि ! आपका मानव जनम पाना धन्य है ! आपकी यह दिव्य क्रांति, देदी प्यमान ओजस्, शान्त प्रभाव और उड़वल सौम्यता धन्य है ! जिनेश्वर भगवान के सत्यमार्ग में चलनेवाले सचमुच आप ही सनाथ तथा सवांधव हो !
- (५६) हे संयमिन! अनाथ जीवों के तुम हो नाथ हो! सव प्राणियों के आप ही रचक हो! हे भाग्यवन्त महापुरूप! में अपनी (अज्ञानता की) आपसे चमा मांगता हूँ और साथ ही साथ आपके उपदेश का इच्छुक हूँ।

गुणी—संयमी पुरुप की आवश्यकताण परिमित होने से अनेक जीवों भ उससे आराम पहुँचता है। वह स्वयं अभय होने से, सब कोई कि एक संयमी करोड़ों स्ट्रिक्ट रह सकते हैं। सारांश यह है कि एक संयमी करोड़ों

- (५७) हे संयमिन । आप के पूर्वाश्रम का वृत्तान्त आपको पुनः पुनः पूंछ कर, आपके ध्यान में भंग डालकर और भोग भोगने की अयोग्य सलाह देकर मैंने आपका जो अपराध किया है उसकी मैं आपसे पुनः क्तमा मांगता हूँ।
- (५८) राजाश्रों में सिंह के समान ऐसे राजकेशरी महाराजा श्रेणिक ने इस प्रकार परम भक्तिपूर्वक उस श्रमण्सिंह की स्तुति की श्रौर तबसे वे विशुद्ध चित्तपूर्वक श्रपने श्रन्तःपुर की (सब रानियों, तथा दासीदासों) स्वजनों तथा सकल कुटुम्बी जनों सिहत जैन धर्मीनुयायी हुए।
- टिप्पणी—श्रेणिक महाराज पहिले बौद्धधर्मी थे किन्तु अनाथी मुनि के प्रबल प्रभाव से आकर्षित होकर वे जैन धर्मानुयायी वने थे ऐसी परंपरानुसार मान्यता है।
- (५९) मुनीश्वर के अमृतोपम इस समागम से उनका रोम रोम प्रफुल्लित हो गया। अन्त में अनाथी मुनि की प्रदिच्या देकर तथा शिरसा वंदन कर वे अपने स्थान को पधारे।
- (६०) तीन गुप्तियों से गुप्त, तथा तीन दंडों (मन दंड, वचन दंड, तथा काय दंड) से विरक्त, गुणों की खान, ऐसे श्रनाथी मुनि श्रनासक्त भाव से निर्देन्द पत्ती की तरह श्रप्रतिबंध विहारपूर्वक इस पृथ्वी पर सुख समाधि से विचरने लगे।
- टिप्पणी—साधुता में ही सनाथता है। भादर्श त्याग में ही सन्हें हैं में भनाथता है। भोगों का प्रसंग करने हें वासना की परतन्त्रता में भी भूट्रा रे

प्रहण करने से, तथा विधिरहित मंत्र जाप करने से जैसे ख्रयं घारण करनेवाले का ही नाश हो जाता है वैसे ही विपयवासनात्रों की श्रासक्ति से युक्त चारित्रवर्म अपने प्रहण करनेवाले का ही नाश कर डालता है।

- टिप्पणी—जो वस्तु उन्नति पथ में ले जाती है वही अयोग्य या उल्टी रीति से प्रयुक्त होने पर अवनति के गहे में भी डाल देती है।
- (४५) सामुद्रिक शास्त्र (लक्षण शास्त्र), स्वप्नविद्या, ज्योतिप तथा विविध कौतृहल (जादृगरी श्रादि) विद्याश्रों में श्रमुरक्त तथा हलकी विद्याश्रों को सीखकर उनके द्वारा श्राजीविका चलानेवाले कुसाधु को (श्रन्त समय) उसकी कुविद्याएं शरणभूत नहीं होती।
- टिप्पर्गा—विषा वही है जो आत्म विकास करे। जो अपना ही पतन करे टसे विद्या कैसे कहा जाय ?
- (४६) वह वेशघारी कुशील साधु श्रपने श्रज्ञानरूपी श्रंघकार से सदा दुःखी होता है तथा चारित्रधर्म का घात कर इसी भव में श्रपमान भोगता है तथा परलोक में नरक या पद्यगति में जाता है।
- (४७) जो साधु श्रिप्त की तरह सर्वभन्नी वनकर श्रपने निमित्त वनाई गई, मोल ली गई, श्रथवा केवल एक ही घर से प्राप्त सदोप भिक्षा प्रहण किया करता है वह कुसाधु श्रपने पापों के कारण दुर्गति में जाता है।

<sup>्</sup>री—जैन साधको यहुत शुद्ध तथा निशेष मिक्षा ही हेने का विधान जिल्लामा है। मिक्षा के लिये उसे बहुत करिन नियमों का पालन अस्तिकार

- (४८) शिरच्छेद करनेवाला शत्रुभी श्रपना वह श्रपकार नहीं करता जो स्वयं यह जीवात्मा कुमार्ग में जाकर कर डालता है। किन्तु जब यह कुमार्ग पर चलता है तब उसे श्रपनी कृति का ध्यान ही नहीं श्राता। जब मृत्यु श्राकर गला दबाती है तभी उसको श्रपना भूतकाल याद श्राता है श्रीर तब वह बहुत पछताता है।
- टिप्पणी—पर उस समय का पश्चात्ताप 'अब पछिताये होय का, विदियां चुग गई खेत,' की तरह व्यर्थ जाता है।
- (४९) ऐसे कुसाधु का सारा कष्टसहन (त्याग) भी व्यर्थ जाता है श्रीर उसका सारा पुरुषार्थ विपरीत (उल्टा फल देनेवाला) होता है। जो भ्रष्टाचारी है उस को इस लोक या परलोक—उभय लोक—में थोड़ी सी भी शांन्ति नहीं मिल सकती। वह (श्रांतरिक तथा बाह्य) दोनों प्रकार के कष्टों का भोग बन जाता है।
- (५०) जैसे भोग रस की लोछप (मांस खानेवाली) पित्रणी स्वयं दूसरे हिंसक पत्ती द्वारा पकड़ी जाकर खूब ही पिर-ताप पाती है वैसे हो दुराचागी तथा स्वच्छंदी साधु जिनेश्वर देवों के इस मार्ग की विराधना करके मरणांत में बहुत २ पश्चात्ताप करता है।
- (५१) ज्ञान तथा गुण से युक्त ऐसी इस मधुर शिचा को सुन दूरदर्शी तथा बुद्धिमान साधक दुराचारियों के मन्दिक्त दूर से ही छोड़ कर महातपस्त्री सुनीश्वरों है कि गमन करे।

- (५२) इस प्रकार ज्ञानपूर्वक चारित्र के गुर्गों से भरपूर साधक श्रेष्ट संयम का पालन कर निष्पाप हो जाते हैं तथा वे पूर्वसंचित कर्मों का नाश कर अन्त में सर्वोत्तम तथा अक्षय ऐसे मोच सुख को प्राप्त होते हैं।
- (५३) इस प्रकार कर्मशत्रुत्रों के घोर रात्रु, दाँत, महातपस्त्री, विपुल यशस्त्री, दृढ़व्रती, महामुनीश्वर अनाथी ने सच्चे निर्प्रेथ मुनिका महाश्रुत नामक अध्ययन अति विस्तार से श्रेणिक महाराज को सुनाया।
- (५४) सनाथता के सच्चे अर्थ को सुनकर श्रेणिक महाराज् अत्यंत सन्तुष्ट हुए और उनने दोनों हाथ जोड़कर कहा— हे भगवन ! आपने सुक्ते सची अनाथता का खरूप वड़ी ही सुन्द्रता के साथ समका दिया।
- (५५) हे महर्षि ! आपका मानव जन्म पाना धन्य है ! आपकी यह दिग्य कांति, देदी प्यमान ओजस्, शान्त प्रभाव और ज्ञानल सौम्यता धन्य है ! जिनेश्वर भगवान के सत्यमार्ग में चलनेवाले सचमुच आप ही सनाथ तथा सवांधव हो ।
- (५६) हे संयमिन्! अनाथ जीवों के तुम ही नाथ ही ! सव प्राणियों के आप ही रज्ञक हो ! हे भाग्यवन्त महापुरुप !' मैं अपनी (अज्ञानता की) आपसे ज्ञमा मांगता हूं और साथ ही साथ आपके उपदेश का इच्छुक हूँ।

्राणी—संयमी पुरुप की आवश्यकताएं परिमित होने से अनेक जीवां अर्थ डाने से अनेक जीवां अर्थ डाने से अराम पहुँचता है। वह स्वयं अभय होने से, सब कोई स्विक्तिक्षेत्र रह सकते हैं। सारांश यह है कि एक संयमी करोड़ों कि पूर्व संयमी करोड़ों

- (५७) हे संयमिन ! श्राप के पूर्वाश्रम का वृत्तान्त श्रापको पुनः पूंछ कर, श्रापके ध्यान में भंग डालकर श्रीर भोग भोगने की श्रयोग्य सलाह देकर मैंने श्रापका जो श्रपराध किया है उसकी मैं श्रापसे पुनः त्रमा मांगता हूँ।
- (५८) राजाओं में सिंह के समान ऐसे राजकेशरी महाराजा श्रेगिक ने इस प्रकार परम भक्तिपूर्वक उस श्रमणसिंह की स्तुति की श्रौर तबसे वे विशुद्ध चित्तपूर्वक श्रपने श्रन्तः पुर की (सब रानियों, तथा दासीदासों) स्वजनों तथा सकल कुटुम्बो जनों सिहत जैन धर्मानुयायी हुए।
- टिप्पणी—श्रेणिक महाराज पहिले बौद्धधर्मी थे किन्तु अनाथी सुनि के प्रवल प्रभाव से आकर्षित होकर वे जैन धर्मानुयायी बने थे ऐसी परंपरानुसार मान्यता है।
- (५९) मुनीश्वर के अमृतोपम इस समागम से उनका रोम रोम प्रफुह्ति हो गया। अन्त में अनाथी मुनि की प्रदिच्चिगा देकर तथा शिरसा वंदन कर वे अपने स्थान को प्रधारे।
- (६०) तीन गुप्तियों से गुप्त, तथा वीन दंडों (मन दंड, वचन दंड, तथा काय दंड) से विरक्त, गुणों की खान, ऐसे अनाथी मुनि अनासक्त भाव से निर्देन्द पन्नी की तरह अप्रतिबंध विहारपूर्वक इस पृथ्वी पर सुख समाधि विचरने लगे।
- टिप्पणी—साधुता में ही सनाथता है। आदर्श त्याग में ही। है। आसक्ति में अनाथता है। भोगों का प्रसंग करने हैं और इच्छा तथा वासना की परतन्त्रता में भी

थता को छोड़कर सनाथ होना—अपने आपही अपना मित्र बनना-ये सब प्रत्येक सुमुक्ष के कर्तव्य हैं।

### एसा में कहता हूँ—

इस प्रकार 'महानिप्रेथ' नामक चीसवां श्रध्ययन समाप्त हुआ।



# समुद्रपालीय

4 = 1

### समुद्रपाल का जीवन

२१

या हुआ बीज कभी व्यर्थ नहीं जाता। आज नहीं तो कल—कभी न कभी वह उगेगा ही। शुभ बोकर शुभ पाना तथा बाद में शुद्ध होना—यही तो अपने जीवन का उद्देश्य है।

समुद्रपाल ने पूर्वभव में शुभ बोकर शुभस्थान में संयोजित होकर मनवांछित साधन पाये। उसने उनको खूब भोगा भी श्रौर श्रन्त में उनका त्याग भी किया सही परंतु उसका हेतु कुछ दूसरा ही था। श्रौर हेतु की सिद्धि के लिये ही—मानों फांसी के तख्ते पर जाते हुए चोर को देखा ही था कि उसको देखते ही उसकी श्रांखें खुल गई। मात्र बाह्य वस्तु पर ही नहीं किंतु वस्तु के परिणाम पर भी उसकी श्रन्तहीं छ जा हुँ योया हुश्रा श्रव उदित हुश्रा, संस्कार जागृत हुए, पवित्र की भावना बलवती हुई श्रौर इस समर्थ श्रात्मा ने साधना पूरी की।

### भगवान वोले-

- (१) चम्पा नाम की नगरी में पालित नामक एक व्यापारी रहता था। वह जाति का विशिक श्रीर महाप्रमु भगवान महावीर का श्रावक शिष्य था।
- (२) घह श्रावक निर्धन्थ प्रवचनों (शास्त्रों) में चहुत कुशल पंडित था। एक वार व्यापार करने के लिये वह जहाज द्वारा पिहुएड नामक नगर में श्राया।
- टिप्पााि—इस पिहुण्डनंगर में वह बहुत वर्षों तक रहा था और वहाँ उसका व्यापार भी खूब चमक उठा था। तथा वहाँ के एक वणिक की स्त्ररूपवती कन्याके साथ उसने अपना विवाह किया था। अन्य अन्थों में यह कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। जिनको जानना हो वे उन्हें पढ़ छेवें। यहाँ तो केवल प्रसंग सम्बन्धी भाग ही दिया है।
- (३) पिहुंड नगर में व्यापारो तरीके रहते हुए उसके साथ किसी दूसरे विशाक ने अपनी पुत्री व्याह दी। वहुत दिनों के वाद वह गर्भवती हुई और उस गर्भवती पत्नी को साथ छे कर अब वह व्यापारी, वहुत दिन पीछे देखने की इच्छा से अपने देश आने के लिये रवाना हुआ।
  - ) वे जहाज द्वारा त्रा रहे थे। पालित की त्रासन्त प्रसवा स्त्री ने समुद्र में ही पुत्र प्रसव किया त्रौर समुद्र में पैदा होने के कारण उस वालक का नाम समुद्रपाल रक्खा देशिया था।

ीं के साथ सकुराल चंपा

रक्खे श्रीर जो २ कष्ट उस पर श्रावें उनको समभाव-पूर्वक सहन करे। सदा श्रखण्ड ब्रह्मचर्य तथा संयम से रहे। इन्द्रियों को श्रापने वश में रक्खे श्रीर पाप के योग (ज्यापार) को सर्वथा त्यागकर समाधिपूर्वक भिक्षुधर्म में गमन करे।

- (१४) जिस समय में जो किया करनी चाहिये, वही करे। देशप्रदेश में विचरता रहे। कोई भी कार्य करने के पहिले श्रपनी शक्ति-श्रशक्ति का माप ले। यदि कोई उसे कठोर या श्रसभ्य शब्द भी कहे तो भी वह सिंह के समान निडर रहे किन्तु बदले में श्रसभ्य बनकर उसकी प्रतिक्रिया न करे।
- टिप्पणी—किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो, साधु को अपनी जीवनचर्या के अनुसार ही आचरण रखना चाहिये। भिक्षा के समय स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के समय सो जाना इत्यादि प्रकार की अकाल कियाएं न करे और सम्पूर्ण व्यवस्थित रहे।
  - (१५) साधु का कर्तन्य है कि त्रिय श्रथवा श्रिय जो कुछ भी हो उससे तटस्थ रहे। यदि कष्ट श्रा पड़े तो उसकी उपेक्षा कर समभाव से उसे सह ले, श्रीर यही भावना रक्खे कि जो कुछ होता है, श्रपने कमों के कारण ही होता है इसलिये कभी भी निरुत्साह न हो। श्रपनी निन्दा य प्रशंसा की तरफ वह लक्ष्य न दे।
  - टिप्पणी—साधु पूजा की कभी इच्छा न 'रक्खे और निन्दा करें कावे । केवल सत्य शोधक कोक मध्याव्या के

(१६) मनुष्यों के तरह तरह के अभिप्राय होते हैं (इसितये यदि कोई मेरी निदा करता है तो यह उसके मन की बात है, ं इसमें सेरी क्या दुराई है।) इस प्रकार वह अपने मन को सान्तवता है। मनुष्य, पशु अथवा देव द्वारा किये गये उपसगों को शांतिपूर्वक सहन करे। हिट्यणी—यहाँ लोक लिंच तथा लोक मानस (लोगों के जुदे र

विचार) को पहिचानने तथा समभाद से इसका समन्वय ( छान-वीनं ) दरना योग्य वता एवं स्थागी का कर्तन्य क्या है उसका तिरंश किया है। इस प्रकार समुद्रपाल मुनि विहार किया (१८) जन हु:सहा परिषह म्राते हैं तन कायर साधक शिथिल

हो जाते हैं किन्तु युद्धभूमि में सब से आगे रहतेवाले हायी की तरह वे भिह्न (समुद्रपाल मुनि) कुछ भी खेद॰ (१८) रसी प्रकार से प्रादशी संयमी ठंडी, गर्मी, दंशमशक, रोग

ल्याहि परिपहों को समभाव ( मनमें विकार लाये विना ) पूर्वक सहत करें श्रीर उन परिषहों को अपने पूर्वकमाँ का परिणाम जानकर उन्हें सहकर कमों का नाश करे।

(१९) विचत्तण साधु हमेशा राग, द्वेष तथा मोह को छोड़ कर, में मेर नहीं कांपता उसी तरह परिषहों े नहीं) किन्तु मन को वश में शानित से सह ले।

कभी कायर ही की। न करे किन्तु समुद्र्याल मुनि की तरह सरल भाव धारण करे और राग से विरक्त होकर (ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र द्वारा ) मोचमार्ग की खपसना करे।

रिश) साधु को यदि कभी संयम में अरुचि अथवा असंयम में किया पेदा हो तो उनको दूर करे। आसक्ति भाव से दूर रहे और आत्मचितन में लीन रहे। शोक, ममता, तथा परिप्रह की तृष्णा छोड़ कर समाधि की प्राप्ति कर परमार्थ पद में स्थिर हो।

(२२) इस तरह समुद्रपाल योगीश्वर श्रात्मरक्षक तथा प्राणीरक्षक वनकर उपलेप रहित तथा परिनिमित्तक (दूसरों के निमित्त बनाये गये) एकांत स्थानों में विचरते थे तथा विपुल यशस्वी महर्षियों ने जिस मार्ग का श्रनुसरण किया था उसीका वे भी श्रनुसरण करते थे। ऐसा करते हुए उनने उपसर्गों तथा परिषहों को शान्तिपूर्वक सहन किया।

(२३) ऐसे यशस्ती तथा ज्ञानी समुद्रपाल महर्षि निरंतर ज्ञान मार्ग में आगे २ वढ़ते गये तथा उत्तम धर्म (संयम धर्म ) का पालन कर अन्त में केवलज्ञान रूपी अनन्त लक्ष्मी के स्वामी हुए और आकाशमंडल में जैसे सूर्य शोभित होता है वैसे ही इस महीमंडल में अपने आतमप्रकाश से दीप्त होने लगे।

(२४) पुराय और पाप इन दोनों प्रकार के कमों को नाश कर शरीर के मोह से वे सब प्रकार से छूट गये। शैं के श्रवस्था को प्राप्त हुए श्रीर इस संसार समृद्र हो के जाकर वे महामुनि समुद्रपाल श्रपुनराग निर्मातंत्र के

- (१६) मनुष्यों के तरह तरह के श्राभिप्राय होते हैं (इसलिये यदि कोई मेरी निंदा करता है तो यह उसके मन की बात है, इसमें मेरी क्या बुराई है।) इस प्रकार वह श्रापने मन को सान्त्वना दे। मनुष्य, पशु श्राथवा देव द्वारा किये गये उपसर्गों को शांतिपूर्वक सहन करे।
  - हिप्पण्ति—यहाँ लोक रुचि तथा लोक मानस (लोगों के जुदे र विचार) को पिहचानने तथा समभाव से उसका समन्वय (छान-वीन) करना योग्य वता कर स्थागी का कर्तव्य क्या है उसका निर्देश किया है। इस प्रकार समुद्रपाल मुनि विहार किया करते थे।
  - (१४) जव दु:सह्य परिषद्द श्राते हैं तव कायर साधक शिथिल हो जाते हैं किन्तु युद्धभूमि में सब से श्रागे रहनेवाले हायी की तरह वे भिक्षु (समुद्रपाल मुनि) कुछ भी खेद-खिन्न नहीं होते थे।
  - (१८) उसी प्रकार से आदर्श संयमी ठंडी, गर्मी, दंशमशक, रोग आदि परिपहों को समभाव ( मनमें विकार लाये विना ) पूर्वक सहन करे और उन परिपहों को अपने पूर्वकर्मों का परिणाम जानकर उन्हें सहकर कमों का नाश करे।
  - (१९) विचत्तण साधु हमेशा राग, ह्रेप तथा मोह को छोड़ कर, जिस तरह वायु से मेरु नहीं कांपता उसी तरह परिपहों से कांपे नहीं ( भयभीत न हों ) किन्तु मन को वश में रखकर सब कुछ समभावपूर्वक शान्ति से सह ले। राजिश्च कभी गर्विष्ट न हो छोर न कभी कायर ही बने।

मुनि की तरह सरल भाव भारण करे श्रीर राग से विरक्त होकर (ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र द्वारा ) मोन्नमार्ग की उपासना करे।

- २१) साधु को यदि कभी संयम में अरुचि अथवा असंयम में हिए हो तो उनको दूर करे। आसक्ति भाव से दूर रहे और आत्मचितन में लीन रहे। शोक, ममता, तथा परिमह की दृष्णा छोड़ कर समाधि की प्राप्ति कर परमार्थ पद में स्थिर हो।
- (२२) इस तरह समुद्रपाल योगिश्वर श्रात्मरक्षक तथा प्राणीरक्षक वनकर उपलेप रहित तथा परिनिमत्तक (दूसरों के निमित्त वनाये गये) एकांत स्थानों में विचरते थे तथा विपुल यशस्त्री महर्षियों ने जिस मार्ग का श्रनुसरण किया था उसीका वे भी श्रनुसरण करते थे। ऐसा करते हुए उनने उपसर्गों तथा परिषहों को शान्तिपूर्वक सहन किया।
- (२३) ऐसे यशस्ती तथा ज्ञानी समुद्रपाल महर्षि निरंतर ज्ञान मार्ग में श्रागे २ वढ़ते गये तथा उत्तम धर्म (संयम धर्म ) का पालन कर श्रन्त में केवलज्ञान रूपी श्रनन्त लक्ष्मी के स्वामी हुए श्रौर श्राकाशमंडल में जैसे सूर्य शोभित होता है वैसे ही इस महीमंडल में श्रपने श्रात्मप्रकाश से दीप्त होने लगे।
- (२४) पुण्य श्रौर पाप इन दोनों प्रकार के कर्मों रे शरीर के मोह से वे सब प्रकार से छूट श्रवस्था को प्राप्त हुए श्रौर इस संसार जाकर वे महामुनि समुद्रपाल प्र

जाकर फिर लोटना न पड़े ) श्रर्थात् मोच गति को प्राप्त हुए।

टिप्पणी—शेलेशी अवस्था अर्थात् अदोल अवस्था । जैनदर्शन में ऐसी स्थिति निष्कर्मा योगीश्वर की वताई है और इस उच दशा को शास। होकर तत्क्षण ही वे आरमसिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए ।

सरल भाव, तितिक्षा, निरिभमानिता, अनासिक्त, निंदा या मगंसा में समभाव, प्राणीमात्र पर मैत्रीभाव, एकांत गृत्ति, तथा सनत अप्रमत्तता—ये आट गुण त्यागधर्म रूपी इमारत की नींव हैं। यह नींव जितनी दृद तथा मजबृत होगी उतना की त्यागी जीवन उच तथा सुवासित होगा। इस सुवास में अनन्त भवों की वासनारूपी दुर्गीव नष्टअष्ट हो जातो है और आत्मा ऊँची होते होते अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर लेती है।

ऐसा में कहता हूँ:-

इस प्रकार 'समुद्रपालीय' नामक इक्कीसवां श्रव्ययनः समाप्त हुआ।



# रथनमीय

# रथनेमि संबंधी

#### २२

श्रीर, संपत्ति तथा साधन ये सब शुभकर्म (पूर्व पुग्य) के उदय से ही मिलते है। यदि पुग्यानुबंधी 🔇 पुराय का वह फल जिसका पुराय कार्यों में ही व्यय हो ), पुराय होगा तो प्राप्त साधनों का उपयोग सन्मार्ग में ही होगा तथा वे उपादान में भी सहकारी होंगे।

शुद्ध उपादान प्रार्थात् जीवात्मा की उन्नत द्शा। ऐसी उन्नत दशावाली श्रात्मा भोगों के प्रवल प्रलोभनों में पड़नेपर भी केवल छोटा सा निमित्त मिलते ही श्रासानी से छूट भागती है।

नेमिनाथ कृष्ण वासुदेव के चचेरे भाई थे। पूर्वभव के प्रवल पुरुषार्थ से उनका उपादान शुद्ध हुआ था। उनकी श्रात्मा स्फटिक मिंग के समान निर्मल थी। इससे भी अधिक उन्नत उसे जाना था इसीलिये वह इस उत्तम राजकुल में मन् में भ्रवतीर्ण हुई थी।

योवनपूर्ण सर्वांग सौम्य शरीर तथा की के

स्वामी होने पर भी उनका मन उसमें आसक्त न था किन्तु कृष्ण महाराज के श्रित आश्रहवशात उनकी सगाई उग्रसेन महाराज की रंभा के समान सुन्दरी पुत्री राजीमती के साथ की गई।

भरपूर ठाठवाट से समस्त याद्वकुल के साथ वे कुमार विवाह के लिये चले। रास्ते में वाड़े में वंद किये हुए पशुओं की पुकार सुनकर उनने अपने सारधी से पृंका कि ये विचार क्यां दुःखी हो रहे हैं? सारधी ने कहाः—प्रभो ! आपके विवाह में आये हुए मेहमानों के भोजन के लिये ये वाड़े में वंद कर रक्खे गये हैं।

श्ररे, रे! मेंगे विवाह के लिये यह घोर हिंसा! समसदार को सिफ इशारा ही काफ़ी होता है। सारथी के एक वाक्य ने राजकुमार के सामने 'मेरा, विवाह, ये दीन निदींप पश्च, इन का विजदान, श्रात्मा, श्रात्मा की शिक्त, संसार श्रीर उसके विपयों का परिणाम' श्रादि सभी का मृर्तिमंत चित्र उपस्थित कर दिया। एक ज्ञण में ही क्या से क्या हो गया! विवाह के हम से प्रफुल्जित मुखारविंद वैराग्य के श्रोजस से कुम्हला गया। जिसकी किसी को भी कल्पना तक न थी वह सामने श्राकर खड़ा हो गया। राजकुमार विवाह कि विना ही वहीं से लीट पड़े। कंकण, मीर श्रादि विवाह के चिन्ह रथ ही में छोड़ दिये श्रीर पृण् श्रुवावस्था में ही राजपाट, भोग-विलास श्रादि सव सांसारिक वैभवों को छोड़ कर वे महायोगी वन/एये।

भूति रखकरें से सा विचार, एक चुद्र घटना. कैसा श्रजव परिवर्तन

पाकर किस प्रकार सावधान हो जाती है! श्रीर ऐसी साव-धान श्रात्मा क्या नहीं कर सकती श्रादि के श्रादर्श दृष्टांत ईस श्रध्ययन में वर्णित हैं।

## भगवान वोले--

- (१) पूर्वकाल में, शौर्यपुर (सौरीपुर) नामक नगर में राज लक्ष्मणों से युक्त तथा महान ऋद्धिमान वृद्धदेव नामका राजा हो गया है।
- (२) उस राजा वसुदेव के देवकी तथा रोहिणी नामकी दो रानियां थी। उनमें से रोहिणी के बलभद्र (बलदेव) तथा देवकी के कृष्ण वासुदेव ये दो सुन्दर पुत्र थे।
- (३) उसी सौरीपुर नगर में एक दूसरे महान ऋद्विमान तथा राज लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नामके राजा रहते थे।
- (४) उनके शिवा नामकी रानी थी श्रौर उसके उद्र से महा-यशस्वी, समस्त लोक का स्वामी, इन्द्रियों के दमन करने वालों में श्रेष्ठ श्रारिष्ठनेमि नामका भाग्यवान पुत्र उत्पन्न हुआ था।
- (५) वह ऋरिष्ठनेमि शौर्य, गम्भीर ऋादि गुणों से तथा सुस्वर से युक्त थे तथा उनका शरीर स्वस्तिक, शंख, चक्र, गदा, श्रादि एक हजार श्राठ उत्तम लक्षणों से युक्त था। उनके गोत्र का नाम गौतम था। तथा शरीर का रंग श्याम था।
- (६) वे वज्रऋषमनाराचसंधयण तथा समचतुरस्र र्भुशान (चारों तरफ से जिस शरीर की श्राकृति समानुद्धों के थे। उनका उदर मच्छ के समान रम्म् की के

के साथ विवाह करने के क्षिये श्रीकृष्ण महाराज ने राजीमती नाम की कन्या की मंगनी की थी।

टिप्पणी—संघयण (संहनन) अर्थात् शरीर का गठन। गठन की दृष्टि से शरीर पांच प्रकार के होते हैं और उनमें से चल्रऋपमनाराच-संवयण सबसे श्रेष्ट होता है। यह शरीर इतना तो मजबूत होता है कि महावीड़ा को भी वह आसानी से सह सकता है। नेमिराज वाल्पकाल से ही सुसंस्कारी थे। गृहम्थाश्रम में प्रवंश करने की उनकी लेशमाल भी इच्छा न थी। वे तो वैराग्य में हुवे हुए थे। परन्तु अपने चचेरे भाई कृष्ण महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करके वे चुप रहे। उस मीन का "मौन अर्धसम्मित" के अनुसार ययेच्य मतल्य लेकर कृष्ण महाराज ने उप्रमेन महाराजा से उनकी रूपवन्ती कन्या राजीमतो की मंगनी की।

- (७) वह राजीमती कन्या भी उत्तम कुल के राजा उपसेन की पुत्री थी। वह सुशीला, सुनयना, तथा खियों के सर्वोत्तम लज्ञ्णों से युक्त थी। उसकी कांति विजली जैसी दीप्तिमान थी।
- (८) (जब कृष्ण महाराज ने उसकी मंगनी की तब) उसके पिता ने विपुल समृद्धिशाली वासुदेव को सन्देश भेजा कि यदि कुमार श्री नेमिनाथ विवाह के लिये यहां प्यारंगे तो में श्रपनी कन्या उनको श्रवश्य व्याह दंगा।
- टिण्पणी— उन दनों क्षत्रिष कुल में ऐसा रिवाज था ( और यह रिवाज अब भी भहाराष्ट्र में बहुत जगह प्रचलित हैं) कि वधु के सगे सम्बन्धी उसको लेकर वर राजा के नगर में आ जाते थे और वहीं से उप रच कर बढ़ी धूम धाम के साथ विवाह करते थे। किसी रखकर करम्याँ में ऐसा रिवाज या कि वधू का विवाह वरराजा अस कभी गर्विटी हैं या ऐसे ही किसी अन्य चिन्ह के साथ करा

- दिया जाता था। इससे ऐसा मालूम होता है कि हमसेन ने यह एक नये प्रकार की मांग की थी।
- (९) नेमिराज को नियत तिथि पर उत्तम श्रौषधियों (सुगन्धित उत्रटनों) का लेप किया गया श्रौर श्रनेक मंगलाचारों के साथ उनके माथे पर मंगल तिलक भी लगाया गया। इस के बाद उन्हें उत्तम प्रकार के बख्न पिहनाये गये तथा उन्हें हार, कएठा, कंकण श्रादि रत्न जटित उत्तम प्रकार के श्राभूषणों से विभूषित किया।
- (१०) वासुदेव राजा के ४२ लाख हाथियों में से सबसे बड़े मदोन्मत्ता गन्धहस्ति पर वे आरूढ़ हुए और जैसे मस्तक पर चूड़ामणि शोभित होता है वैसे ही उस हाथी पर आरूढ वे शोभित होते थे।
- (११) उनके सिर पर उत्तम छत्र लटक रहा था और उनके दार्ये वायें दोनों तरफ चंबर ढुल रहे थे और दश, दशाई आहि सब यादव उनको चारों तरफ से घेरे हुए थे।
- (१२) उनके साथ में हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल इन चारों प्रकारों की सुन्यवस्थित सुसिन्जित सेना थी। उस समय भिन्न भिन्न बाजों के दिन्य तथा गगनस्पर्शी शब्द से तमाम श्राकाश गूंज रहा था।
- (१३) इस तरह सर्वोत्तम समृद्धि तथा शरीर की उत्तम कान्ति से शोभित वे यादवकुलभूषण नेमिश्वर श्रपने घर से विवाह के लिये बाहर निकले।
- (१४) श्रपने श्वसुर गृह के लग्न मण्डप में पहुँचने हैं। ही रास्ते में जाते जाते वाट नथा की की के

हुए दु:खी तथा मृत्युं के भय से पीड़ित पशु पित्रयों को उनने सामने देखा।

- टिप्पणी—ये जानवर विवाह में आये हुए मेहमानों के जीमन के लिये रक्षे गये थे क्योंकि उन दिनों बहुत से अजैन क्षत्रिय राजा मांसा• हार करते थे।
- (१५) जिनके मांस से जीमन होने वाला था ऐसे मृत्यु के पास पहुँचे हुए उन प्राणियों को देख कर वे बुद्धिमान नेमि-नाथ सारथी को लक्ष्य करके इस प्रकार बोले:—
- (१६) सुख के इच्छुक इन प्राणियों को वाड़े श्रौर पिंजराश्रों में क्यों वन्द कर रक्खा है ?
- (१७) यह प्रश्न सुन कर सारथी ने कहा—"प्रभो! इन सव निर्दोप प्राणियों को श्रापके विवाह में श्राये हुये लोगों को जिसाने के लिये यहां वन्द कर रक्खा है।"
- (१८) "आपके विवाह के कारण इतने जीवों की हिंसा "—यह वचन सुन कर सब प्राणियों पर श्रसीम श्रनुकम्पा के धारक बुद्धिमान नेमिराज बड़े ही सोचविचार में पड़ गये।
- (१९) यदि केवल मेरे ही कारण से ये श्रसंख्य निर्दोप जीव मारे जाते हों तो ऐसी वस्तु मेरे लिये इस लोक तथा परलोक दोनों में ही लेशमात्र भी कल्याणकारी नहीं है।
- टिप्पणी—अनुकरण वृत्ति के दिव्य प्रभाव ने उनके हृत्य में इल चल रितादी। सबसे पहिले तो उनको यह विचार हुआ कि विवाह जैसी रखकर रिया में स्कू ऐसी घोर हिंसा ! उफ ! ज़रा में " कि अक्ष कभी गविष्टिक पामर (नी इसरों)

जानने की भावना को विलक्तल ही लो बैठे हैं ? ऐसा सामान्य विचार भी उनको क्यों न होता होगा! ठीक है, जहां वह दृष्टि ही नहीं है वहां विचार कहां से पैदा हो सकता है ? जहां परम्परा का अन्धा अनुकरण किया जाता है वहां विवेक कहां से आवे ? ऐसे अनर्थ संयोगों से क्या लाभ ? ऐसे सम्बन्धों से पतन के सिवाय उन्नति कहां थी ? ऐसा विचार करने के परिणाम स्वरूप उन्हें तीव्र निर्वेद (वैराग्य) हुआ जिससे उनकी सांसारिक आसक्ति उड़ गई। रमणी (की) के कोमल प्रलोभन का चेप उनको लुभा न सका।

- (२०) तुरन्त ही उन यशस्त्री नेमिनाथ ने अपने कानों के दोनों कुंडल, लग्न के चिन्ह (मोर मुकुट, कंक्रण आदि), तथा अन्य समस्त आभूषण उतार कर सारथी को दे दिये और रथ से उतर वहीं से पीछे लोट चले।
- टिप्पणी—ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि नेमिनाथ आगे न जाकर घर की तरफ पीछे छौट पढ़े थे। इस आकिस्मक परिवर्तन से उनके सगे सम्बन्धी तथा तमाम बरातियों को बड़ा दु.ख हुआ और उनने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया, अनुनय-विनय की, सब कुछ किया किन्तु वे पीछे न छोटे। दिन प्रति दिन उनका वैराग्य भाव प्रबल होता गया। वर्षीदान (प्रत्येक तीर्थं कर दीक्षा केने के पहिले एक वर्ष तक महामूलादान किया करते हैं उसे ) देकर अन्त में एक हजार साधकों के साथ वे दीक्षित हुए।
- (२१) नेमिनाथ ने घर आकर ज्यों ही चारित्र धारण करने का विचार किया त्योंही उनके पूर्व प्रभाव से प्रेरित होकर दिन्य ऋदि तथा बड़ी परिपद् (समृह ) के साथ वह्त से लोकांतिक देव भगवान का निष्क्रमण तप कल्याण के लिये मनुष्यलोक में उतरे।

- टिप्पण्।—जैन धर्मानुसार नेमिनाय चौबीस तीर्थंकरों में से बाईसवें नीर्थंकर है। अनेक जन्मों में तीवतर पुरुपार्थं करते रहने के बाद ही तीर्थंकर पद मिलना है। जिस समय तीर्थंकर भगवान अभिनिष्क्रमण करते (दीक्षा लेते) हैं उस समय देवों में भी प्रशस्त देव वहां आकर्षित होकर उपस्थित होते हैं। उन्हें लोकांतिक देव कहते हैं।
- (२२) इस प्रकार श्रनेक देवों तथा मनुष्यों के परिवारों से घिरे हुए वे नेमिश्वर रत्न की पालकी पर सवार हुए श्रीर हारका नगरी (श्रपने नियासस्थान) से निकल कर रैवतक (गिरनार) पर्वत के ख्यान में गये।
- (२३) च्यान में पहुँच कर वे देवनिर्मित पालकी से उतर पड़े श्रीर एक हजार साधकों के साथ उनने चित्रानचत्र में दीक्षा श्रंगीकार की ।
- टिप्पणी—श्रीहरण के ८ पुत्र, बलदेव के ७२ पुत्र, श्रीहरण के ५६६ भाई, दम्मेन के ८ पुत्र, नेमिनाय के २८ भाई, देवमेन मुनि आदि १०० तथा २१० बादव पुत्र, ८ बढ़े राजा, पुत्र सहित अश्लोम और वरदत्त इस तरइ सब मिलकर १००० साधकों के साथ चित्रा नक्षत्र में भगवान नेमिनाथ ने दीक्षा धारण की थी ।
- (२४) पालकी में से टतर कर दीचा धारण करते समय उनने हाय से श्रपने सुगंधमय, सुकोमल घुंघराल वालों का पंच-मुष्टि लोंच किया तथा समाधिपूर्वक साधुत्व ब्रह्ण किया।
  - भू जितेन्द्रिय तथा छुंचित केश उनको देखकर श्रीकृष्णा महा-राज ने कहा हुई संयतीश्वर ! श्राप श्रपते श्रमीष्ट श्रेय प्राप कभी गर्निस्त्र प्राप्त करो ।

- (२६) श्रौर ज्ञान, दर्शन, तथा चारित्र से तथा चमा, निर्लोभता श्रादि गुगों के द्वारा नित्य श्रागे त्रागे बढ़ते रहो।
- टिप्पणी-जान, दर्शन, तथा चारित्र इन तीन की पूर्ण प्राप्ति होने से जैनधर्म मुक्ति होना मानता है। ज्ञान अर्थात् आत्मा की पहिचान दर्शन अथात् आत्मदर्शन और चारित्र का अर्थ आत्मरमणता है। इस त्रिपुटी की तन्मयता की ज्यों २ वृद्धि होती जाती है त्यों २ कमें के वन्धन डीले पड़ते जाते हैं और जब आत्मा कमें से सर्वथा अलिस हो जाता है उस स्थिति को मुक्ति कहते हैं।
- (२७) इस प्रकार ब्लभद्र, कृष्ण महाराज, यादव तथा अन्य नगरनिवासी जन आरिष्टनेमि को प्रणाम कर फिर वहाँ से द्वारिका नगरी में आये।
- (२८) इस तरक वह राजकन्या राजीमती, श्वरिष्टनेमि के यका-यक दीचा धारण के समाचार सुनकर हास्य तथा श्रानन्द से रहित होकर शोक की श्रिधकता से मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी।
- (२९) होश आने पर राजीमती विचार करने लगी कि युवान राजकुमार ने तो मुक्ते त्याग दिया और राजपाट तथा भोग सुख छोड़कर तथा दीचा धारण कर वे योगी बन गये और मैं अभी यहीं (घर हो में) हूँ। मेरे जीवन को धिक्कार है। मुक्ते भी दीचा लेनी चाहिये—इसीमें मेरा कल्याण है।
  - (३०) इसके वाद पूर्ण वैराग्य से प्रेरिट होकर जन राजीमती ने भौरों के समान ह

- हुए श्रपने नरम केशों को खयमेव छुंचन कर दीचा धारण की।
- (३१) ऋष्ण वासुदेव ने संहित तथा जितेन्द्रिय राजीमती को श्राशीबीद दिया:—"हे पुत्री! इस भयंकर संसार को शीव पार करो।"
- (३२) जब ब्रह्मचारिगी तथा विदुपी राजीमती ने दीक्षा ली थी तब उनके साथ उनकी बहुत सी सहेलियों तथा सेवि-कान्त्रों ने दीक्षा घारण की ।
- (३३) एक बार गिरनार पर्वत पर जाते हुए, मार्ग में वहुत वर्षी होने से राजीमती के वस्त्र पानी में तरवतर हो गये श्रीर श्रंघकार के घर श्राने से वे पास की एक गुफा में खड़ी हो गईं।
- टिप्पणी—अकस्मान से जिस गुफा में जाकर राजीमती खड़ी हुई थी दसीमें ससुद्रिवजय के पुत्र राजकुमार रथनेमि, जिनने पूर्ण यीवन में दीक्षा ली थी, वे भी ध्यान धरे बैठे हुए थे।
- (३४) गुफा में कोई नहीं है ऐसा अनुमानकर तथा अन्यकार के कारण राजीमती अपने भींजे हुए कपड़ों को उतारने लगी और विलकुल नम होकर उनको सुखाने लगीं। इस दृश्य से रथनेमि का चित्त विपयाकुल हो गया। इसी समय राजीमती की दृष्टि भी उस पर पड़ी।
- टिप्पणी—एकान्त अति भयंकर वस्तु है। आत्मा में बीज रूप में छिपी नवासनाएँ एकान्त देखकर, राख में छिपी हुई आग की तरह, प्रेप्त कभी गार्निस्त्र पित उसमें खी का और वह भी नग्न-का

तपस्वी रथनेमि केवछ एक छोटे से निमित्त से क्षणभर में नीचे गिर पड़ता है!

- (३५) (रथनेमि को देखते ही) एकान्त में उन संयमी को देख-कर राजोमती भयभीत होगई। (जाने विना, एक मुनि के सामने नग्न होगई इस भय से) उनकी देह कांपने लगी और अपने दोनों हाथों से गुह्यांगों को छिपा कर वे नीचे वैठ गई।
- टिप्पश्ती—वस्त्र दूर पर सूख रहे थे। स्थल भी एकान्त था। स्त्री जातिसुलभ लजा तथा भय के भावेगों का दूंद ( युद्ध ) चल रहा था। इस समय मर्कटबद्ध भासन से बैठ कर उनने दोनों हाथों से अपने गुहा अङ्ग लिपा लिये।
- (३६) उसी समय समुद्रविजय के श्रंगजात (पुत्र) राजकुमार रथनेमि राजीमति को भयभीत देखकर इस तरह बोले:—
- (३७) हे सरले! मैं रथनेमि हूँ। हे रूपवती! हे मंजुभाषिणी! सुक से तुक्ते लेशमात्र भी दुःख नहीं पहुँचेगा। हे कोमलांगि! आप सुक्ते सेवन करो।
- (३८) यह मनुष्य भन दुर्लभ है, इसिलये चलो, हम दोनों भोगों। को भोगें। उनसे एप्त होने के बाद, भुक्तभोगी होकर फिर हम दोनों जिनमार्ग का अनुसरण करेंगे (संयम प्रहण करेंगे)।
- (३९) इस प्रकार संयम में कायर बने हुए तथा विकारों को जीतने के उद्योग में बिलकुला निष्कर दए उस उस के देखकर राजीमती होश में आहेतर की

श्चात्मा को उन्नत बनाकर उनने उसी समय वस्त्रों को लेलिया श्रीर श्रपना शरीर ढंक लिया ।

- (४०) श्रपनी प्रतिज्ञा तथा त्रत में हढ़ होकर तथा श्रपनी जाति, कुल, तथा शील का रच्चण करते हुए उस राजकन्या ने रथनेमि को इस प्रकार उत्तर दिया:—
- (४१) यदि कदाचिन् तू रूप में कामदेव भी होता, लीला ( हाव-भाव ) में नलकुवेर होता अथवा साज्ञान् शक्रेन्ट्र ही क्यों न होता तो भी में तरी इच्छा नहीं करती।

श्रगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प प्रज्वलित श्रिम में जल कर मर जाना पसंद करते हैं किन्तु उगले हुए विप को पुन: पीना पसंद नहीं करते।

- (४२) हे अपयश के इच्छुक ! तुमें धिकार है कि तू वासनामछ जीवन के लिये वमन किये हुए भोगों को पुनः भोगने की इच्छा करता है। ऐसे पतित जीवन की अपेदा तो तेरा मर जाना बहुत अच्छा है।
- (४३) में भोजकविष्णु की पौत्री तथा महाराज डममेन की पुत्री हूं श्रीर तुम श्रथंकविष्णु के पौत्र तथा समुद्रविजय मही-राज के पुत्र हो। देखों हम दोनों गंधनकुल के सर्प न वतं १६ है संबमीश्वर! निश्चल होकर संबम में स्थिर हो श्री।
- (४४) हे सुनि! जिस किसी भी खी को देखकर यदि तुम इंट्री
- ्र खड़ा हुआ हह नाम का यूच जैसे हवा के एक ही माने लि — रे. किर पड़ल है वैसे ही तुम्हारी आत्मा इस स्मित्ता र नवासनाएं एकान्त देखा के किर्मा

(४५) जिस तरह ग्वाला गायों को चराता है किन्तु वह उनका मालिक नहीं है, वह तो केवल अपनी लाठी का ही धनी है; श्रीर जैसे भंडारी भंडार में रक्खे हुए घन धान्य का मालिक नहीं है किन्तु केवल चावीका ही धनी है; वैसे ही यदि तुम भी विषयाभिलाधी बने रहोंगे तो हे रथनेमि! संयम पालने पर भी तुम चारित्र के नहीं किन्तु वेश मात्र के ही धनी रहोंगे।

इसलिये हे रथनेमि ! क्रोध, मान, माया श्रीर लोभ को द्वाकर श्रपनी पांचों इन्द्रियों को वश कर, श्रपनी श्रात्मा को विषयभोगों से पीछे मोड़ो ।

(४६) ब्रह्मचारिणी उस साध्वी के इन आत्मस्पर्शी अर्थपूर्ण वचनों को सुनकर, जैसे अंकुश से हाथी वश में आता है वैसे ही रथनेमि शीव ही वश में आगये और संयम धर्म में बराबर स्थिर हुए।

टेप्पणी—यहां हाथी का दृष्टांत दिया है तो रथनेमि को हाथी, राजी-मती को महावत तथा उनके उपदेश को अंकुश समझना चाहिये। रथनेमि का विकार क्षणमात्र में शांत होगया। आत्मभान जागृत होने पर उन्हें अपनी इस कृति पर घोर पश्चात्ताप भी हुआ। किन्तु जिस तरह आकाश में बादल आने से कुछ देर के लिये सूर्य हँक जाता है किन्तु बाद में पुनः अपने प्रचंड वाप से चमकने लगता है वैसे ही वे भी अपने संयम से दीस होने लगे। सच है, संयम का प्रभाव क्या नहीं करता?

व्याप्त है, वह जगज्जननी महाचारिणी मैया! मातृक्ष्मित के

- (४७) रथनेमि तबसे मन, वचन श्रीर काय से सुसंयमी तथा सर्वोत्कृष्ट जितेन्द्रिय हो गये श्रीर श्राजीवन श्रपने त्रत में श्राखंड रूप से दृढ़ रहे श्रीर जब तक जिये तब तक श्रपने चारित्र धर्म को शोभित करते रहे।
- दिप्पणी—राजीमती का उपदेश उनके रोम रोम में व्यास होगया और वे अपने चारित्र धर्म में मेरु के समान अडोल अकंप स्थिर हुए।
- (४८) इस प्रकार अन्त में उप तपश्चर्या करके ये होनों जीव (राजी-मती तथा रथनेमि ) केवलज्ञानधारी हुए श्रीर सर्व कर्मों के वंधनों को तोड़ कर सर्वोत्तम गति—श्रर्थात् मोच को प्राप्त हुए।
- (४९) जिस तरह उन पुरुप शिरोमिण रथनेमि ने अपने मन को विषयभोग से च्यामात्र में हठा लिया वैसे ही विचच्या तथा तत्त्वज्ञ पुरुष भी विषयभोगों से निष्टत्त होकर परम पुरुपार्थ में संलग्न हों।
- टिप्पणी—क्षीशिक्त कोमल है, उसकी गित मंद है, उसका ऐश्वर्य मय से आकांत है, स्त्रीशिक्त का सूर्य कजा के वादलों से धिरा हुआ है—यह सब कुछ सब है, पर कब तक ! जब तक उपयुक्त अवस न आवे तवतक। अवसर के आते ही लजा के वादल विखर जाते हैं, सहजसुल्म कोमलता प्रचंदता के रूप में पंलट जाती है के बह तेनस्त्री सूर्य के समान चमचमाने लगती है। उस सा जगत का सारा बल परास्त होता है। पुरुपशक्ति का आवेश होकर उतर नाता है और अन्त में हसी शक्ति की विजय होती है रथनेमि यद्यपि पूर्वजन्म के योगीश्वर थे, आत्मध्यान में सम

ज्ञान, ध्यान और वैराग्य अपूर्ण था। हाथी को खींचने के लिये हाथी की ही जरूरत पड़ती है। अनंतकालीन वासनाओं के बीजों को नष्ट करने के लिये आत्मशक्ति का सूर्य अत्यंत प्रखर होना चाहिये। रथनेमि अभी तक उस कक्षा को प्राप्त नहीं हुए थे इसीलिये लेशमात्र निमित्त पाते ही वे डाँवाडोल हो गये।

इस प्रसंग में राजीमती का तीत्र तपोवक तथा निर्विकारिता प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। ऐसे कठिन प्रसंग में उनका यह धैर्य तथा पराक्रम ये दोनों उनके सीमातीत आत्मवळ के अकाट्य प्रमाण हैं।

रथनेमि भी पूर्वयोगी थे इसीछिये तो एक संकेत मात्र से अपने मार्ग पर आगये; नहीं तो परिणाम क्या आता उसकी कोई करपना भी नहीं कर सकता। उन्हें केवल एक संकेत की जरूरत थी और वह उन्हें राजीमती द्वारा मिल गया।

धन्य हो, धन्य हो, उस योगिनी और योगीश्वर को ! प्रकोभन के प्रवल निमित्त में फंस जाने पर भी ये दोनों भारमाएं अडोल-अकंप रहीं और उत्तम आचार पर स्थिर रहकर दोनों ही आत्मज्योति में स्थिर हुईं।

## ऐसा में कहता हूँ-

तरह 'रथनेमीय' नामक बाईसवां अध्ययन समाप्त हुआ।

# केशिगौतमीय

## केशिमुनि तथा गीतम का संवाद

विने सहावत—ये साधु के 'मृलगुगा' कहलाते हैं। श्रातमोप्रति के ये ही सच्चे साधन हैं। वाकी की दूसरी क्रियाएं 'उत्तर गुग्।' कहलाती है और उनका उहेर

मृलगुणीं को पुष्ट करना है।

मृल उद्देश्य कर्मवैधन से मुक्त होना ध्यथवा मोत्त की (प्राप्ति) करना है थ्रीर उस मार्ग में जाने के मृलभूत जिब में तो किसी काल में, किसी भी समयमें, किसी भी पिनिने में परिवर्तन नहीं होता। सत्य सदेव चिकालावाधित है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता।

किन्तु उत्तर गुगों तथा क्रियायों के विधिविधानों समय तथा परिस्थित के श्रनुसार परिवर्तन हुए हैं,

रें होंगे भी। समयथमं की श्रावाल की होती होंक रतर के हैं के श्रावाल की मार्गिश्वर थे, आत्मध्यात में रथनेमि यद्यपि प्रतिन्दी के कार से रहें।

सामने रखकर गति करते जाने में ही सत्य की, धर्म की, तथा शासन की रत्ता भ्रन्तिहत है।

श्राज से लगभग २४०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर के समय की यह कथा है। भगवान महावीर ने समयधर्म को पहिचान कर साधुजीवन की चर्या में महान परिवर्तन किया था। पहिलों से श्राती हुई श्री पार्श्वनाथ की परंपरा में बहुत कुछ नवीनता ला दी थी तथा कठिन विधिविधान स्थापित कर जैनधर्म का पुनरुद्धार किया था। समयधर्म को वरावर पहिचानने के कारण ही जैनशासन की धर्मध्वजा तत्कालीन वेद तथा वौद्ध धर्मों के शिखर पर फरकने लगी थी।

भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा को माननेवाले केशिश्रमण सपरिवार विहार करते हुए श्रावस्तीनगरी में पधारे थे। उसी समय भगवान महावीर के गणधर गौतम भी सपरिवार वहां बारे। दोनों समुदायों का मिलाप वहां हुआ। एक संघ शिष्यों को दूसरे खंघ के शिष्यों को एक ही धर्म किंतु दूसरी त्या पालते हुए देखकर वड़ा ही आश्चर्य हुआ। शिष्यों की ना का निवारण करने के लिये दोनों ऋषिपुंगव (केशीमुनि ग गौतम) मिले—भेटे। परस्पर विचारों का समन्वय या श्रौर अन्त में वहीं पर केशीमुनीश्वर ने समयधर्म को शिरा श्रौर अन्त में वहीं पर केशीमुनीश्वर ने समयधर्म को जैनशासन का जयजयकार कराया।

### भगवान वोले-

सर्वज्ञ (सब पदार्थी तथा तत्त्वों के संपूर्ण ज्ञाता ), सद्धुर्म

- टिप्पणि—जब की यह घटना है उस समय मगवान महावीर का शासन प्रवर्त रहा था। भगवान महावीर के पहिले २३ तीर्थंकर—धर्म के पुनद्दारक पुरुप—और हो गये हैं। उनमें से २३वें तीर्थंकर का नाम पादर्चनाथ है। भगवान पादर्वनाथ की आत्मा तो बहुत पहिले ही सिद्धपद प्राप्त कर जुकी थी, इस समय मात्र उनके दिन्य आन्दोलन तथा उनका अनुयायी मंडल ही मीजूद था।
  - (२) लोकालोक के समस्त पदार्थों को श्रपते ज्ञानप्रदीप (ज्योति), के प्रकाश द्वारा प्रकट करनेवाले उन महाप्रमु के शिष्य, महायशस्त्री तथा ज्ञान एवं चारित्र के पारगामी केशीकुमार नाम के श्रमण उस समय विद्यमान थे।
  - (३) वे केशीकुमार मुनि, मितज्ञान, श्रुतज्ञान तथा श्रविद्यान इन तीन ज्ञानों के घारक थे। एक वार बहुत से शिष्यों के साथ गामगाम विचरते हुए वे श्रावस्तीनगरी में पधारे।

टिप्पणी—जैनदर्शन में ज्ञान की ५ श्रेणियाँ हैं :—(१) मतिज्ञान (१) श्रुतज्ञान, (१) अवधिज्ञान, (१) मनःपर्ययज्ञान ता (५) केवलज्ञान। मतिज्ञान (अथवा मति अज्ञान) तथा श्रुज्ञान (अथवा श्रुत अज्ञान)—ये टो ज्ञान तो यावन्मात्र प्राति को तरतम (कमज्यादा) प्रमाण में होते हैं। शुद्ध ज्ञान को प्रस्कान कहते हैं और जो ज्ञान अशुद्ध अथवा विषयीसवाला है टसे अज्ञान कहते हैं। सम्यक अववोध (ज्ञानना) इसक्य मतिज्ञान है और इससे भी अधिक विशिष्ट ज्ञान को श्रुप्त कहते हैं। यह ज्ञान जिसको जितनी मात्रा में अधिक होगा है दी उसका बुद्धिवेमव भी अधिक होगा। अविद्यसम्बर्धन विश्वास्त्र केवलिंग विश्वास विश्वास

जाना जा सकता है। ये तीनों ज्ञान अजुद्ध भी हो सकते हैं, और यदि ये अजुद्ध हों तो उनके नाम क्रमशः मित अज्ञान, श्रुत अज्ञान तथा विभंग ज्ञान (क्रअविध्ञान) होते हैं। मनःपर्यय यह केवल जुद्ध ज्ञान है और यह ज्ञान छट्टे से बारहवें गुणस्थानक वर्ती संयमी साधु को ही होता है। इस ज्ञान के द्वारा वह दूसरे के मन की बात यथावत् ज्ञान सकता है। सब से अधिक विज्ञुद्ध केवल आत्मभानरूप जो ज्ञान होता है उसे 'केवल-ज्ञान' कहते है। अह ज्ञान धातिया कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय) के नाश होने पर ही प्रकट होता है और इस ज्ञान के धारक को 'केवली' (सर्वज्ञ) कहते हैं। ऐसे सर्वज्ञों को संसार में फिर दुवारा जन्म नहीं लेना पड़ता। ज्ञान के प्रकारों का विस्तृत वर्णन नंदीजी आदि स्त्रों में दिया है, ज़िन्हें देखना हो वे वहां देख लेवें।

- (४) उस आवस्तीनगरी में नगरमण्डल के बाहर तिन्दुक नामका एक एकान्त (ध्यान घरने योग्य ) उद्यान था। वहां पित्रत्र तथा अचित्त घास की शञ्या तथा आसनों की याचना कर उस विशुद्ध भूमि में उनने वास किया।
  - ) उस समय में वर्तमान उद्घारक तथा धर्मतीर्थ के संस्थापक जिनेश्वर भगवान वर्धमान समस्त संसार में सर्वज्ञ तरीके प्रसिद्ध हो चुके थे।

<sup>)</sup> कोक में ज्ञान प्रद्योत से प्रकाशमान प्रदीप स्वरूप उन अग्र-

- (७) वारह ऋंगों के प्रखर ज्ञाता वे गौतम प्रभु भी बहुत से शिष्य समुदायके साथ गामगाम विचरते हुए उसी श्रावस्ती-नगरी में पधारे।
- टिप्पग़ी-अब भी उन १२ अंगों में से ११ अंग मौजूद हैं, केवल एक दृष्टिवाद नाम का अंग उपलब्ध नहीं है। उन अंगों में पूर्व तीर्थ-करों तथा भगवान महाबीर के अनुभवी वचनामृतों का संग्रह किया गया है।
- (८) उस नगरमंडल के समीप कोष्टक नाम का एक उद्यान था। वहाँ पर विशुद्ध स्थान तथा तृशादि की स्त्रचित्त शय्या की याचना कर उनते निवास किया।
- (९) इस तरह श्रावस्तीनगरी में कुमार श्रमण केशीमुनि श्रीर महायशस्त्री गौतम मुनि ये दोनों सुखपूर्वक तथा ध्यान• मग्न समाधिपूर्वक रहते थे।

टिप्पणी—टन दिनों गाँव के वाहर उद्यानों में त्यागी पुरुष निवास कर्र थे और गाँव में भिक्षा मांगकर संयमी जीवन विताते थे।

- (१०) एक समय (भित्ताचरी करने के निमित्त ) निकले हु
   उन दोनों के शिष्यसमुदाय को जो पूर्ण संयमी, तपस्वे
   गुणी तथा जीवरत्तक (पूर्ण श्रहिंसक) था, एक हु
   धर्म के उपासक होने पर भी एक दूसरे के वेश सा
   साधु-क्रियात्रों में श्रन्तर दिखाई देने से, एक दूसरे
   प्रति यह विचार (सन्देह) उत्पन्न हुआ।
- (११) भला यह धर्म कौनसा है १ श्रीर जो हम प्रास्त्रे हैं। र्के जीनमार्जा कर महत्त्वा

वाले थे. किन्द्रशासा

टिप्पणी—भगवान पादर्वनाथ का काल ऋज तथा प्राज्ञ काल था। उस समय के मनुष्य अति सरल तथा बुद्धिमान थे इसीलिये उस प्रकार की धर्मरचना प्रवर्तती थी। उस समय केवल ४ महानत थे। साधु रंगीन मनोहर चस्त्र पहिनते थे क्योंकि खुन्दर वस्त्र परिधान में या जीर्ण वस्त्र परिधान में तो मुक्ति है नहीं, क्रुक्तितो निरासिक्त में है—ऐसी मान्यता के कारण वैसी प्रणालिका चाल, हुई थी और उस दिन तक मौजद थी। एक ही जैनधर्म को मानते हुए मी बाह्य किया में इतना अधिक अन्तर क्यों ? उनको यह शंका होना स्वाभाविक था। ये दोनों गणधर तो ज्ञानी थे, उनको इस वस्तु में कोई महत्त्व या निकृष्टत्व नहीं लगता था परन्तु शिष्यवर्ग को ऐसी शंका होना स्वाभाविक था। उसका समाधान करने के लिये परस्पर मिल कर समन्वय कर लेना—यह भी उन महापुरुणों की उदारता तथा समयस्वकता का ही द्योतक है।

- (१२) धर्म चार महात्रत स्वरूप है, जैसा कि भगवान पार्श्वनाथ ते कहा है श्रथवा पंच महात्रत स्वरूप है जैसा कि भग-वान महावीरने कहा है ? तो उस भेद का कारण क्या है ?
  - ) तथा श्रल्पोपिध ( श्वेत वस्त्र श्रौर वस्त्ररहित ) वाले साधु श्राचार में जो भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित किया गया है तथा पँचरंगी वस्त्र धारण करने के साधु श्राचार में जो भगवान पार्श्वनाथ द्वारा प्ररूपित है, इन दोनों प्रकार के श्राचारों में सचा साधु श्रात्रार कौनसा है ?

टिप्पणी—उस समय दोनों प्रकार के मुनि थे जिनमें से एक का नाम 'जिनक्ट्पी' तथा दूसरे का नाम 'स्थिवरकट्पी' था। जिनक्ट्पी साधु देहाध्यास का सर्वथा ध्याग कर केवल आस्मपरायण रहते थे। किंतु स्थिवरकट्पियों का काम उनमे अधिक क्लिप्ट था क्योंकि उनको समाज के साथ २ मिल कर रहते हुए भी निरासक्त भाव से काम करने पढ़ते थे तथा आत्मकट्याण के साथ हो साथ परकट्याम कर इन दोनों हेतुओं की जिब्हि करते हुये आगे वढना पढ़ता था। इस टिये यद्यपि वे स्वत्य परिग्रह रखते हुए भी जिनकट्पी की महान उन्नत आत्मा जैसी उज्जवलता तथा सावधानी( अप्रमक्त भाव) रखते थे।

(१४) केशीमुनि तथा गौतममुनि इन दोनों महापुरुषों ने श्रपने शिष्यों का यह संशय जानकर उसकी निवृत्ति के लिये सब शिष्यसमूह के साथ परस्पर समागम करने की इच्छा व्यक्त की।

टिप्पणी—केशीमुनि की अपेक्षा गीतम मुनि उमर में छोटे थे किन् ज्ञान में बढ़े थे। उस समय गौतम मुनि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान इन चार ज्ञानों के धारी थे।

(१५) विनय, भक्ति तथा श्रवसर के ज्ञानी गौतमस्वामी श्रप् शिष्यसमुदाय सहित केशीमुनि (पार्श्वनाथ के श्रनुया हैं इसलिये) के कुल को वड़ा मान कर तिन्दुक वन्स उनके सन्निकट स्वयं जाकर उपस्थित हुए।

टिप्पणी—भगवान पारवंनाथ भगवान महावीर के पहिले हुए हैं हैं
लिये उनके अनुवायी भी बड़े माने जांयगे। इस्रिकियाजन स

- (१६) शिष्यसमुदाय सहित गौतमस्त्रामी को खयं त्राते हुए देख कर केशीकुमार हर्ष में फूले न समाये श्रौर वे उनका श्रत्यंत प्रेमपूर्वक खागत करने लगे ।
- टिप्पणी—वेश तथा समाचरी भिन्न २ होने पर भी नहां पर संभोग— साम्प्रदायिक व्यवहार—का भूत सवार न हुआ हो, नहां विश्वद प्रेम (स्वामीवात्सल्य) उछळता हो और सम्प्रदायनम्य कदाग्रह न हो वहां का वातावरण अत्यंत प्रेमालू तथा विषमताशून्य हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अहा ! वे क्षण धन्य हैं, वे पर्ले सुफल हैं, वे समय अपूर्व / हैं जहां ऐसा सच्चा मिलन होता है ! संत-समागम का ऐसा एक ही क्षण करोड़ों जन्मों के पापसमूह को जलाकर भरम कर देता हैं।
- (१७) श्रमण गौतम भगवान को त्राते देखकर उत्साहपूर्वक उनके त्रमुख्प तथा प्राप्तक ( श्रिचित्त शाली धान, त्रीहि, कौदरी तथा राल नामकी वनस्पति ) चार प्रकार के पराल (सूखी घास) तथा पाँचवे डाम तथा तृण के त्रासन ले लेकर केशीमुनि तथा उनके शिष्यसमुदाय ने गौतममुनि श्रौर उनके शिष्यसमुदाय को उन पर विठाया।
  - ८) उस समय का दृश्य श्रनुपम दिखाई देता था। कुमार केशीश्रमण तथा महायशस्त्री गौतममुनि ये दोनों महा-पुरुष वहाँ बैठे हुए सूर्य तथा चंद्रमा के समान शोभित हो रहे थे।

उपस्थित थे श्रीर लाखों की संख्या में वहाँ गृहस्य भी मौजूद थे।

- (२०) ( श्राकाश मार्ग में श्राहरय रूप से ) देव, दानव, गन्वर्व, यक्ष, राच्चस, किन्नर तथा श्राहरय श्रानेक भूत भी वह हश्य देखने के लिये वहां इकट्टे हुए थे।
- (२१) उस समय सबसे पहले केशी मुित ने गोतम से यह कहा:—
  हे भाग्यवंत! में श्रापसे कुछ प्रश्न पूंछना चाहता हूँ।
  उसके उत्तर में भगवान गौतम ने केशी महाराजिं की
  यह कहा—
- (२२) हे भगवन ! जो कुछ श्राप पृँछना चाहे वह श्रानंद के साथ पृँछिये। इस प्रकार जब गौतममुनि ने केशीमुनि को उदारतापूर्वक कहा तब श्रनुज्ञाप्राप्त केशी भगवान ने गौतम-मुनि से यह प्रश्न पृछा:—
- (२३) हे मुने ! भगवान पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतरूप धर्म कहा है; किन्तु भगवान महावीर पाँच महाव्रतरूप धर्म बताते हैं

टिप्पणी-याम शब्द का अर्थ यहाँ महावत किया है।

(२४) तो एक ही कार्य (मोक्षप्राप्ति) की सिद्धि के लिये नि जित इन दोनों (तीर्थकरों द्वारा निरूपित धर्म) के ये (स भिन्न वेश तथा भिन्न भिन्न श्राचार रखने का प्रयोजन है ? हे बुद्धिमान गौतम ! इस एक ही मार्ग में दो प्रवेस भिन्न विधिकर्म हों हैं श्वलन्म है हैं हैं कि

- (२५) केशीश्रमण के इस तरह प्रश्न पूँछने के बाद गौतम मुनि ने उनको यह उत्तर दिया:—"शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही धर्म-तत्त्व का तथा परमार्थ का निश्चय किया जा सकता है।"
  - टिप्पगाि—जब तक ऐसी शुद्ध तथा उदार बुद्धि (निष्पक्षता) नहीं होती तब तक साधक, साध्य (लक्ष्य) को अपेक्षा साधन की ही तरफ़ विशेष झुका रहता है। इसीलिये महापुरुषों ने काल को देखकर वैसी कठिन क्रियाओं का विधान किया है।
  - (२६) (२४ तीर्थंकरों में से) प्रथम तीर्थंकर (भगवान ऋषभं) के समय के मनुष्य बुद्धि में जड़ होने पर भी प्रकृति के सरल थे। श्रीर श्रन्तिम तीर्थंकर (भगवान महावीर) के समय के मनुष्य जड़ (बुद्धि का दुरुपयोग करनेवाले) तथा प्रकृति के कुटिल हैं। इन दोनों के बीच के तीर्थंकरों के समयों के जीव सरल बुद्धिवाले तथा प्राज्ञ थें। इसीलिये परिस्थिति को देखकर उसके श्रनुसार भगवान महावीर ने कठिन विधिविथान किये हैं।
  - २७) ऋषभ प्रभु के अनुयायी पुरुषों को धर्म सममता कि होता था परन्तु सममते के वाद उसे धारण करते में होने के कारण वे भवसागर पार उतर जाया करते थे इन अन्तिम भगवान (महावीर स्वामी) के के को धर्म सममाना तो सरल है परन्तु उनसे पलाना के हैं। यही कारण है कि इन दोनों भगवानों के कि विकास के रहती सामकार की समस्ति के रहती कारण है कि इन दोनों भगवानों के कि हम देश हम दोनों भगवानों के कि हम देश हम देश हम दोनों भगवानों के कि हम देश हम देश

- टिप्पणी—समझने में कठिनता होने का कारण दृद्धि की नदता (मंदना) है किन्तु चारित्र धारण करने की कठिनता का कारण तत्कालीन मनुष्यों में चारित्रशैथिल्य का बढ़ जाना था।
- (२८) यह स्पष्ट उत्तर मुनकर केशीखामी बोले:—हे गौतम ! आप की बुद्धि सुन्दर है। हमारी इस शंका का समाधान हो गया। धव में अपनी दुसरी शंका कहता हूँ, हे गीतम ! आप उसका समाधान करो।
- (२९) हे महामुने ! भगवान महाबीर ने साधु समुदाय को प्रमाणपूर्वक केवल सफेद वस्त्र ही पहिरने की श्राझा दी है किन्तु भगवान पार्श्वनाथ ने तो विविध रंग के वस्त्र पहिरने की साधुओं को छूट दी है।
- िटप्पणी—"अचेछक" शब्द का अर्थ कोई कोई "अवस्व अथवा वस्त्रहीन" करते हैं। यद्यपि सामान्यरीति से नज् समास का अर्थ नकारवाची किया जाता है और उस दृष्टि से यह अर्थ किया भी जा सकता है परन्तु उस कालमें भी समस्त साधुससुदाय वस्त्रहित (दिगम्बर न था। बहुत से दिगम्बर साधु थे बहुत से वस्त्रसहित साधु भी क्योंकि भगवान महावीर ने वस्त्र की अपेक्षा बस्त्रजन्य मूर्छा को दू करने पर विशेष ज़ोर दिया था। इसिल्ये यहां पर "नज्" सम् के स्र अर्थों में से "ईपत् (अन्प)" अर्थ करना विशेष युक्ति-युक्त
- (३०) ये दोनों (प्रकार के ) साधु एक ही उद्देश्य सिद्धि में । हुए हैं फिर भी इस प्रकार के प्रत्यक्ष जुदे २ वेश वि भारण करने का अन्तर उन्हों रखहे हैं रहिले

- (३१) इस प्रकार प्रश्न पृंछे जाने के बाद गौतम मुनि ने केशी-मुनि को यह उत्तर दिया:— हे महामुने ! समय का खूब विज्ञानपूर्ण सूक्ष्म निरीत्तण कर तथा साधुश्रों के मानस (चित्तवृत्ति) को देखकर ही उन महापुरुषों ने इस प्रकार के भिन्न २ बाह्य धर्मसाधन रखने का विधान किया है।
- दिएएग्री—मगवान पाइवंनाथ के शिष्य सरल स्वमावी तथा बुद्धिमान थे इसलिये वे विविध रंग के वस्तों को भी—वे केवल शरीर ढंकने के साधन हैं, श्रंगार के लिये नहीं हैं—ऐसा मानकर भनासक्त भाव से उनका उपयोग कर सकते थे किन्तु भगवान महावीर ने देखा कि इस काल में पतन के बहुत से निमित्त मिलते रहते हैं, इसलिये निरासक रहना अति कठिन हैं। इसीलिये उनने मुनि को प्रमाणपूर्वक तथा सादा वेश रखने की भाज्ञा दी हैं। (भर्यात् महापुरुपों ने यह सब कुछ सोचसमझ कर तथा समय देखकर ही किया है। यह भेद करना सकारण था, निष्कारण नहीं)
  - (१) ऐसा सादा वेश रखने के कारण ये हैं—(१) इस समय लोक में भिन्न भिन्न प्रकार के विकल्पों तथा वेशों का प्रचार है। इस वेश को देख कर लोगों को यह विश्वास हो कि "यह जैन साधु है"; (२) साधु को भी इस वेश से यह हमेशा ध्यान रहे कि "मैं साधु हूँ" तथा (३) इस वेश द्वारा संयम निर्वाह सब से उत्तम रीति से हो सकता है। लोक में वेश धारण करने के ये ही प्रयोजन हैं।

ग्री भी साध्य तो है नहीं, मात्र बाह्य साधन है। यह बाह्य

- (३३) श्रीर साधु का वेश तो दुराचार न होने पावे एसकी सतत जागृति रखने के लिये ज्यवहार नय सात्र एक साधन है; निश्चय नर्स से तो ज्ञान, दर्शन श्रीर चारित्र ये ही तीन मोक्ष के साधन हैं। इन वास्त्विक साधनों में तो भगवान पार्श्वनाथ तथा भगवान महावीर दोनों का एक ही मत है ( मोलिकता में तो लेशमात्र भी श्रन्तर नहीं है)।
  - टिप्पर्गा—वेश भले ही भिन्न हो परन्तु तस्त्र में कुछ भी भेद नहीं है। मिन्न वेश रखने का कारण वहीं हैं जो ऊपर लिखा है।
  - (३५) केशीस्त्रामी ने कहा—हे गौतम! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है (अर्थात् तुम बहुत अच्छा समन्वय कर सकते हो)। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं तुमसे दूसरा एक प्रश्न पूँछता हूँ, उसका भी हे गौतम! तुम समा-धान करो।
  - (३५) हे गौतम! हजारों शत्रुत्रों के बीच में तुम रहते हो हैं वे सब तुम पर श्राक्रमण कर रहे हैं, फिर भी तुम हिं सब को किस वरह जीत लेते हो ?
  - (३६) (गौतम ने कहा:—) में मात्र एक (त्रातमा) ( जीतने का सतत प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि उस एक जीतने से पांच (इंद्रियों) को श्रोर उन पांच (इंद्रियों को जीतने से उस

بالم

- (३७) केशीमुनि ने गौतम से फिर प्रश्न किया:—हे महात्मन् ! वे शत्रु कौन से हैं सो कहो । केशीमुनि का यह प्रश्न सुनकर गौतम ने इस प्रकार उसका उत्तर दिया:—
- (३८) हे मुने! (मनकी दुष्ट प्रवृत्तिओं में फंसा हुआ) एक जीवातमा यदि न जीता जाय तो वह अपना शत्रु है (क्योंकि आत्मा को न जीतने से कथायें उत्पन्न होतो हैं) और इस शत्रु के कारण चार कथाएं और पांचों इन्द्रियां भी अपनी शत्रु हो जाती हैं (अर्थात पंचेन्द्रियों तथा कपाय से 'योग' होता है और यही योग कर्मवन्धन का तथा दुःखपरंपरा का कारण है )। इस तरह समस्त शत्रुपरंपरा को जैनशासन के त्यायानुसार जीत कर में शान्तिपूर्वक विहार किया करता हूँ।
- टिप्पणी—कोध, मान, माया और लोभ ये चार क्षायें कहलाती हैं।
  इन चार के तरतम भाव से १६ भेद होते हैं। दुष्ट मन भी अपना
  शातु है। पांच इन्द्रियां भी असद्वेग होने से शातुरूप ही हैं। यद्यपि
  ये आत्मा के शातु हैं किर भी इन सब का मूल कारण केवल एक है
  और वह है आत्मा की दुष्ट प्रवृत्ति। इसलिए एक दुष्टात्मा को जीत.
  लेने से समस्त शातुपरंपरा स्वयमेव जीत ली जाती है। जैनशास्त्र
  जा न्याय यह है कि बाह्य युद्ध की अपेक्षा आत्मयुद्ध करना अधिक
  तम है और क्षमा, दया, तपश्चर्या तथा तथा ये ही युद्ध के शस्त्र
  हिन्हीं शस्त्रों द्वारा ही कर्मरूपी शत्रु मारे जाते हैं।

हे गौतम ! तुन्हारी बुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरो शंका

(४०) इस संसार में वहुत से विचारे जीव कर्मरूपी जाल से जकड़े हुए दिखाई देते हैं। इस परिस्थित में हे मुनि! तुम किस प्रकार वंधन से रहित होकर वायु की तरह हलके हांकर श्रप्रतिवंध (विना रुकावट) विहार कर सकते हो ?

(४१) ( गौतम केशीमुनीश्वर को उत्तर देते हैं:—िक ) हे सुने ! शुद्ध उपायों से उन जालों ( वंघनों ) को तोड़कर में वंघन-रहित होकर वायु की तरह अप्रतिबंध रूप से विचरता हूं !

(४२) तब केशीमुनि ने गौतम से फिर प्रश्न किया:—हे गौतम ! वे बंघन कौन से हैं ? वे आप मुक्ते कहें । यह प्रश्न सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह जवाब दिया:—

(४३) हे महामुने ! राग, द्वेष, मोह, परिश्रद्द तथा खी, कुटुम्बी जन, आदि पर जो आसक्ति भाव हैं वे ही तील्ल, गाढ़ें और भयंकर स्तेह्वन्यन हैं। इन वन्यनों को तोड़कर जैन शासन के न्यायानुसार रहकर में अपना विकास करत हूँ और निर्दृद विद्वार करता हूँ।

(88) यह उत्तर सुनकर केशीमुनि कहने लगे:—हे गौतम तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा संदेह है कर दिया। अब मैं तुमसे दूसरा प्रश्न करता हूँ उन भी समाधान करो।

(४५) हे गौतम ! हृदय के गहरे भागरूपी जमीन में एक वेल उ श्रीर उस वेल में विप के समान ज़हरीले फल लगे उस वेल कुर्जा के कन्माने के कि '(४६) केशीमुनि के प्रश्न को सुनकर गौतम बोले:—उस विष वेल को तो मैंने उखाड़ कर फेंक दिया है तभी तो मैं उस वेल के विषफलों के असर से मुक्त होकर जिनेश्वर के न्यायमय शासन में त्रानन्दपूर्वक विचर रहा हूँ।

(४७) केशीमुनि ने गौतम से पूंछा:—"वह बेल कौनसी है ? सो श्राप सुमें कहो।" यह सुनकर गौतम ने केशीमुनि को

यह उत्तर दिया:-

(४८) हे मुनीश्वर ! महापुरुषों ने संसार को वढ़ानेवाली इस तृष्णा को ही विषवेल कहा है। वह बेल भयंकर तथा जहरी फलों को देकर जीवों के जन्म-मरण करा रही है। उसका यह स्वरूप वरावर जानकर मैने उसे उखाड़ डाली है श्रीर इसीलिये श्रव में जितेश्वर के न्यायशासन में सुखपूर्वक चल सकता हूँ।

(४९) केशीमुनि ने कहाः —हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है। तुमने मेरी शंका का समाधान कर दिया। श्रव में दूसरा प्रश्त पूंछता हूँ, उसका भी श्राप समाधान करो।

) हे गीतम ! हृद्य में खूब ही जाज्वल्यमान श्रौर भयंकर एक अग्नि जल रही है जो शरीर में ही रहती हुई इसी शरीर को जला रही है। उस श्रम्न को तुमने कैसे

बुक्ताया ?

) (यह सुनकर गौतम ने कहा: —) महामेघ (वड़े बादल) ्राची क्रिक्ट कि प्रवाह से पानी लेकर सतत में उस

- (५२) केशीमुनि ने गौतम से फिर पृंछा:—"वह अग्नि कौन सी है सो आप मुक्तसे कहों"। केशीमुनि के इस प्रश्न को सुनकर गौतम ने उनको यह उत्तर दिया:—
- (५३) कपार्ये ही छान्ति हैं (जो रारीर, मन तथा छात्मा को सतत जला रही हैं) छोर (तीर्थंकररूपी महामेच से वरसी हुई) ज्ञान, छाचार छोर तपरचर्यारूपी जल की धाराएं हैं। सत्यज्ञान की धाराछों के जल से बुकाई हुई मेरी कथायरूपी छान्न विल्कुल शांत पड़ गई है छोर इसीलिये छव वह मुक्ते विलक्षल भी जला नहीं सकती।
- (५४) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मैं दूसरा प्रश्न पृंछता हूं उसका भी ख्राप समाधान करो।
- (५५) केशीमुनि ने पूंछा:— हे गौतम ! महाउद्धत, भयंकर तथा दुष्ट (अपने सवार को गड्ढे में डाल देनेवाला ऐसी एक ) योड़ा खूव दौड़ रहा है। उस योड़े पर बैठे हुई भी तुम सीये मार्ग पर कैसे जा रहे हो ? वह योड़ी तुस्हें उन्मार्ग (खोटे मार्ग ) में क्यों नहीं ले जाता ?
- टिण्पणी—दुष्ट स्त्रभाव का घोड़ा मालिक को कभी न कभी दगा दि विना नहीं रहता। किन्तु तुम तो उस पर सवार हो फिर्स सीव २ अपने मार्ग पर चले जा रहे हो —भला इसका कारण है ?
- (५६) केशीमहाराज हो कि के समान जहरीले फल लगे वैक्त में विष के समान जहरीले फल लगे

हूँ। ज्ञानरूपी लगाम से वश हुआ वह घोड़ा कुरस्ते न जाकर मुम्मे सुमार्ग पर ही ले जाता है।

- (५७) केशीमुनि ने फिर प्रश्न किया:—"हे गौतम! वह घोड़ा कौनसा है ? यह कृपा कर मुक्ते कहो।" यह सुनकर गौतम-ऋषि ने केशीमुनि को उत्तर दिया:—
- (५८) मनरूपी घोड़ा बड़ा ही उद्धत, भयंकर, तथा दुष्ट है। वह सांसारिक विषयों में इधरउधर सपाट दौड़ता फिरता है। धर्मशिचा रूपी लगाम से खान्दानी घोड़े की तरह इसका बरावर निप्रह करता हूँ।
- (५९) हे गौतम ! तुम्हारी वुद्धि उत्तम है। तुमने मेरा संशय दूर कर दिया। अब दूसरा एक अश्न पूंछता हूँ उसका भी आप समाधान करो।
- (६०) हे गौतम ! इस संसार में कुमार्ग बहुत हैं जिन पर जाने से दृष्टिविपर्यास (दृष्टिफेर होने) के कारण जीव सच्चे मार्ग को पहिचान नहीं पात और इसीलिये कुमार्ग में जाकर वहुत दु:बी होते हैं। तो हे गौतम ! आप कुरस्ते न जाकर सुमार्ग पर कैसे दृढ़ रहते हो ?
  - ६१) (गौतम ने उत्तर दिया कि हे महामुने!) मैंने कुमार्ग श्रीर सुमार्ग पर जाने वाले सभी जीवों को जान लिया है (श्रश्रीत कुमार्गी तथा सुमार्गी जीव के श्राचरण का मैंने खूव विश्लेषण कर लिया है इसीलिये सुमें कुमार्ग तथा सुमार्ग का ध्यान हमेशा रहता है।) श्रीर इसी कारण मैं

राजित परिवास स्वापाल स्वापाल हो। गुमराह अथवा

- (६२) केशीमुनि ने फिर प्रश्न किया:—''हे गौतम ! वह मार्ग कौनसा है ?" यह प्रश्न सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह उत्तर दिया—
- (६३) स्वकल्पित मतों में जो स्वच्छन्द-पूर्वक त्राचरण करता है वे सव पाखरखी हैं। वे सव कुमार्ग पर भ्रमण कर रहे हैं श्रोर वे श्रम्त तक भवसमुद्र में गोते खाते रहेंगे। संसार के वन्थनों से सर्वथा मुक्त हुए जिनेश्वरों ने सत्य का जो मार्ग वताया है वही उत्तम है।
- (६४) हे गौतम ! तुम्हारी वुद्धि वहुत उत्तम है। मेरे संशय को तुमने दूर कर दिया। मुक्ते एक दूसरी शंका है, कृपा कर उसका भी निरसन (समाधान) करो।
- (६५) जल के महाप्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को उस दुःख से बचानेवाला शरणस्प कौन है ? वह स्थान कौनसा है ? उस गित का नाम क्या है ? श्रोर श्राधार-स्नरूप वह द्वीप कौनसा है ?
- (६६) श्रौर हे गौतम ! उस जल के महाप्रवाह में भी एक महाविस्तीर्ण द्वीप है जहां पानी के उस महाप्रवाह का त्राना जाना नहीं होता ।
- (६७) केशोमुनि ने गौतम से पूँछाः—हे मुने ! उस द्वीप का नाम क्या है सो कहो । यह सुनकर गौतम ने यह उत्त दियाः—
- (६८) जरा ( बुढ़ापा ) तथा मुरुण्ह्मी जल के पता लगे इम संसार के स्नाम विष के समान जहरील फल लगे

स्थानकप, त्रथवा गतिकप या आधारकप द्वीप जो कुछ भी कहो वह केवल एक धर्म ही है।

- (६९) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है। तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया। अब मै तुम से दूसरा एक प्रश्न पूंछना चाहता हूँ, उसका आप समाधान करो।
- (७०) एक महाप्रवाहवान समुद्र में एक नाव चारों तरक घूमती फिरती हैं। हे गौतम ! त्राप उस नाव पर वैठे हो, तो तुम पर कैसे उतरोगे ?
  - (७१) जिस नाव में छेद है वह पार न जाकर बीचही में डूब जाती है श्रीर उसमें वैठनेवालों को भी डुबा देती है। विना छेद की नाव ही पार पहुँचाती है।
  - (७२) 'हे गौतम ! वह नाव कौनसी है ?' केशीमुनि के इस प्रश्न को सुनकर गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया:—
  - (७३) शरीररूपी नाव है, संसाररूपी समुद्र है और जीवरूपी नाविक (महाह) है। उस संसाररूपी समुद्र को शरीर द्वारा महर्षि पुरुष ही तर जाते हैं।
  - टिप्पाि—शरीर यह नाव है इसलिये इसमें कहीं से भी छेट न हो भि जाय, अथवा यह टूटफूट न जाय-इसकी संभाल लेना तथा संयम-पूर्वक बेठे हुए नाविक (आत्मा) को पार उतारना यह महर्पि पुरुषों का कर्तन्य है।
  - िए) (केशीमुनि ने कहा:-) हे गौतम ! तुम्हारी वृद्धि उत्तम है।

- (६२) केशीमुनि ने फिर प्रश्न किया:—"हे गौतम ! वह मार्ग कौनसा है ?" यह प्रश्न सुनकर गौतम ने केशीमुनि को यह उत्तर दिया—
- (६३) स्वकल्पित मतों में जो स्वच्छन्द-पूर्वक आचरण करता है वे सव पाखण्डी हैं। वे सव कुमार्ग पर अमण कर रहे हैं श्रोर वे अन्त तक भवसमुद्र में गोते खाते रहेगे। संसार के वन्थनों से सर्वथा मुक्त हुए जिनेश्वरों ने सत्य का जो मार्ग वताया है वहीं उत्तम है।
- (६४) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि वहुत उत्तम है। मेरे संशय को तुमने दूर कर दिया। मुमे एक दूसरी शंका है, कृषा कर उसका भी निरसन (समाधान) करो।
- (६५) जल के महाप्रवाह में डूवते हुए प्राणियों को उस दुःख से वचानेवाला शरणरूप कौन है ? वह स्थान कौनसा है ? उस गति का नाम क्या है ? श्रीर श्राधार-स्तरूप वह द्वीप कौनसा है ?
- (६६) श्रौर हे गौतम ! एस जल के महाप्रवाह में भी एन महाविस्तीर्ण द्वीप है जहां पानी के उस महाप्रवाह का श्राना जाना नहीं होता ।
- (६७) केशोमुनि ने गौतम से पूँछा:—हे मुने ! उस द्वीप का नाम क्या है सो कहो । यह सुनकर गौतम ने यह उत्त दिया:—
- (६८) जरा ( बुड़ापा ) तथा मर्ग्यहर्षी जल के कल लेंगे इम ससार के स्टूल में विप के समान जहरील फल लेंगे

स्थानरूप, श्रथवा गतिरूप या आधाररूप द्वीप जो कुछ

- (६९) हे गौतम ! तुन्हारी बुद्धि सुन्दर है । तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया । अब मै तुम से दूसरा एक प्रश्न पूंछना चाहता हूँ, उसका आप समाधान करो ।
- (७०) एक महाप्रवाहवान समुद्र में एक नाव चारों तरक घूमती फिरती है। हे गौतम ! त्राप उस नाव पर बैठे हो, तो तुम पार कैसे उतरोगे ?
- (७१) जिस नाव में छेद है वह पार न जाकर बीचही में डूब जाती है और उसमे बैठनेवालों को भी डुबा देती है। विना छेद की नाव ही पार पहुंचाती है।
- (७२) 'हे गौतम ! वह नाव कौनसी है ?' केशीमुनि के इस प्रश्न को सुनकर गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया:—
- (७३) शरीररूपी नाव है, संसाररूपी समुद्र है और जीवरूपी नाविक (महाह) है। उस संसाररूपी समुद्र को शरीर है। द्वारा महर्षि पुरुष ही तर जाते हैं। दिप्पारी—शरीर यह नाव है इसलिये इसमें कहीं से भी छेद न हो
  - पुष्पाति—शरीर यह नाव है इसिलये इसमें कहीं से भी छेद न हो जाय, अथवा यह टूटफूट न जाय-इसकी संभाल छेना तथा संयम-पूर्वक बैठे हुए नाविक (आत्मा) को पार उतारना यह महर्षि पुरुषों का कर्तन्य है।
  - िश) (केशीमुनि ने कहा:-) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है।

- (७५) इस समय लोक में फैले हुए घोर ऋंघकार में बहुत से प्राणी रुँघे पड़े हैं। इन सब प्राणियों को प्रकाश कीन देगा ?
- (७६) (गौतम ने उत्तर दिया:—) समस्त लोक में प्रकाश देनेवाला जो सूर्य प्रकाशित होरहा है वही इस लोक के समस्त जीवों को प्रकाश देगा।
- (७७) गौतम के इस उत्तर को सुनकर केशीमुनि ने फिर पृंछा:—"हे गौतम ! वह सूर्य श्राप किसको कहते हो ?" गौतम ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया:—
- (७८) संसार के समस्त गाढ़ श्रंधकार का नारा कर श्रनन्त ज्यातियों से प्रकाशमान सर्वेज्ञरूपी सूर्य ही इस समस्त लोक के प्राणियों को प्रकाश देगा।
- टिप्पणी—जिन प्रवल आत्माओं का अज्ञान अंधकार नष्ट होगया है, और जो सांसारिक सभी वंधनों से सर्वथा मुक्त हुए हैं ऐसे महा-पुरुष ही अपने अनुभव का मार्ग जगत् को बताकर उसे सब दुःखीं से खुड़ा सकते हैं।
- (७९) केशीमुनि ने कहा:—हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है । तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया । अब मेरे एक दूसरे प्रश्न का आप सामाधान करो । वह प्रश्न इस प्रकार है:—
- (८०) हे मुने ! सांसारिक जीव शारीरिक तथा मानसिक दुःख रें पीड़ित हो रहे हैं । उनके लिये कल्याणकारी, निर्भय, नि पद्रव तथा पीड़ारहित जीनसा स्थान सहिराल फल लग जानते हो । न में विष के समान सहिराल फल लग

- (८१) (गौतम ने उत्तर दिया:—हे मुने !) हां, जानता हूं किन्तु वहां जाना बहुत २ कठिन है। लोक के अंतिम भाग पर सुन्दर एवं निश्चल एक ऐसा स्थान है जहां जरा, मरण, व्याधि, वेदना आदि एक भी दुःख नहीं है।
- (८२) यह सुनकर फिर केशीमुनि ने प्रश्न कियाः—"हे गौतम ! उस स्थान का नाम क्या है ? क्या श्राप उस स्थान को जानते हो ?"! गौतम ने इसका उत्तर इस प्रकार दियाः—
- (८३) जरा-मरण की पीड़ा से रिहत, परम कल्याणकारी श्रीर लोकाग्रस्थित उस स्थान का नाम सिद्धस्थान या निर्वाण-स्थान है। वहा केवल महर्षि ही जा सकते हैं।
- (८४) हे सुने ! वह स्थान लोक के अप्र भाग में स्थित है किन्तु उसकी प्राप्ति अत्यंत कठिनता से होती है। वह निश्चल तथा परम सुखद स्थान है। संसारक्ष्पी समुद्र का अंत पाने की शक्तिधारी महात्मा ही वहां पहुंच पाते हैं। वहां पहुंचने के बाद क्लेश, शोक, जन्म, जरा आदि दुःख कभी भी नहीं होते और वहां पहुंचने पर पुनः कभी संसार में नहीं आना पड़ता।
- (८५) हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि सुन्दर है । तुमने मेरे सभी प्रश्नों का बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है । हे संशयातीत ! हे सर्व सिद्धांत के पारगामी गौतम ! तुमको नमस्कार हो ।
- (८६) प्रवल पुरुषार्थी केशीमुनीश्वर ने इस प्रकार (शिष्यों) के संदेहों का समाधान होने पर महायशस्त्री गौतम मुनिराज

- (७५) इस समप्र लोक में फैले हुए घोर श्रंधकार में बहुत से प्राणी केंथे पड़े हैं । इन सब प्राणियों को प्रकाश कौन देगा ?
- (७६) (गौतम ने उत्तर दिया:—) समस्त लोक में प्रकाश देनेवाला जो सूर्य प्रकाशित होरहा है वही इस लोक के समस्त जीवों को प्रकाश देगा।
- (७७) गौतम के इस उत्तर को सुनकर केशीमुनि ने फिर पृंछा:—"हे गौतम ! वह सूर्य श्राप किसको कहते हो ?" गौतम ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया:—
- (७८) संसार के समस्त गाढ़ श्रंथकार का नाश कर श्रनन्त व्योतियों से प्रकाशमान सर्वज्ञरूपी सूर्य ही इस समस्त लोक के प्राणियों को प्रकाश देगा।
- टिप्पणी—ितन प्रवल आत्माओं का अज्ञान अंधकार नष्ट होगया है. अंगेर जो सांसारिक सभी वंधनों से सर्वथा मुक्त हुए हें ऐसे महा-पुरुप ही अपने अनुभव का मार्ग जगत् को वताकर टसे सब दुःखें। से खुड़ा सकते हैं।
- (७९) केशीमुनि ने कहा:—हे गौतम ! तुम्हारी बुद्धि उत्तम है । तुमने मेरा संदेह दूर कर दिया । अब मेरे एक दूसरे प्रश्न का आप सामाधान करो । वह प्रश्न इस प्रकार है:—
- (८०) हे मुने ! सांसारिक जीव शारीरिक तथा मानसिक दु:ख ने पीड़ित हो रहे हैं । उनके लिये कल्याणकारी, निर्भय, नि पद्रव तथा पीड़ारहित की नसा स्थान के हिराल फल लगा जानते हो । में विष के समान कि शि

- (८१) (गौतम ने उत्तर दिया:—हे मुने ।) हां, जानता हूं किन्तु वहां जाना बहुत २ कठिन है। लोक के अंतिम भाग पर सुन्दर एवं निश्चल एक ऐसा स्थान है जहां जरा, मरण, व्याधि, वेदना आदि एक भी दुःख नहीं है।
  - (८२) यह सुनकर फिर केशीमुनि ने प्रश्न कियाः—"हे गौतम! उस स्थान का नाम क्या है ? क्या आप उस स्थान को जानते हो ?"! गौतम ने इसका उत्तर इस प्रकार दियाः—
    - (८३) जरा-मरण को पीड़ा से रिहत, परम कल्याणकारी ऋौर लोकामस्थित उस स्थान का नाम सिद्धस्थान या निर्वाण-स्थान है। वहा केवल महर्षि ही जा सकते हैं।
    - (८४) हे सुने ! वह स्थान लोक के श्रम भाग में स्थित है किन्तु जसकी प्राप्ति श्रत्यंत कठिनता से होती है। वह निश्चल तथा परम सुखद स्थान है। संसारक्ष्मी समुद्र का अंत पाने की शक्तिधारी महात्मा ही वहां पहुंच पाते हैं। वहां पहुंचने के बाद क्लेश, शोक, जन्म, जरा श्रादि दु:ख कभी भी नहीं होते श्रीर वहां पहुंचने पर पुन: कभी संसार में नहीं श्राना पड़ता।
      - (८५) हे गौतम ! तुन्हारी बुद्धि सुन्दर है । तुमने मेरे सभी प्रश्नों का बड़ा ही सुन्दर समाधान किया है । हे संशयातीत ! हे सर्व सिद्धांत के पारगाभी गौतम ! तुमको नमस्कार हो । (८६) प्रवल पुरुषार्थी केशीमुनीश्वर ने इस प्रकार (शिष्यों) के संदेहों का समाधान होने पर महायशस्त्री गौतम मुनिराज

- (८७) उसी स्थान पर (भगवान महावीर के). पंच महात्रतरूपी धर्म को भावपूर्वक स्वीकार किया और उस सुखमार्ग में गमन किया कि जिस मार्ग की प्ररूपणा प्रथम तथा श्रंतिम तीर्थं कर भगवानों ने की थी।
- (८८) वाद में भी, जब तक श्रावस्तीनगरों में ये दोनों समुदाय रहे तब तक केशी तथा गौतम का समागम नित्यप्रति होता रहा श्रोर शास्त्रहान्ट से किया हुआ शिजाबतादि का निर्णय उनके ज्ञान एवं चारित्र इन दोनों श्रंगों में वृद्धि-कर हुआ।
- टिप्पण्णि—केशी तथा गौतम इन दोनों गण के शिष्यों को वह शाखार्थ तथा वह समागम बहुत लाभदायक हुआ क्योंकि शाखार्थ करने में उन दोनों की उदार दृष्टि थी। दोनों में से किसी एक को भी करायह न था और इसीलिये शाखार्थ भी सत्यसाधक हुआ। करा- यह होता तो शाख के वहाने से बहुत कुछ अनर्थ हो जाने की संभावना थी किन्तु सच्चे ज्ञानी सदेव कदाग्रह से दूर रहते हैं और सत्य वस्तु को, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, स्वीकार किये विना नहीं रह सहते।
- (८९) (इस शास्त्रार्थ से) समस्त परिषद को अत्यंत सन्तोष हुआ। सत्रों को सत्यमार्ग की मांकी हुई। ओताओं को भी सच्चे मार्ग का ज्ञान हुआ और वे सब इन दोनों महपियों कीस्तुति प्रार्थना करने लगे। "केशीमुनि तथा गौतम ऋषि सदा जयवंत रहो" ऐसे अस्त्री के स्वार्थ सब देव, दानव की विष के समान

टिप्पणी—निश्चयधर्म अर्थात् इस काल में, इस समय में, और इस परिस्थिति में शासन की उन्नित कैसे हो—इस बात का हृदयतल-स्पर्शी विचारणापूर्वक लक्ष्य नियत करना-यह अबाधित सत्य है। इसमें परिर्वतन नहीं हो सकता, किन्तु उन्नित कैसे करनी चाहिये। उसके लिये कौन २ से साधनों का उपयोग करना चाहिये आदि सभी वातों का निर्णय समयधर्म के हाथ में है। उनमें परिर्वतन होना संभव है।

समय धर्म की पुकार सब किसी के लिये हैं। समाज संस्था समय धर्म से बहुत अधिक संबंधित है। श्रमणवर्ग तथा श्रावक वर्ग ये दोनों समाज के अंग हैं। कोई भी अग उस तरफ उपेक्षा भाव न रखकर शास्त्रोक्त सत्य को पिहचान कर खूब प्रयत्न करे और सुक्यस्थित रह कर जैनशासन की उन्नति करे यही अभीष्ट है।

ऐसा मैं कहता हूँ --

इस तरह 'केशिगौतमीय' नामक २३वां ऋध्ययन समाप्त हुआ।



- (८७) उसी स्थान पर (भगवान महावीर के) पंच महात्रतरूपी धर्म को भावपूर्वक स्वीकार किया श्रीर उस सुखमार्ग में गमन किया कि जिस मार्ग की प्ररूपणा प्रथम तथा श्रीतम तीर्थं कर भगवानों ने की थी।
  - (८८) वाद में भी, जब तक श्रावस्तीनगरी में ये दोनों समुदाय रहे तब तक केशी तथा गौतम का समागम नित्यप्रति होता रहा खौर शास्त्रहिष्ट से किया हुआ शिचाब्रतादि का निर्णय उनके ज्ञान एवं चारित्र इन दोनों खंगो में वृद्धि- कर हुआ।
  - टिप्पण्णि—केशी तथा गौतमं इन दोनों गण के शिष्यों को वह शाखार्थ तथा वह समागम बहुत लामदायक हुआ क्योंकि शाखार्थ करने में उन दोनों की उदार दृष्टि थी। दोनों में से किसी एक को भी कदाग्रह न था और इसीलिये शाखार्थ भी सत्यसाधक हुआ। कदाग्रह होता तो शास्त्र के वहाने से बहुत कुछ अनर्थ हो जाने की संमावना थी किन्तु सच्चे ज्ञानी सदैव कदाग्रह से दूर रहते हैं और सत्य वस्तु को, चाहे कुछ भी क्यों नं हो जाय, स्वीकार किये विना नहीं रह सकते।
  - (८९) (इस शास्त्रार्थ से) समस्त परिवद को अत्यंत सन्तोष हुआ। सवों को सत्यमार्ग की मांकी हुई। श्रोताओं को भी सच्चे मार्ग का ज्ञान हुआ और वे सव इन दोनों मह- वियों की स्तुति प्रार्थना करने लगे। "केशीमुनि तथा गौतम ऋषि सदा जयवंत रहो" ऐसे अस्त्रीहि फल लेग सव देव, दानव कि समान

टिप्पणी—निश्चयधर्म अर्थात् इस काल में, इस समय में, और इस परिस्थिति में शासन की उन्नति कैसे हो—इस बात का हृदयतल-स्पर्शी विचारणापूर्वक लक्ष्य नियत करना-यह अबाधित सत्य है। इसमें परिर्वतन नहीं हो सकता, किन्तु उन्नति कैसे करनी चाहिये। उसके लिये कौन २ से साधनों का उपयोग करना चाहिये आदि सभी वातों का निर्णय समयधर्म के हाथ में है। उनमें परिर्वतन होना संभव है।

समय धर्म की पुकार सब किसी के लिये हैं। समाज संस्था समय धर्म से बहुत अधिक संबंधित है। श्रमणवर्ग तथा श्रावक वर्ग ये दोनों समाज के अंग हैं। कोई भी अग उस तरफ उपेक्षा भाव न रखकर शास्त्रोक्त सत्य को पहिचान कर खूब प्रयत्न करे और सुज्यस्थित रह कर जैनशासन की उन्नति करे यही अभीष्ट है।

ऐसा में कहता हूं —

इस तरह 'केशिगौतमीय' नामक २३वां अध्ययन समाप्त हुआ।



- (८७) उसी स्थान पर ( मगवान महावीर के ). पंच महाव्रतरूपी धर्म को भावपूर्वक स्त्रीकार किया श्रीर उस सुखमार्ग में गमन किया कि जिस मार्ग की प्ररूपणा प्रथम तथा श्रीतम तीर्थं कर भगवानों ने की थी।
- (८८) वाद में भी, जब तक श्रावस्तीनगरी में ये दोनों समुदाय रहे तब तक केशी तथा गौतम का समागम नित्यप्रति होता रहा और शास्त्रहिष्ट से किया हुन्ना शिचान्नतादि का निर्णय उनके ज्ञान एवं चारित्र इन दोनों अंगों में युद्धि-कर हुन्ना।
- टिप्पणी—केशी तथा गौतम इन दोनों गण के शिष्यों को वह श तथा वह समागम बहुत लामदायक हुआ क्योंकि शास्त्रार्थ हैं उन दोनों की उदार दृष्टि थी। दोनों में से किसी एक कदाग्रह न था और इसीलिये शास्त्रार्थ भी सत्यसाधक हुआ। प्रह होता तो शास्त्र के वहाने से बहुत कुछ अनर्थ हो जा संभावना थी किन्तु सच्चे ज्ञानी सदैव कदाग्रह से दृर रहते हैं सत्य वस्तु को, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, स्वीकार किये दिन नहीं रह सकते।
- (८९) (इस शास्त्रार्थ से.) समस्त परिपद को अत्यंत सन्तो हुन्ना। सवों को सत्यमार्ग की मांकी हुई। श्रोताओं के भी सच्चे मार्ग का ज्ञान हुआ और वे सब इन दोनो महिं पियों की स्तुति शार्थना करने लगे। "केशी मुनि तथीं गोतम ऋपि सदा जयवंत रहो" ऐसे अस्ति कि जिला ति गार्थि सब देव, दानव की विष के समीन

- टिप्पणि—जिस तरह माता अपने पुत्र पर अत्यन्त प्रेम रखती है, उसका कृत्याण करती है वैसे ही ये आठ गुण साधु जीवन के कल्याणकारी होने से जिनेश्वरों ने उनको 'मुनि की माताओं' की उपमा दी है।
- (२) ईर्या, भाषा, एवणा, आदानभंडिनचेपण, तथा उचारादि प्रतिष्ठापन ये पांच समितियां तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं।
- टिप्पाणि—(१) ईर्याः—मार्गं में बरावर उपयोगपूर्वं हे देखकर चलना !

  (२) भाषाः—विचारपूर्वं सत्य, निर्दोष तथा उपयोगी वचन बोलना । (३) एपणाः—निर्दोष तथा परिमित भिक्षा तथा भल्प वस्तादि उपकरण प्रहण करना । (४) भादानमंडिनक्षेपणः—वस्त्र, पात्रादि उपकरण (संयमी जीवन के उपयोगी साधन ) उपयोग-पूर्वं उठाना तथा रखना । (५) उचारादिप्रतिष्ठापन :—मल्मूत्र बलाम भादि कोई भी त्याज्य वस्तु किसी को दुःख न पहुँचे ऐमे प्कान्त स्थान में निक्षेपण करना ।
  - (१) मनोगुप्तिः—दुष्ट चिन्तन में को हुए मनको वहाँ से हठा कर अच्छे उपयोग में लगाना। (२) वचनगुप्तिः—वचन का अशुभ व्यापार न करना। (३) कायगुप्तिः—कुमार्ग में जाते हुए शरीर को रांक कर सुमार्ग पर लगाना।
  - (३) जिन इन आठ प्रवचन माताओं का संदोप से ऊपर वर्णन किया है उनमें जिनेश्वर कथित १२ अंगो का समावेश हो जाता है। (सब प्रवचन इन, माताओं में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं)
- ्रिट्पग्री—बारह अंगों (अंगभूत शास्त्रों) के प्रवचन उच्च आचार के ग्रोस्क् हैं, हैं हैं दें हैं जिस्सार ग्राण यदि वराबर किया में आवें तो ही ताया साध्य ही जब हाथ में:

# समितियां

#### २४

यम, त्याग, और तप—ये तीनों मुक्ति के क्रियात्मक साधन है। भववंधनों से मुक्त करने में केवल ये तीन ही उपाय समर्थ हैं—अन्य कोई नहीं। मुक्तिप्राप्ति के लिये तो हम सभी उम्मेदवार है। यावन्मात्र प्राणियों को मोक्तमार्ग में जाने का अधिकार है मात्र उसपर चलने की तैयारी होनी चाहिये।

इस श्रव्ययन में मुनिवरों के संयमी जीवन को पुष्ट करने वाली माताश्रों का वर्णन किया गया है फिर भी उनका श्रव-लम्बन तो सभी मुमुज्जुश्रों के लिए एक सरीखा उपकारी है। सब कोई श्रपना चेत्र, काल, भाव तथा सामर्थ्य देखकर उनका विवेकपूर्वक उपयोग कर सकते हैं।

## भगवान वोले-

(१) जिनेश्वर देवों ने जिन पांच समितियों श्रीर तीन गुप्तियों का वर्णन किया है इन ८ प्रवचनों कोह, माता की उपस्ति दी है।

टिप्पणि—जिस तरह माता अपने पुत्र पर अत्यन्त प्रेम रखती है, उसका कल्याण करती है वैसे ही ये आठ गुण साधु जीवन के कल्याणकारी होने से जिनेश्वरों ने उनको 'मुनि की माताओं' की उपमा दी है।

(२) ईर्या, भाषा, एषणा, आदानभंडिनचेपण, तथा उचारादि प्रतिष्ठापन ये पांच समितियां तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां हैं।

टिप्पाणि—(१) ईयाः—मार्गं में बराबर उपयोगपूर्वं देखकर चलना ।
(२) भापाः—विचारपूर्वं सस्य, निर्दोष तथा उपयोगी वचन बोलना। (३) पूपणाः—निर्दोष तथा परिमित भिक्षा तथा अल्प वस्रादि उपकरण प्रहण करना। (४) आदानभंडनिक्षेपणः—वस्र, पात्रादि उपकरण (संयमी जीवन के उपयोगी साधन) उपयोग-पूर्वं उठाना तथा रखना। (५) उच्चारादिप्रतिष्ठापनः—मलमूत्र बलाम आदि कोई भी त्याज्य वस्तु किसी को दुःख न पहुँचे ऐसे एकान्त स्थान में निक्षेपण करना।

(१) मनोगुप्तिः—दुष्ट चिन्तन में लगे हुए मनको वहाँ से हठा कर अच्छे उपयोग में लगाना। (२) वचनगुप्तिः—वचन का अशुभ च्यापार न करना। (३) कायगुप्तिः—कुमार्ग में जाते हुए शरीर को रोक कर सुमार्ग पर लगाना।

(३) जिन इन आठ प्रवचन माताओं का संत्रेप से ऊपर वर्णन किया है उनमें जिनेश्वर कथित १२ अंगों का समावेश हो जाता है। (सब प्रवचन इन, माताओं में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं)

्टिप्पणी—वारह अंगों (अंगभृत शास्त्रों) के प्रवचन उच्च आचार के ग्रोहक हैं हैं हैं प्रियान गण यदि वरावर किया में आवें तो ही ती दे के ब्रोहक हैं हैं हैं हैं कि प्राप्त की जा हाथ में आगया तो साधन तो सरक ही समझना चाहिये। जो ज्ञान आच-रण में परिणित होता है वही सफल है।

## ईर्यासमिति स्त्रादि की स्पष्टता

- (४) (१) त्रालंबन, (२) काल, (३) मार्ग त्रौर (४) उपभोग—इन चार कारणों से परिशुद्धि हुई ईर्यासमिति से साधु को गमन करना चाहिये।
- (५) ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र ये तीन सायन ईर्यासमिति के अवलंबन हैं। दिवस यह ईर्या का काल है। (रात्रि को ईर्यो छुद्ध न होने से संयमीको अपने स्थान से वाहर निकलने की मनाई है)। टेडेमेडे मार्ग से न जाकर सीधे सरल मार्ग से जाना—यह ईर्यासमिति का मार्ग है (कुमार्ग में जानेसे संयम की विराधना होजाने की संभावना है।)
- ·(६) ईर्योसमिति का चौथा कारण उपयोग है। उस उपयोग के भी ४ भेद हैं उन्हें में विस्तारपूर्वक यहां कहता हूं सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो।
- (७) दृष्टि से उपयोगपूर्वक देखना इसे 'द्रव्य उपयोग' कहते हैं; मार्ग में चलते हुए चार हाथ प्रमाण श्रागे देखकर चलना इसको 'चेत्र उपयोग'; जबतक दिन रहे तभी तक चलना इसको 'काल उपयोग' श्रीर चलते समय श्रपना उपयोग (ज्ञान व्यापार) ठीक २ रखना इसको 'भाव उपयोग' कहते हैं।
- टिप्पणी—चलने में कोई स्थम जीव भी पग तले आकर कुचल न जाय अथवा दूसरा कुठ नुकसान न हो इसलिये बहुत संभालपूर्वक चलना पढ़ता है। यह ईयांसिसिन् किला प्रमेरी अत्यन्त स्थमता को सिन्द करती है।

- (८) चलते समय पांच इन्द्रियों के विषयो तथा पांच प्रकार के खाध्यायों को छोड़कर मात्र चलने की क्रिया को ही मुख्यता देखकर श्रीर उसीमें ही उपयोग रखकर गमन करना चाहिये।
- टिप्पणी—स्पर्श, रूप, रस, गंध, वण या किसी भी इन्द्रिय के विषय में भन के चले जाने से चलने में यथेष्ट ध्यान नहीं लग पाता और प्रमाद में जीविहेंसा हो जाने की सम्भावना है। इसी तरह चलते चलते वांचना (पढ़ना) अथवा गहरा विचार करने से भी उपरोक्त दोप हो जाने की सम्भावना है। यद्यपि वांचन तथा मनन उत्तम कियाएं हैं किन्तु चलते समय उनको मुख्यता देने से "गमन उपयोग" का भंग होता है। इस उपदेश द्वारा अवान्तर रूप में समयानुसार कार्यनिष्ट होने का उपदेश दिया है और जो समय जिस काम के लिये नियत है उसमें वही करने का विधान किया है। जैनदर्शन बहुत जोरों के साथ यह प्रतिपादन करता है कि प्रमाद हो पाप है और उपयोग यही धर्म है। (उपयोग अर्थात् सावधान रहना)।
  - (९) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, निद्रा, तथा विकथ: ( ऋतुपयोगी कथा-वार्तालोप )—
  - (१०) इन श्राठों दोषों को वुद्धिमान साधक त्याग दे श्रौर उनसे रिहत निर्दोष, परिमित, तथा उपयोगी भाषा हो वोले। (इसे भाषा समिति कहते हैं)—
  - (११) त्राहार, त्रधिकरण (वस्त्र, पात्र, त्रादि साथ में रखने की वस्तुएं त्राह्म्या, (स्थानक, पाट या पाटला) इन तीन्द्रेश्चरहा प्राह्म्या में, प्रहण करने में श्रथवा उप-

- योग करने में संयमधर्म पूर्वक संमाल रखना इसे एपणा समिति कहते हैं।
- (१२) ऊपर की प्रथम गवेषणा ( अर्थात् उद्गमन ) तथा उत्पा-दन (भिन्ना पाप्त करने) में तथा दूसरी प्रह्णौपणा में तथा तीसरी उपयोगैपणा ( उपयोग करने ) में लगनेवाले दोपों से संयमी साधु को उपयोगपूर्वक दूर रहना चाहिये।
- टिप्पणी—दातार गृहस्थ के उद्गमन सम्बन्धी १६ दोप हैं। उसको इन दोपों से रहित मिक्षाका ही दान करना चाहिये। उत्पादन (मिक्षा प्राप्त करने) के १६ दोप साधु के भी हैं और उन दोपों को वचाकर ही साधु को मिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। ग्रहणेपणा के १० दोप हैं वे गृहस्थ तथा मिक्ष दोनों को लागू पढ़ते हैं और उन दोपों से वचना इन दोनों का ही कर्तन्य है। इनके सिवाय ४ दोप मिक्षा भोगन (खाने) के भी हैं, उन दोपों का परिहार कर साधु मोजन करे।
- (१३) श्रौधिक तथा श्रौपप्रहिक इन दोनों प्रकार के उपकरण या पात्र श्रादि संयमी जीवन के उपयोगी साधनों को उठाते श्रौर रखते हुए भिक्ष को इस विधि का वरावर पालन करना चाहिय।
- टिप्पणी—भीविक वस्तुएँ वे हैं जो उपभोग करने के बाद छौटा दी जाती हैं जैसे उपाश्रय का स्थान, पाट,पाटला, खादि तथा औपप्रहिक वस्तुएँ वे हैं जो शास्त्रविधि पूर्वक ग्रहण करने के वाद वापिस नहीं की जाती, जैसे वस्त, पात्र, आदि साधु के उपकरण।
- (१४) अच्छी तरह निगाह से पहिले वस्तु को देखे, फिर उसे , माड़े, उसके वाद ही उसे ले या रक्नो अथवा उपयोग में ले।

- टिप्पणी—छोटा गोच्छा ( छोटा भोघा ) जो संयमी का झाड़ने का साधन माना जाता है उससे सूक्ष्म जीवों को भी विराधना न हो इस प्रकार पात्र आदि को झाड़ने -पोंछने की क्रिया को 'परिमार्जन' क्रिया कहते हैं।
- (१५) मल, मूत्र, थूंक, नाक, शरीर का मैल, अपथ्य आहार, पहिना न जासके ऐसा फटा वस्त्र, किसी साधु का शव (मृत शरीर), अथवा अन्य कोई फेंक देने की अनुप-योगी वस्तुएं हों तो उनको जहां तहां न फेंक (या डाल) कर डचित (जीव रहित एकांत) स्थल में ही छोड़े।
- टिप्पाा-परिहार्य वस्तुएं अस्थान में फेंक देने से गंदगी, रोग, तथा उपद्रव पैदा होते हैं, जीवजन्तुओं की उत्पत्ति और उनकी हिंसा होती है, आदि अनेक दोप होते हैं इसीलिये फेंक देने जैसी गौण किया में भी इतना अधिक उपयोग रखने का उपदेश देकर जैनधमें ने वैज्ञानिक, वैयक, तथा धार्मिक दृष्टियों का सर्वमान्य तथा सुन्दर समन्वय कर दिखाया है।
- (१६) वह स्थान १० विशेषणों से युक्त होना चाहिये जिनमें से प्रथम विशेषण के ये चार भेद कहे हैं:—(१) उस समय वहां कोई भी मनुष्य आता जाता न हो और वहां किसी की दृष्टि भी न पड़ती हो ऐसा स्थान; (२) यद्यपि पास से कोई मनुष्य आता जाता न हो किन्तु दूर से किसी की दृष्टि वहां पड़ सकती हो ऐसा स्थान; (३) यद्यपि मनुष्य पास से निकल जाते हैं किर भी उनकी दृष्टि वहां पर नहीं पड़ सकती ऐसा गुप्त स्थान; (४) जहां लोग आते जाते भेदिहें, और जहां सवकी निगाह भी पड़ती है

Comment of the commen

- योग करने में संयमधर्म पूर्वक संभाल रखना—इसे एपणा समिति कहते हैं।
- (१२) ऊपर की प्रथम गवेषणा ( अर्थात् उद्गमन ) तथा उत्पा-दन (भिन्ना प्राप्त करने) में तथा दूसरी प्रह्णैषणा में तथा तीसरी उपयोगेषणा ( उपयोग करने ) में लगनेवाले दोषों से संयमी साधु को उपयोगपूर्वक दूर रहना चाहिये।
- दिष्पणी—दातार गृहस्थ के उद्गमन सम्बन्धी १६ दोप हैं। उसको इन दोपों से रहित भिक्षाका ही दान करना चाहिये। उत्पादन (भिक्षा प्राप्त करने) के १६ दोप साधु के भी हैं और उन दोपों को वचाकर ही साधु को भिक्षा प्रहण करनी चाहिये। प्रहणपणा के १० दोप हैं वे गृहस्थ तथा भिक्षु दोनों को लागू पढ़ते हैं और उन दोपों से वचना इन दोनों का ही कर्तव्य है। इनके सिवाय ४ दोप भिक्षा भोगन (खाने) के भी हैं, उन दोपों का परिहार कर साधु भोजन करे।
- (१३) श्रौधिक तथा श्रौपप्रहिक इन दोनों प्रकार के उपकरण या पात्र श्रादि संयमी जीवन के उपयोगी साधनों को उठाते श्रौर रखते हुए भिक्ष को इस विधि का वरावर पालन करना चाहिये।
- टिप्पण्णि— औविक वस्तुएँ वे हैं जो उपभोग करने के वाद छौटा दी जाती हैं जैसे उपाश्रय का स्थान, पाट,पाटला, आदि तथा औपप्रहिक वस्तुएँ वे हैं जो शास्त्रविधि पूर्वक ग्रहण करने के वाद वापिस नहीं की जातीं, जैसे वस्त, पात्र, आदि साधु के उपकरण ।
- (१४) अच्छी तरह निगाह से पहिले वस्तु को देखे, फिर उसे , माड़े, उसके वाद ही उसे ले या रक्क्के अथवा उपयोग में लें।

- टिप्पणी—छोटा गोच्छा ( छोटा ओघा ) जो संयभी का झाड़ने का साधन माना जाता है उससे सूक्ष्म जीवों की भी विराधना न हो इस प्रकार पात्र आदि को झाड़ने -पोंछने की किया को 'परिमार्जन' किया कहते हैं।
- (१५) मल, मृत्र, थूंक, नाक, शरीर का मैल, अपध्य आहार, पिहना न जासके ऐसा फटा वस्न, किसी साधु का शव ( मृत शरीर ), अथवा अन्य कोई फेंक देने की अनुप-योगी वस्तुएं हों तो उनको जहां तहां न फेंक ( या डाल ) कर उचित ( जीव रहित एकांत ) स्थल में ही छोड़े।
- टिप्पोगी—परिहार्य वस्तुएं अस्थान में फेंक देने से गंदगी, रोग, तथा उपद्रव पेदा होते हैं, जीवजन्तुओं की उत्पत्ति और उनकी हिंसा होती है, आदि अनेक दोप होते हैं इसीलिये फेंक देने जैसी गौण किया में भी इतना अधिक उपयोग रखने का उपदेश देकर जैनधर्म ने वैज्ञानिक, वैशक, तथा धार्मिक दृष्टियों का सर्वमान्य तथा सुन्दर समन्वय कर दिखाया है।
- (१६) वह स्थान १० विशेषणों से युक्त होना चाहिये जिनमें से प्रथम विशेषण के ये चार भेद कहे हैं:—(१) उस समय वहां कोई भी मनुष्य आता जाता न हो और वहां किसी की दृष्टि भी न पड़ती हो ऐसा स्थान; (२) यद्यपि पास से कोई मनुष्य आता जाता न हो किन्तु दूर से किसी की दृष्टि वहां पड़ सकती हो ऐसा स्थान; (३) यद्यपि मनुष्य पास से निकल जाते हैं फिर भी उनकी दृष्टि वहां पर नहीं पड़ सकती ऐसा गुप्त स्थान; (१) जहां लोग आते जाते भेरे हैं, और जहां सबकी निगाह भी पड़ती है

- (१७) (१) उपरोक्त ४ प्रकार के स्थानों में से केवल प्रथम प्रकार ( अर्थात जहां कोई आता जाता न हो और न किसी की दृष्टि हो पड़ती हो ऐसे गुप्त ) के स्थान में हो वैसी किया करें। (२) उस स्थान का दूसरा विशेषण यह है कि वैसे एकान्त स्थान का उपयोग करने से किसी की हानि या किसी को दु:ख न पहुँचे ऐसा निरापद होना चाहिये। (३) वह स्थान सम ( ऊँचा नीचा न ) हो।
  - (१८) (४) वह स्थान घास पत्तों से रहित हो; (५) वह स्थान श्रिचित्त (चींटो, कुन्थु श्रादि जीवों से रहित ) हो; (६) वह स्थान एकदम तंग न हो किन्तु चौड़ा हो; (७) उसके नीचे भी श्रिचित्त भूमि हो, (८) अपने निवास स्थान से श्रत्यन्त पास न हो किन्तु दूर हो, (९) जहां पर चूहे श्रादि जमीन के श्रन्दर रहने वाले जन्तुओं के विल (श्रिट्र) न हो, (१०) जहां प्राणी श्रथवा वीज न फैले हों—उपर्युक्त १० विरोषणों से सहित स्थान में ही मलमूत्र त्यागने की क्रिया करे।
    - (१९) ( भगवान सुवर्मस्त्रामी ने जंतृस्त्रामी से कहा:—)हे जम्तृ! पांच सभितियों का स्वरूप यहां अति संक्षेप में उपर कहा है। अब तीन गुप्तियों का क्रम से वर्णन करता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुनो।

टिप्पणी—सिमितियों का सविस्तरवर्णन आचारांगादि सूत्रों में किया है, जिजास बहां देख छेवें।

(२०) मनोगुष्ति के चार भेद हैं:-(१) हैं ानोगुष्ति,

- (२) असत्य मनोगुति, (३) सत्यमुषा (मिश्र) मनोगुप्ति, और (४) असत्याऽमृषा (व्यवहार) मनोगुप्ति ।

  टिप्पणी—जहां सत्य की तरफ ही मन का वेग रहता है उसे सत्य मनोगुप्ति, जहां असत्य वस्तु की नरफ मन का झुकाव हो उसे असत्य
  मनोगुप्ति, कभी सत्य और कभी असत्य की तरफ मन के झुकाव
  को अथवा जहां सत्य में थोड़ा असत्य भी मिला हो और उसे सत्य
  मानकर चिन्तवन करना उसे मिश्र मनोगुप्ति, तथा संसार के
  झुभाञुभ व्यवहार में हो चित्त का लगा रहना उसे व्यवहार
  मनोगुप्ति कहते हैं।
- (२१) संरंभ, समारंभ, श्रौर श्रारंभ इन वीनों किया में जाते हुए मन को रोक कर शुद्ध किया में ही प्रवृत्ति करना यह मनोगुष्ति है इसिलये संयमी पुरुष को वैसी दूषित कियाश्रों में जाते हुए मन को रोक कर मनोगुष्ति की साधना करनी ही जिनत है।
- दिण्यगी—संरंभ, समारंभ और भारम्भ ये तीनों हिंसक कियाएं हैं।
  प्रमादी जीवात्मा हिंसादि कार्य करने का जो संकल्प करता है उसे
  संरंभ कहते हैं और उस संकल्प की पूर्ति के लिये साधन सामान
  इकट्ठा करना या जुटाना उसे समारंभ कहते हैं और बाद में उन
  सब के द्वारा कोई काम करना उसे आरंभ कहते हैं। कार्य का
  विचार करने से लेकर उनको पूर्ण करने तक ये तीनों अवस्थायें
  क्रमनाः होती हैं।
- (२२) वचनगुष्ति भी इन्हीं चार प्रकार की है:—(१) सत्य वचन गुप्ति, (२) श्रासत्य वचन गुप्ति, (३) सत्यमृपा (मिश्र) वचन गुष्ति, श्रीर (४) श्रासत्याऽमृपा (व्यव-हार्र्) बच्चन गष्ति।

- (२३) संयमी को चाहिये कि वह ऐसे बचन न वोले जिससे संरंभ, समारंभ, आरंभ में से एक भी किया हो। वह उपयोगपूर्वक ऐसे वचनों से वचे।
- (२४) (सुधर्मास्वामी ने जंबूस्वामी से कहा:—हे जम्बू! संज्ञेप में वचनगुष्ति का लच्चण मैंने कहा है) श्रव मैं काय-गुष्ति का लच्चण कहता हूँ सो ध्यानपूर्वक सुनो:—काय-गुष्ति के ५ प्रकार हैं:—(१) खड़े होने में, (२) बैटने में, (३) लेटने में, (४) नाली श्रादि को लांघने में, तथा (५) पांचों इन्द्रियों की प्रवृत्तियों (ज्यापारों) में—
- (२५) यदि संरंभ, समारंभ, श्रथवा श्रारंभ में से कोई भी किया संपन्न हो जाती हो तो संयमी को उचित है कि वह श्रपनी काया को उपयोगपूर्वक रोक रक्खे श्रोर वह काम न करे—इसे 'कायगुष्त' कहते हैं।
- टिप्पणी—मन, वचन और काय की केवल आत्मलक्षी प्रवृत्ति ही हो और उसका वाह्य व्यवहार में भी स्मरण रहे तथा पाप कमों से मन, वचन, काय की प्रवृत्तियां कक जांय—ऐसी जब आत्मा की स्थिति हो जाय तभी मनोगुप्ति, वचनगुष्ति तथा कायगुष्ति की सिद्धि हुई, ऐसा मानना चाहिये।
- (२६) उपरोक्त पांच सिमितियां च।रित्र (संयमी जीवन ) विषयक प्रवृत्तियों में श्रिति उपयोगी है श्रीर तीनों गुप्तियां श्रिशुभ व्यापारों से सर्वथा निवृत्त होने में उपयोगी हैं।
- (२७) इस प्रकार इन आठों प्रवचन माताओं को सच्चे हृद्य से समम्त कर उनकी जो कोई उपासना करेगा वह बुद्धि-मान साथक मुनि शोब ही इस संसार के वंधनों से मुक्त हो जायगा।

टिप्पणी—नवीन आनेवाले कर्मों के प्रवाह से दूर रहना और पूर्व संचित कर्मों का नाश करना—इन दोनों कियाओं का नाम ही संयम है। ऐसे संयम के लिये ही ल्यागी जीवन की रचना की गई है और उसी दृष्टि से ल्याग की उत्तमता का वर्णन किया गया है।

ऐसी योग्यता प्राप्त करने के लिये सबसे पहले बुद्धि की स्थिरता की आवश्यकता है। बुद्धि को स्थिर बनाने के लिये अभ्यास तथा संयम ये दो ही सर्वोत्तम साधन हैं। यद्यपि ये दोनों शक्तियां अन्तःकरण में अलक्षित रूप में विद्यमान हैं फिर भी उनको जागृत करने के लिये शालों तथा महापुरुपों के सहवास की आवश्यकता है।

यदि आते हुए कर्मों का प्रवाह रोक दिया गया और एवं-संचित कर्मों को भस्म करने की उत्कट अभिलाषा जागृत हो गई तो इसके सिवाय और चाहिये हो क्या ? इतना ही बस है फिर अग्रिम मार्ग तो स्वयमेव समझ में आता जाता है।

## ऐसा में कहता हूँ —

इस प्रकार 'सिमिति' संबन्धी चौवीसवां ऋष्ययन समाप्त हुआ।



# यज्ञीय

#### यज्ञ सम्बन्धी

#### २५

शिरे वेद यज्ञों के निरूपण से भरे पड़े हैं। जैन शास्त्रों का भी यही हाल है। किन्तु संसार में सच्चे यज्ञ को समभनेवाला कोई विरला ही होता है।

वाह्य यश—यह तो द्रव्य यश है। ग्रान्तरिक (भाव) यश ही सच्चा यश है। वाह्य यश कदाचित हिंसक भी हो सकता है किन्तु श्रान्तरिक यश में हिंसा का विप नहीं है, उसमें तो केवल श्रहिंसा का श्रमृत ही लवालव भरा हुश्रा है।

वाह्य यज्ञ से होनेवाली विद्यद्वि तो त्रिणिक श्रीर खंडित है किन्तु श्रान्ति यज्ञ की पवित्रता अखंड तथा नित्य है। सामान्य यज्ञ तो हरकोई कर सकता है, उसके लिये श्रमुक योग्यता अथवा पात्रता श्रावश्यक नहीं है परन्तु सच्चा यज्ञ करने की तो याजक को योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है।

विजयघोप श्रोर जयघोष ये दोनों ब्राह्मण कुल में पैदा हुए. थे। (कोई कोई इतिहासकार उन्हें सगा भाई मानते हैं)। उन दोनों पर ब्राह्मण संस्कृति के गहरे संस्कार पड़े हुए थे। परन्तु संस्कृति दो प्रकार की होती है-एक कुलगत तथा दूसरी आतमगत। कुलगत संस्कृति की द्वाप कई वार भूल में डाल देती है, वास्तविक रहस्य नहीं समक्षने देती और जीवातमा की सत्य से दूर धकेल ले जाने में सहायक होती है किन्तु जिस जीवातमा में आतमगत संस्कृति का बल अधिक होता है वहीं आगे बढ़ती है, वहीं सत्य को प्राप्त होती है और वहां सम्प्रदाय, मत, वाद तथा दर्शन संबंधी कगड़े खड़े रह नहीं सकते।

जयबोष वेदो के धुरन्धर विद्वान थे। वेदमान्य यज्ञ करने का उन्हें व्यसनसा लगा था किन्तु उन यज्ञों द्वारा प्राप्त हुई पवि-त्रंता उन्हें चिएक मालूम पड़ी, यज्ञों के फलस्क्ष्ण जिस स्वर्ग-मुक्ति की प्राप्ति को वर्णन वेद करते हैं वह प्राप्ति उन्हें इन यज्ञों द्वारा अस्वाभाविक, असत्य जैसी मालूम पड़ी। आत्मगत संस्कृति के वल से कुलगत संस्कृति के पटल उड़ गये। तत्क्षण ही उस वीर बाह्मण ने सच्चा ब्राह्मणत्व अंगीकार किया और संच्चे यज्ञ में चित्त देकर सच्ची पवित्रता प्राप्त की।

विजयघोप यश्याला में कुलपरंपरागत यश करने में व्यस्त थे। उसी समय जयघोप याजक वहां थ्रा निकले, मानों पूर्व के प्रवल भ्राणानुवन्ध ही उन्हें वहां खींच लाये थे!

जयघोष का त्याग, जयघोप की तपश्चर्या, जयघोष की साधुता, जयघोप का प्रभाव, तथा जयघोप की पवित्रता आदि सद्गुण देखकर अनेक बाइण आकर्षित हुए और तब उनके द्वारा वे सच्चे यज्ञ का स्वरूप समसे। इन दोनों के वहुत ही शिक्षापूर्ण संवाद से यह अध्ययन अलंकृत हुआ है।

#### भगवान वोले-

(१) पहिले बनारस नगरी में जाह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी

पांच महात्रतरूपी भावयज्ञ करनेवाले जयघोष नाम के एक महायशस्त्री मुनि हो गये हैं।

- (२) पांचों इन्द्रियों के सर्व विषयों का निम्नह करनेवाले श्रीर केवल मोच मार्ग में ही चलनेवाले (मुमुक्षु) ऐसे वे महामुनि गाम गाम विचरते हुए फिर एकवार उसी वना-रस (अपनी जन्मभूमि) नगरी में आये।
- (३) श्रौर उनने वनारस नगरी के वाहर मनोरमं नाम के उद्यान में निर्दोप स्थान शय्यादि की याचना कर निवास किया।
- (४) उसी काल में उसी वनारस नगरी में चारों वेदों का ज्ञाता विजयघोप नामका त्राह्मण यज्ञ कर रहा था।
- (५) उपयुक्त जयघोप मुनि मासखमण की महातपश्चर्या के पारणे के लिये उस विजयघोप त्राह्मण की यज्ञशाला में (उसी समय) भित्तार्थ त्राकर खड़े हुए।
- (६) मुनिश्री को त्राते देखकर वह याजक उनको दूर ही से वहां त्राने से रोकता है त्रीर कहता है:—हे भिक्ष ! में तुमे भिक्षा नहीं दे सकता। कहीं दूसरी जगह जाकर मांग।
- (७) हे मुने ! जो त्राह्मण धर्मशास्त्र के तथा चारों वेदों के पार-गामी, यज्ञार्थी तथा ज्योतिपशास्त्र सिहत छहों श्रंगों के जानकर, श्रौर जितेन्द्रिय हों ऐसे—
- (८) तथा ऋपनी ऋात्मा को और दूसरों की ऋात्मा को ( इस भवसागर से ) पार करने में समर्थ हों ऐसे बाह्यणों को ही यह पह्रस मनोवांछित भोजन देने का है।
- (९) उत्तम ऋर्य की शोध करने वाले वे महामुनि इस प्रकार वहां निपेध किये जाने पर भी न तो खिन्न हो हुए और न

प्रसन्न ही हुए ( अर्थात् उनके भावों में विकार न हुआ )।

- (१०) अन्न, पानी, वस्त्र अथवा अन्य किसी भी पदार्थ की इच्छा से नहीं किन्तु केवल विजयघोष का अज्ञान दूर करने के लिये ही उन मुनीश्वर ने ये वचन कहे:—
- (११) हे विप्र ! तुम वेद के मुख को, यज्ञों के मुख को, नज्ञों के मुख को तथा धर्मों के मुख को जानते ही नहीं हो ।
- टिप्पणी—'मुख' शब्द का भाशय यहाँ 'रहस्य' है। यहां वेद, यज्ञ, नक्षत्र तथा धर्म इन चार का नामनिर्देश करने का कारण यह है कि विजयधोप ने ब्राह्मणों को इन चारों का जानकार होने का दावा किया था।
- (१२) अपनी तथा पर की आत्मा को (इस भवसागर से) पार करने में जो समर्थ हैं उनको भी तुम नहीं जानते। यदि जानते हो तो कहो।

महातपस्वी तथा श्रोजस्वी सुनि के इन प्रभावशाली प्रश्नों को सुनकर ब्राह्मणों का सब समृह निरुत्तर होगया।

- (१३) मुनि के प्रश्न का ऊहापोह करके (उत्तर देने में) श्रासमर्थ वह त्राह्मण तथा वहां उपस्थित समस्त विप्रसमूह श्रापने दोनों हाथ जोड़कर उस महामुनि से इस प्रकार निवेदन करने लगे:—
- (१४) (तो) आपही वेदों का, यज्ञों का, नचत्रों का तथा धर्म का मुख बताओ।
- (१५) श्रपनी तथा पर की श्रात्मा का उद्घार करने में जो समर्थ हैं वे कौन हैं ? ये सभी हमारी शंकाएं हैं तो हमसे हुए इन प्रश्नों का श्राप ही खुलासा करो।

- (१६) (मुनि ने उत्तर दिया:—) वेदों का मुख अप्तिहोत्र है (अर्थात् जिस वेद में सच्चे अप्तिहोत्र का प्रधानता से वर्णन किया गया है वही वेद वेदो का मुख है)। यज्ञों का मुख यज्ञार्था (संयमक्ष्पी यज्ञ करनेवाला साधु) है, नक्षत्रों का मुख चंद्रमा है तथा धर्म के प्रक्ष्पकों मे भगवान ऋपभदेव, वीतराग होने के कारण उनके द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ सत्य धर्म-यही सब धर्मों का मुख (अष्ठ) है।
  - टिप्पण्णि—अग्निहोत्र यज्ञ में जीवरूपी कुंड है तथा नपरूपी वेदिका है, कर्मरूपी ईंधन, ध्यानरूपी अग्नि, ग्रुभोपयोग रूपी कड़छी, शरीर रूपी होता (याजक) तथा शुद्ध भावनारूपी आहुति है। जिन शास्त्रों में ऐसे यज्ञों का विधान होता है उन्हें 'वेद' कहते हैं और जो कोई भी ऐसे यज्ञ करते हैं वे ही सर्वोत्तम याजक हैं।
  - (१७) जैसे चन्द्र के आगे अन्य यह, नक्षत्र, तारे आदि हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं और तरह २ की मनोहर स्तुतियां कर वन्द्रन करते हैं वैसे ही उन उत्तम कारयप (भगवान् ऋपभदेव) को इन्द्रादि नमस्कार करते हैं।
  - (१८) सत्य ज्ञान तथा त्राह्मण के सत्य कर्म से अज्ञान मूढ़ पुरुप केवल 'यज्ञ यज्ञ' शब्द चिल्लाया करते हैं किन्तु वे यज्ञ का असली रहत्य नहीं जानते और जो केवल वेद का अध्ययन एवं शुष्क तपश्चर्या किया करते हैं वे सब बाह्मण नहीं हैं किन्तु राख से हँके हुए अंगार के समान हैं।
  - दिष्पाणी केवल उपर से भोले भाले शांत दीखते है किन्तु उनके हदयों में तो कपायरूपी जीन प्रदीस होनहीं हैं।

# सच्चा ब्राह्मण कौन है ?

- (१९) इस लोक में जो शुद्ध अग्नि की तरह पापरहित होने से पूज्य हुआ है उसीको कुशल पुरुष 'ब्राह्मण' मानते हैं और इसीलिये हम भी उसे ब्राह्मण कहते हैं।
- (२०) जो स्वजनादि (कुटुम्ब) में श्रासक्त नहीं होता श्रीर संयम धारण कर (उसके कष्टों के कारण्) शोक नहीं करता तथा महापुरुषों के वचनामृतों में श्रानिद्त होता है, उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।
- (२१) जिस प्रकार शुद्ध हुआ सोना कालिमा तथा किट्टिमा आदि मैलों से रहित होता है इसीतरह जो मल तथा पाप से रहित है; राग, देप, भय आदि दोषों से परे (दूर) है उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते है।
- (२२) जो सदाचारी, तपस्वी तथा दमितेन्द्रिय है, तथा जिसने उम्र तपस्या द्वारा श्रपने शरीर के रक्त मांस सुखा डाले हों। कृशगात्र हो तथा कपायों के शांत होने से जिसका हृद्य शांति का सागर हो रहा हो उसी को हम त्राह्मणा कहते हैं।
  - (२३) जो त्रस तथा स्थावर जीवों की मन, वचन तथा काय से किसी भी प्रकार दिसा नहीं करता उसीको हम 'त्राह्मण' कहते हैं।
  - (२४) जो कोब, हास्य, लोभ अथवा भय के वशीभूत होकर कभी भी असत्य वचन नहीं बोलता उसीको हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।

- (२५) जो सचित्त (चेतनासहित जीव, पशु इत्यादि) तथा श्राचित्त (चेतनारिहत सुवर्णादिक) को थोड़ी भी मात्रा में विना दिये श्रयवा हक्क सिवाय प्रहण नहीं करता उसोको हम 'त्राह्मण' कहते हैं।
- (२६) जो देवता, मनुष्य श्रयवा तिर्यंच सम्बन्धो मैथुन का मन, वचन, तथा काया से सेवन नहीं करता—
- (२७) जैसे कमल जल में उत्पन्न होने पर भी उससे अलग रहता है उसी तरह जो काममोगों से अलिन्न (वासनारहित) रहता है उसीको इम 'त्राह्मण' कहते हैं।
- (२८) जो रसलोखुपी न हो, मात्र धर्मनिर्वाह के निमित्त ही भित्ता मांगकर जीवित रहता (भित्ताजीवि) हो, तथा गृहम्थों में जो आसक्त न हो ऐसे अकिंचन (परिप्रहर्रहत) त्यागी को ही हम 'त्राह्मण' कहते हैं।
- (२९) जो पूर्व संयोग (माता, पिता, भाई, स्त्री त्रादि के संयोगों) को, ज्ञातिजनों के संयोग को तथा कुटुम्ब परिवार को एकवार त्याग कर वाद में उनके राग में या भोगों में श्रासक्त नहीं होता उसीको हम 'त्राह्मण' कहते हैं।
- (२०) हे त्रिजयघोप ! जो वेद पशुवध करने का उपदेश देते हैं वे तथा पापऋत्य कर होमीं हुई आहुतियां उस यज्ञ करने-वाले दुराचारी को अन्त में शरणभूत नहीं होती क्योंकि कर्म अपना २ फल दिये विना नहीं रहते।
- (३१) हे बिजयबोप ! माथा मुंद्दा लेने से कोई साधु नहीं वन जाता, 'ऊँकार' उच्चारण करने से कोई ब्राह्मण नहीं

हो जाता । उसी तरह घर छोड़कर जंगल में रहने मात्र से मुनि त्र्यौर भगवा वस्त्र पहिन लेने मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता ।

- (३२) जो समभाव रखता है वही साधु है; जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वही ब्राह्मण है, जो ज्ञानवान है वही मुनि है और जो तपस्या करता है वही तापस है—
- (३३) वस्तुतः वर्णन्यवस्था जन्मगत (जन्म लेने मात्र से ) नहीं है किन्तु कर्म (कार्य) गत है। कर्मों (कार्यों) से ही ब्राह्मण होता है, कर्मों से ही क्षत्रिय होता है, कर्मों से ही वैश्य होता है, ख्रौर कर्मों से ही शुद्ध होता है।
- टिप्पणि—व्राह्मण—व्राह्मणी के यहां जन्म छेने मात्र से कोई व्राह्मण नहीं हो जाता। व्राह्मण जैसे कृत्य करने से ही सच्ची व्राह्मणता प्राप्त होती है। व्राह्मण होकर भी चांडाळ के कृत्य करनेवाला व्राह्मण कभी नहीं हो सकता और शूद्र भी ब्राह्मण के कृत्य कर व्राह्मण हो सकता है।
  - (३४) इन सव बातों को भगवान ने बड़े विस्तार के साथ खुले तौर पर समकाई हैं। स्नातक (उच्च ब्राह्मण) भी उक्त गुणों को धारण करने से ही हो सकता है। इसीलिये समस्त कमों से मुक्त अथवा मुक्त होने के लिये जो प्रयतन-शील होरहा है उसे ही हम 'ब्राह्मण' कहते हैं।
  - (३५) उपरोक्त गुणों से सहित जो उत्तम-ब्राह्मण हैं वे ही स्व-पर तारक (अपनो तथा दूसरी आत्माओं का उद्वार करने में समर्थ) हैं।

- (३६) इस प्रकार संशय का समाधान होने पर वह विजयघोप ब्राह्मण उन पवित्र बचनामृतों को द्यपने हृदय में उतार कर फिर जयघोप मुनिको संबोधन कर—
- (३७) तथा सन्तुष्ट हुन्ना विजयघोष हाथ जोड़कर इस तरह कहते लगा—हे भगवन् ! त्रापते सच्चा त्राह्मणत्व त्राज मुक्ते समकाया !
- (३८) सचमुच आप ही यज्ञों के याजक (यज्ञ करनेवाले) हैं; आप ही वेदों के सच्चे ज्ञाता हैं; आप ही ज्योतिष शास्त्रादि अंगों के जानकार विद्वान् हैं और आप ही धर्मों के पारगामी हैं।
- (३९) श्रापही स्व-पर श्रात्मात्रों के उद्घार करने में समर्थ हैं; इसलिये हे भिक्ष्तम ! भिन्नाप्रहण करने की श्राप मुक्त पर छपा करें।
- (४०) [साधु जयबोप ने उत्तर दिया:—] हे द्विज ! मुक्ते तेरी भिक्ता से कुछ मतलव नहीं है । तू शीव्र ही संयममार्ग की श्राराधना कर । जन्म, जरा, मृत्यु, रोग श्रादि संकटों द्वारा घिरे हुए इस संसारसागर में श्रव तू श्रिधक गोतं न खा।
  - (४१) कामभोगों से कमैंबन्धन होता है और उससे यह आत्मा मलीन होती है। भोगरिहत जीवात्मा गुद्ध होने से कमों से लिप्त नहीं होता है। भोगी आत्माएं हीं इस संसार-चक्र में परिश्रमण करती रहती हैं और भोगमुक्त आत्माएं संसार को पार कर जाती हैं।

- (४२) गीली और सूखी मिट्टी के दो लौदे हैं। इनको भीत से मारने से जो लौंदा गीला है वहीं भीत से चिपट जाता है और सूखा नहीं चिपटता।
- (४३) इसी तरह कामभोगों में आसक्त, दुष्टवृद्धि जीव तो पाप कर्म करके संसार से चिपट जाता है और जो विरक्त पुरुष हैं वे तो सूखी मिट्टी के ढेले के समान संसार से नहीं चिपकते हैं।
- (४४) इस प्रकार जयघोष मुनिवर के समीप श्रेष्ठ धर्मोंपदेश श्रवण कर उस विजयघोष नामक ब्राह्मण ने संसार की श्रासक्ति से रहित होकर दीक्षा श्रंगीकार की।
- (४५) इस तरह संयम तथा तपश्चर्या द्वारा श्रपने सकल पूर्व सिवत कर्मों का नाश कर जयघोष तथा विजयघोष ये दोनों मुनिवर सर्वेश्रेष्ठ ऐसी मोत्तलक्ष्मी को प्राप्त हुए।
- टिप्पण्णि—जन्म से सभी जीव समान होते हैं। वे समानजीवि, समानकक्षी तथा समान प्रयत्नशीक होते हैं। सच पृंछा जाय तो जन्म
  से तो सभी शूद्र ही हैं किन्तु संस्कार होने से ही द्विज (जिनका
  संस्कार द्वारा दूसरा जन्म हुआ हो ऐसे माह्मण, क्षत्रिय और वैश्य)
  बनते हैं। सारांश यह है कि पतन और विकास ये ही दो बातें
  ऊँच नीच की सूचक हैं। जन्मगत ऊँचनीचके भेद मानना यह
  तो कोरा डोंग है—अममात्र है।

जाति से तो कोई भी चांडाल, बाह्मण, क्षत्रिय या वैश्य नहीं है। बहुत से मनुष्य जाति के चांडाल होने पर भी बाह्मण के समान होते हैं, बहुत से बाह्मणकुलजात मनुष्य चांडाल जैसे नीच होते हैं। बहुत से क्षत्रियकुलोत्पन्न मनुष्य वैश्य जैसे कायर होते हैं और बहुत से जाति के वैश्य क्षत्रियों के समान पराक्रमी होते हैं। इसिटिये जीव अपने कमें से ही बाह्मण, कमें से ही क्षत्रिय, कमें से ही वैदय और कमें से ही शृद्ध होते हैं, जन्म के कारण नहीं। जैसे जो कोई कमें करेगा—जैसी जिसकी किया होगी तदनुसार ही उसकी जाति मानो जायगी। गुणों की न्यूनायिकता से ही बाह्मण, क्षत्रिय, बैंदय अथवा चांदाल आदि के भेद किये गये हैं।

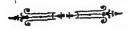
वहाचर्य, अहिंसा, त्याग तथा तपश्चर्यादि गुणों का ज्यों ज्यों विकास होता जाता है त्यों २ ब्राह्मणत्व का विकास होता जाता है। सच्चा ब्राह्मणत्व साधन कर ब्रह्म (आत्मस्वरूप) या आत्मन् ज्योति प्राप्त करना—यही सबका एकतम उद्ध्य है। जातिपाति के क्लेशोंको छोड़ कर सच्चे ब्राह्मणत्व की आराधना करना यही सबका कर्तव्य होना चाहिये।

ऐसा में कहता हूं—

इस तरह 'यज्ञीय' नामक पच्चीसवां ऋध्ययन समाप्त हुआ ।



# समाचारी



#### २६

माचारी का अर्थ है सम्यक् दिनचर्या। अर्थात् शरीर, इन्द्रियां तथा मन—ये साधन जिस उद्देश्य से मिले है उस उद्देश्य को लच्य में रखकर उन साधनों का सद्युपयोग करना—यही चर्या का अर्थ है।

र्तत दिन मन को उचित प्रसंग में लगाये रखना और निरं-तर उसी एक कार्य में जुटे रहना-यही साधक की दिनचर्या है।

ऐसा करने से पूर्व जीवनगत दुष्ट प्रकृतियों को वेग नहीं मिलता और नित्य नृतन पवित्रता प्राप्त होती रहने से ज्यों र परंपरागत दुष्ट भावनाएं निर्वल होकर अनत में भड़ती जाती है त्यों त्यों मोक्षार्थी साधक अपने आत्मरस के घूंट अधिका धिक पी पीकर अमर वनता जाता है।

इस प्रकरण में त्यागी जीवन की समाचारी का वर्णन किया है। त्यागी जीवन सामान्य गृहस्थ साधक के जीवन की भ्रापेका श्रधिक ऊंचा, सुन्दर तथा पवित्र होता है इससे उसकी दिनचर्या भी उतनी ही शुद्ध तथा कड़ी हो—यह सा-भाविक हो है। अपने आवश्यक कार्य के सिवाय अपना स्थान न छोड़ने की चृत्ति (स्थान स्थिरता), प्रश्नचर्चा तथा चिन्तन में जीनता, दोपों का निवारण, सेवाभाव, नम्रता तथा ज्ञानप्राप्ति-इन सभी धंगों का समाचारी में समावेश होता है।

समाचारी होना तो संयमी जीवन की व्यापक किया है। प्राण श्रीर जीवन का जितना सहभाव (सम्बन्ध) है उतना ही सहभाव समाचारी श्रीर संयमी जीवन में है। एक के विना दृसरा टिक नहीं सकता।

### भगवान वोले-

- (१) हे शिष्य ! संसार के समस्त दुःखों से छुडानेवाली समा-चारी (दस प्रकारकी साधु की समाचारी) का उपदेश करता हूँ जिसको धारण कर, श्राचार परिणत कर निर्पन्थ साधु इस भवसागर को पार कर जाते हैं।
- (२) पहिली का नाम श्रावश्यकी, दूसरी का नाम नैपेधिकी, तीसरी का श्राप्टच्छना श्रौर चौथीका नाम प्रतिपृच्छना है।
- (३) पांचवीं का नाम छन्दना, छट्टी का नाम इच्छाकार, सातवीं का मिध्याकार तथा छाठवीं का नाम तथ्ये-तिकार है।
- (४) त्रौर नौवीं का नाम श्रभ्यत्थान तथा दसवीं का नाम उपसंपदा है। इस प्रकार दस तरह की साधु समाचारी महापुरुपों ने कही है।
- (५) ( त्रव उन दस समाचारियों को विशद करते हैं ) साधु गमन ( उपाश्रय स्थान े का रहे ) त्रावश्यकी सम्

के लिये बाहर जाय। (२) नैषेधिकी क्रिया उपाश्रय में आते के बाद करे अर्थात् अब मैं बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर उपाश्रय में दाखल हुआ हूँ। अब नितान्त आवश्यक कार्य के सिवाय बाहर जाना निषिद्ध है—ऐसा मान कर आवरण करे। (३) आपृच्छना क्रिया का यह अर्थ हैं कि अपना कोई भी कार्य करने के लिये अपने गुरू अथवा बड़े साधु की आज्ञा प्राप्त करना। (४) प्रतिपुच्छना अर्थात् दूसरे के कार्य के लिये गुरूजी से पूंछना।

- दिप्पणी—पहिली तथा दूसरी किया में किसी भी आवश्यक किया के सिवाय गुरुकुल न छोड़ने का विधान कर साधक की क्या जवाव दारी है उसकी तरफ इशारा किया है। वीसरे में विनय साधक का परम कर्तव्य है उस बात का, तथा चौथी में अन्य मुनियों की सेवा . तथा विचारों का ऊहापोह बताया है।
- (६) (५) पदार्थसमूहों में छन्दना, अर्थात् अपने साथ के प्रत्येक भिक्षुको वस्तुओं का निमन्त्रण देना जैसे भिद्यादि लाने के बाद दूसरे मुनियों को आमन्त्रण करे कि "आप भी कृपा कर इसमें से कुछ प्रहण करें"—ऐसे व्यवहार को "छन्दना" कहते हैं। (६) इच्छाकार—अर्थात् एक दूसरे की इच्छा जान कर तदनुकूल आचरण करना (७) मिध्याकार—अर्थात् भूल में या गफलत से अपने द्वारा कुछ त्रुटि हो जाय तो उसके लिये खूव पश्चात्ताप करना तथा प्रायश्चित्त लेकर उसको मिध्या (निष्फल) वनाने की किया करना। (८) प्रतिश्रुते तथ्येतिकार—यह उस किया को कहते हैं कि जिसमें गुरूजन या बड़े

17.

सायक भिक्षुत्रों की त्राज्ञा स्वीकार कर उनकी त्राज्ञा सर्वथा यथार्थ एवं उचित है—ऐसा जानकर उसका त्राद्र मान किया जाता है।

- दिप्पाणि—पांचवीं समाचारी में केवल अपने ही पेटकी तृति की भावना को दूर कर उदारता दिखाने का निर्देश किया है। छट्टी में साधी साधुओं का पारस्परिक मेम, सातवीं में सुद्दम से सुद्दम मुटि का भी निवारण तथा आठवीं समाचारी में गुरू का आजाधीन होने का विधान किया है।
- (७) (९) गुरूपूजा में अभ्युत्थान—श्रधीत् उठते वैठते श्रथवा श्रम्य सभी किया में गुरू श्रादि की तरफ श्रनम्य गुन्भक्ति करने तथा उनके गुणों की पूजा करने की किया को कहते हैं। (१०) श्रवस्था तथा उपसम्पदा— उस कियाको कहते हैं कि श्रपने साथ के श्राचार्य, उपाध्याय या श्रम्य विद्यागुरुश्रों के पास विद्या प्राप्त करने के लिये विवेकपूर्वक रहना श्रीर विनन्न भाव से श्राचरण करना। ये दस समाचारियां कहलाती हैं।
- (८) (दसर्वी समाचारी में जहां भिक्ष ग्हता है उस गुरुकुल में उमे रात्रि तथा दिवस में किस तरह की चर्या करनी चाहिये उसको सविस्तर सममाया है)। दिन के चार प्रहर होने हैं उनमें से सूर्योदय के बाद, पहिले प्रहर के चौथे भाग में (उतने समय में) वस्त्रपात्रादि (संयमी के उपकरणों) का प्रतिलेखन करें और इस किया के बाद गुरू को प्रणाम कर—

- टिप्पण्णि—दिन के चार प्रहर होते हैं, इसिक्ये यदि ३२ घड़ी का दिन हुआ तो ८ घड़ी का एक प्रहर मानना चाहिये। उसका चौथा भाग दो घड़ी (४८ मिनिट) हुईं। जैन भिक्षुओं को अपने वस्त्रपात्रादि संयमी जीवन के उपयोगी साधनों का प्रतिदिन दो बार सूक्ष्म दृष्टि से सम्पूर्ण निरीक्षण करना चाहिये।
- (९) दोनों हाथ जोड़कर पूंछना चाहिये कि हे पूज्य ! अब मैं क्या करूं ? वैयाष्ट्रत्य (सेवा) या स्वाध्याय (अभ्यास) इन दोनों में से आप किस काम में मेरी योजना करना चाहते हैं ? हे पूज्य ! मुक्ते आज्ञा दीजिये।
- (१०) यदि गुरूजी वैयावृत्य (किसी भी प्रकार की सेवा) करने की श्राज्ञा दें तो ग्लानिरहित होकर सेवा करे श्रीर यदि स्वाध्याय करने की श्राज्ञा दें तो सब दु:खों से छुडानेवाले स्वाध्याय में शांतिपूर्वक दत्तचित्त होकर लग जाय।
- टिप्पणी—(१) बांचना (शिक्षा छेना), (२) पृच्छना (प्रदन पूंछ कर शंका समाधान करना), (३) परिवर्तना (पढ़े हुए पाठों का पुनरावर्तन करना), (४) अनुप्रेक्षा (पठित पाठ का मनन करना) और (५) धर्मकथा (ज्याख्यान देना) ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं।
- (११) विचन्नण मुनि को चाहिये कि वह दिन के समय को चार भागों में विभक्त करे श्रीर इन चारों विभागों में उत्तर गुणों (कर्तव्यकर्मों ) की वृद्धि करे।
- (१२) ( त्राब चारों प्रहरों के काम क्रमशः बताते हैं ) पहिले प्रहर में स्वाध्याय ( त्राभ्यास ), दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे

प्रहर में भिन्नाचरी, श्रौर चौथे प्रहर में स्वाध्यायादि कृत्य करे।

- टिप्पणी—" आदि" शब्द से पहिले तथा अन्तिम प्रहरों में प्रतिलेखन तथा शौचादि कियाओं का समावेश किया है।
- (१३) आपाद मास में दो कदम, पौप मास में चार कदम और चैत्र तथा आसोज (कुंआर) महीने में तीन कदम पर पोरसी होतो है।
- दिप्पग्ति—पोरसी अर्थात् वहर । सूर्यं की छाया पर से काल का प्रमाण भिले उसके लिये यह प्रमाण वताया है ।
- (१४) उपरोक्त चार महीनों के सिवाय दूसरे छाठ महीनों में प्रत्येक सात दिन रात (सप्ताह) में एक एक छंगुल, छौर एक पक्ष (पन्द्रह दिनों) में दो दो छंगुल, छौर प्रत्येक महिने में चार चार छंगुल प्रत्येक प्रहर में छाया घटती बढ़ती है।
- दिप्पणी—श्रावण बदी प्रतिपदा से पौप सुदी पूर्णिमा तक छाया बढती है और माह बदी प्रतिपदा से भाषाड सुदी पूर्णिमा तक छाया घटती है।

### किन किन महिनों में तिथियां घटती हैं?

- (१५) श्रापाड़, भाद्रपद, कार्तिक, पौप, फाल्गुन श्रौर वैशाख इनः सब महिनों के छुण पत्त में १—१ तिथि घटती है।
- टिप्पणी—उपरोक्त छहाँ महीने २९-२९ दिन के होते हैं। इनके अतिरिक्त के ६ महीने २०-२० दिन के होते हैं। इस गणना से चांद्र वर्ष में कुछ ३५४ दिन होते हैं।

- (१६) (पौन पोरसी के पग की छाया का माप बताते हैं) जेठ, आपाढ़ और श्रावण इन तीन महीनों में जिस पोरसी के लिये पग की छाया का माप बताया है उस कदम के ऊपर ६ अंगुल प्रमाण बढा देने से उस महीना की पौनी पोरसी निकल श्राती है। भाद्रपद, श्रासोज तथा कार्तिक इन तीन महीनों में, ऊपर जो माप बताया है उसमें श्राठ अंगुल प्रमाण बढा देने से पौनी पोरसी निकल श्राती है। मंगसर (श्रगहन) पौप तथा माह इन तीन महीनों में बताऐ हुऐ माप में १० अंगुल प्रमाण बढा देने से पौनी पोरसी निकल श्राती है। काल्गुन, चैत्र और वैशाख इन तीन महीनों में जो माप बताया है उसमें श्राठ श्रंगुल प्रमाण छाया बढाने से पौनी पोरसी निकल श्राती है। इस समय बख-पात्रादिकों का प्रतिलेखन करे।
- (१७) विचचण साधु रात्रिकाल के भी चार विभाग करे श्रौर प्रत्येक भाग में प्रत्येक पोरसी के योग्य कार्य कर श्रप्ते गुर्णों की दृद्धि करे।
- (१८) रात्रि के पहिले प्रहर में खाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा, श्रीर चौथे प्रहर में खाध्याय करे।
- (१९) ( अब रात्रि की पोरसी निकालने की रीति बताते हैं ) जिस काल में जो २ नत्तत्र तमाम रात तक उदित रहते हों वे नत्तत्र जब आकाश के चौथे भाग पर पहुँचें तब रात्रि का एक प्रहर गया-ऐसा सममना चाहिये और उस समय स्वाध्याय बंद कर देना चाहिये।
- (२०) श्रोर वही नक्षत्र चलते चलते श्राकाश का केवल चौथा

भाग वाकी रहे वहां द्यर्थात् चौथी पोरसी में श्रा पहुँचे तव सममना चाहिये कि प्रहर रात्रि वाकी है श्रोर उक्षी समय स्वाध्याय में लग जाना चाहिये। उस पोरसी के चौथे भाग में (दो चड़ी रात श्रवशिष्ट रहने पर) काल को देख कर मुनि को प्रतिक्रमण करना चाहिये।

- (२१) (अव दिन के कर्तन्य विस्तारपूर्वक समकाते हैं:—) पहिले प्रहर के चौथे भाग में (सूर्योदय से २ घड़ी वाद तक) वस्त्रपात्र का प्रतिलेखन करे फिर गुरू को वंदना कर सब दु:खों से मुक्त करनेवाला ऐसा खाध्याय करे।
- (२२) वाद में दिवस के श्रंतिम प्रहर के चौथे भाग में गुरू को वंदना कर स्वाध्यायकाल का श्रतिक्रम (उइंचन) किये विना वम्त्रपात्रादिक का प्रतिलेखन करें।
- (२३) मुनि सबस पहिले मुंह २ ची का प्रतिलेखन करे, बाद में गुच्छक (श्रोघा) का प्रतिलेखन करे फिर श्रोघा को हाथ में लंकर वस्त्रों का प्रतिलेखन करे।
- (२४) ( अव वस्त्र-प्रतिलेखन की विधि वताते हैं: ) ( १ ) वस्त्र को जमीन से ऊंचा रक्खे, ( २ ) उसे मजवूत पकड़े, (३) उतावला प्रतिलेखन न करे, ( ४ ) आदि से अंत तक वस्त्र की वरावर देखें ( यह तो केवल दृष्टि की प्रतिलेखना है ), ( ५ ) वस्त्र को वीमे २ थोड़ा हिलावे; ( ६ ) वस्त्र हिलाने पर भी यदि जीव न उतरे तो गुच्छा से उसे पूंज ( माड़ ) देना चाहिये।
  - (२५) (७) प्रतिलेखन करते समय वस्त्र अथवा शरीर को नचाना न चाहिये, (८) टसकी घड़ी न करे, वस्त्र

का थोड़ा भाग भी प्रतिलेखना किये बिना न छोड़े, (१०) वस्त्र को ऊंचा नीचा फटकारे नहीं श्रथवा दीवाल के ऊपर पटक कर साफ न करे, (११) मटका न मारे, (१२) वस्त्रादिक पर रेंगता हुआ कोई जीव दिखाई दे तो उसको श्रपने हाथ पर उतार कर उसका रच्चण करे।

टिप्पणी—कोई कोई 'नखखोडा' का अर्थ पडिलेहण करते समय ९-९ बार देखने का करते हैं।

- (२६) ( अब ६ प्रकार की अप्रशस्त प्रतिलेखना नताते हैं ) (१)
  आरभटा ( प्रतिलेखना विपरीत रीति से करना ); (२)
  संमदी ( वस्त्र को निचोड़ना अथवा मदन करना ) (३)
  मौशली ( ऊँची नीची अथवा आडो धरती से वस्त्र
  को रगड़ना ); (४) प्रस्फोट ( प्रतिलेखन करते हुए वस्त्र
  को बार २ मटकना ); (५) विचिप्ता ( प्रतिलेखन किये विना ही आगे पीछे सरका देना ); (६) वेदिका ( घुटनों या हाथों में घड़ी कर रखते जाना )।
- (२७) (इनके श्रितिरक्त दूसरी श्रिप्रशस्त प्रतिलेखनाएं बताते हैं:) (१) प्रशिथिल (वस्त्र को मजबूती से न पकड़ना);

  (२) प्रलंब (वस्त्र को दूर रख कर प्रतिलेखना करना);
  (३) लोल (जमीन के साथ वस्त्र को रगड़ना); (४)
  एकामर्षा (एक ही नजर में तमाम वस्त्र को देख जाना)
  (५) श्रनेक रूपधूना (प्रतिलेखन करते हुए शरीर तथा
  वस्त्र को हिलाना); (६) प्रमादपूर्वक प्रतिलेखन करना
  (७) प्रतिलेखन करते हुए शंका उत्पन्न हो तो उगिलयों
  पर गिनने लगना और इससे उपयोग का चूक जाना

(ध्यान कहीं से कहीं चला जाय)। इस प्रकार १३ प्रकार की अप्रशस्त प्रतिलेखनाएं होती हैं।

(२८) बहुत कम श्रथवा विपरीत प्रतिलेखना न करना यही उत्तम है। वाकी के दूसरे समस्त प्रकारों को तो श्रप्रशस्त ही सममत्ता चाहिये।

टिप्पर्णा—प्रतिलेखना के ८ भेद हैं उनमें से उपरोक्त प्रथम प्रकार का ही आचरण करना चाहिये। शेप भेदों को छोड़ देना चाहिये।

(२९) प्रतिलेखना करते २ यदि (१) परस्पर वार्तालाप करे; (२) किसी देश का समाचार कहे, (३) किसी को प्रत्याख्यान ( त्रतिनयमादि ) दे; (४) किसी को पाठ आदि दे; प्रथवा (५) प्रश्नोत्तर करे तो—

(३०) वह साधु प्रतिलेखना में प्रमाद करने का दोपभागी होता है श्रोर पृथ्वी, जल, वायु, श्राग्न तथा वनस्पति स्थावर तथा चलते फिरतं त्रस जीवों की हिंसाका दोपी होता है।

(३१) श्रीर जो साघु प्रतिलेखना में वरावर उपयोग लगाता है वह प्रथ्वी, जल, वायु, श्राग्न, तथा बनस्पति के स्थायर जीवों श्रीर त्रस जीवों का रचक बनता है।

टिप्पणी—यद्यि वद्यपात्रादि की प्रतिलेखना में प्रमाद करने से मात्र त्रस जीवों की अथवा वायुक्तियक जीवों का ही वात हो जाना सम्भव है परन्तु प्रमाद—यह ऐसा महादोप है कि यदि वह सूक्ष्म रूप में भी साधक की प्रवृत्ति में आ घुसे तो वह धीमे धीमे उसके जीवन में ही ध्यास हो जाता है और फिर साधुको उसका उद्देश्य सुटाकर ऐसी अधोगित में दाल देता है कि जहाँ छः काय के जीवों की भी दिसा हो सकती है, इसलिये उपचार से उपरोक्त कथन

- (३२) तीसरे प्रहरमें निम्नलिखित ६ कारणों में से यदि कोई भी कारण उपस्थित हो तो साधु आहार-पानी की गवेषणा करे।
- दिप्पणी—भिक्षाचरी जाने के लिये तीसरे प्रहर का विधान काल तथा क्षेत्र देखकर किया गया है। उसका आशय समझकर विवेक-पूर्वंक समन्वय करना चाहिये।
- (३३) (वे ६ कारण ये हैं) (१) श्लुघा वेदना को शांति के लिये; (२) सेवा के लिये (शक्त शरीर होगा तो दूसरों की सेवा ठीक २ हो सकेगी); (३) ईयीर्थ के लिये (खाये बिना आंख के सामने अन्धेरा आता हो तो उसे दूर कर ईयीसिभिति-पूर्वक मार्गगमन किया जा सके); (४) संयम पालने के लिये; (५) जीवन निभाने के लिये; और (६) धर्मध्यान तथा आत्मचितन करने के लिये निर्भथ साधु अहार-पानी का प्रहण करे।
- (३४) धैर्यवान साधु अथवा साध्वी निम्नलिखित ६ कारणो से आहार—पानी प्रहण न करे तो वह असंयमी नहीं माना जाता है ):—
- (३५) (१) रुग्णावस्था में, (२) उपसर्ग (पशु, मनुष्य अथवा देव-कृत कष्ट) आवे उसे सहन करने में, (३) ब्रह्मचर्य पालन के लिये, (४) सूक्ष्म जंतुओं की उत्पत्ति हुई जानकर उनको दया पालने के निभित्त, (५) तप करने के निभित्त, (६) शरीर का अन्तिम काल आया जान कर सथारा (प्रहण) के लिये। (इन ६ कारणों

- (ध्यान कहीं से कहीं चला जाय)। इस प्रकार १३ प्रकार की व्यप्रशासन प्रतिलेखनाएं होती हैं।
- (२८) बहुत कम अथवा विपरीत प्रतिलेखना न करना यही उत्तम है। वाकी के दूसरे समस्त प्रकारों को तो अप्रशस्त ही समस्ता चाहिये।

टिप्पर्गा—प्रतिलंखना के ८ भेद हैं उनमें से उपरोक्त प्रथम प्रकार का ही आचरण करना चाहिये। शेप भेदों को छोड़ देना चाहिये।

- (२९) प्रतिलेखना करते २ यदि (१) परस्पर वार्तालाप करें: (२) किसी देश का समाचार कहें, (३) किसी को प्रत्याख्यान ( त्रतिनयमादि ) दे; (४) किसी को पाठ श्रादि दे; श्रथवा (५) प्रश्नोत्तर करें तो—
- (३०) वह साधु प्रतिलेखना में प्रमाद करने का दोपभागी होता है श्रीर पृथ्वी, जल, वायु, श्रीम तथा वनस्पति स्थावर नथा चलते किरते त्रस जीवों की हिंसाका दोपी होता है।
- (३१) श्रीर जो साधु प्रतिलेखना में वरावर उपयोग लगाता है वह प्रश्वी, जल, वायु, श्रीम, तथा वनस्पति के स्थावर जीवों श्रीर त्रम जीवों का रचक वनता है।
- दिग्गण् यद्यि वख्यात्रादि की प्रतिलेखना में प्रमाद करने से मात्र त्रम जीवाँ की अथवा वायुक्तिक जीवों का ही वात हो जाना सम्भव है परन्तु प्रमाद— यह ऐसा महादोप है कि यदि वह सूदम रूप में भी साधक की प्रवृत्ति में आ द्युसे तो वह धीमे धीमे उसके जीवन में थी ध्यास हो जाता है और फिर साधुको उसका उद्देश्य मुग्राकर ऐसी अधोगति में वाल देता है कि जहाँ छः काय के जीवों की भी दिसा हो सकती है, इसलिये उपचार से उपरोक्त कथन

- (३२) तीसरे प्रहरमें निम्नलिखित ६ कारणों में से यदि कोई भी कारण उपस्थित हो तो साधु आहार-पानी की गवेषणा करे।
- टिप्पणी—भिक्षाचरी जाने के खिये तीसरे प्रहर का विधान काल तथा क्षेत्र देखकर किया गया है। उसका आशय समझकर विवेक-पूर्वंक समन्वय करना चाहिये।
- (३३) (वे ६ कारण ये हैं) (१) क्षुघा वेदना को शांति के लिये; (२) सेवा के लिये (शक्त शरीर होगा तो दूसरों की सेवा ठीक २ हो सकेगी); (३) ईर्यार्थ के लिये (खाये विना आंख के सामने अन्धेरा आता हो तो उसे दूर कर ईर्यासिभिति-पूर्वक मार्गगमन किया जा सके); (४) संयम पालने के लिये; (५) जीवन निभाने के लिये; और (६) धर्मध्यान तथा आत्मचितन करने के लिये निर्भथ साधु आहार-पानी का प्रहण करे।
- (३४) धैर्यवान साधु अथवा साध्वी निम्नलिखित ६ कारणों से आहार—पानी प्रहण न करे तो वह असंयमी नहीं माना जाता है ):—
- (३५) (१) रुग्णावस्था में, (२) उपसर्ग (पशु, मनुष्य श्रथवा देव-कृत कष्ट) श्रावे उसे सहन करने में, (३), ब्रह्मचर्य पालन के लिये, (४) सूक्ष्म जंतुश्रों की उत्पत्ति हुई जानकर उनकी दया पालने के निभित्त, (५) तप करने के निभित्त, (६) शरीर का श्रन्तिम काल श्राया जान कर संथारा (प्रहण) के लिये। (इन ६ कारणों

से श्राहार न करने हे संयमपालन हुश्रा सममना चाहिये)।

- टिष्यगी—संयमी जीवन को टिकाये रखने के लिये ही भोजनप्रहण करने की आज्ञा है। यदि ऐसे भोजन से—जिससे दारीर रक्षा तो होती हो किन्तु संयमी जीवन नए होता हो तो ऐसा भोजन साध हर्गिज़ न करे। ऐसा विधान करने में संयमी जीवन की मुख्यता वताने का उद्देश्य है। संयमी जीवन को टिकाये रखने के लिये ही भोजन है, भोजन के लिये संयमी जीवन नहीं है।
- (३६) श्राहार—पानी के लिये जाते समय भिक्ष को अपने सव पात्र तथा उपकरणों को वरावर साफ करके ही भिज्ञा को जाना चाहिये । भिज्ञा के लिये श्रधिक से श्रधिक श्राधे योजन तक ही जाय। (श्रागे नहीं)।
- (३७) त्राहार करने के वाद, ें साधु चौथी पोरसी में पात्रों को त्रलग बांधकर रख देवे श्रोर यावन्मात्र पदार्थों को प्रकट करने वाले स्वाध्याय को करे।
- (३८) चौथी पोरसी फे चौथे भाग में स्वाध्यायकाल से निष्टत्त होकर गुरू की वन्दना कर साधु वस्त्र, पात्र इत्यादि की प्रतिलेखना करे।
- ृटिप्पणी—चौथी पोरसी का चौथा भाग अर्थात् सूर्यास्त के पहिछे दो वटिका का समय।
  - (३९) मल, मूत्र त्यांग करने की भूमि से लौट त्याने के वाद (इरिया विद्या कियायें करने के वाद पीछे त्याकर) सव दु:खों से छुडाने वाले कायोत्सर्ग को क्रमपूर्वक करे।

- दिप्पाती—जैनदर्शन में भिक्ष के िये सुबह तथा सायं इस तरह दो समय प्रतिक्रमण करना आवश्यक बताया है। प्रतिक्रमण में, हुऐ दोपों की आलोचना तथा भविष्य में वे दोप फिर न हों उसका संकटा किया जाता है।
- (४०) उस कायोत्सर्ग में भिक्षु उस दिवस सम्बन्धी ज्ञान, दर्शन श्रथवा चारित्र में लगे हुए दोषों का क्रमशः चिंतवन करे।
- (४१) कायोत्सर्ग पाल कर फिर गुरू के पास आकर उनकी वंदना करे। बाद में उस दिन में किये गये आतिचारों (दोषों) को कमपूर्वक गुरू से निवेदन करे।
- (४२) इस प्रकार दोष के शल्यसे रहित होकर तथा समस्त जीवों की ज्ञमापना लेकर फिर गुरू को नमस्कार कर सर्वे दु: खो से छुड़ानेवाला ऐसा कायोत्सर्ग ध्यान करे।
- (४३) कायोत्सर्ग करके फिर गुरु की वन्दना करे (प्रत्याख्यान करे ) श्रीर उसके बाद पंचपरमेष्ठी की स्तुतिमंगल पाठ करके स्वाध्यायकाल की श्रापेक्षा (इच्छा ) करे।
- टिप्पाणी—प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक (विभाग) होते हैं। वह सव विधि अपर लिखी जा चुकी है।
- (४४) ( श्रव रात की विधि बताते हैं ) मुनि पहिले प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में निद्रा श्रौर चौथे प्रहर में स्वाध्याय करें।
- (४५) चौथी पोरसी का काल आया हुआ जान कर, अपनी आवाज से गृहस्थ न जाग उठे उस प्रकार धीमें से स्वाध्याय करें।
- (४६) चौथी पोरसी का चौथा भाग बाकी रहे ( अर्थात सूर्योदयः

से दो घड़ी पहिले स्वाध्याय काल से निवृत होकर ) तव ध्यावश्यक काल सम्वन्धी प्रतिलेखन कर (प्रतिक्रमण का काल जान कर ) फिर गुरु की वन्दना करें।

- (४७) (दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण को जो रोति वताई है वह संपूर्ण विधि होने के वाद ) सव दुःखों से छुड़ानेवाला कायोत्सर्ग त्रावे तव पहिले कायोत्सर्ग करे।
  - (४८) उस कायोत्सर्ग में ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा तप संबंधी जो २ अतिचार लगे हों उनका अनुक्रम से चिन्त-वन करे।
  - (४९) कायोत्सर्ग करने के वाद गुरु की वंदना करे तथा रात्रि में हुए अतिचारों को क्रमपूर्वक निवेदन कर उनकी आलो-चना करे।
  - (५०) दोषरिहत होकर तथा गुरु से ज्ञमा मांगकर गुरु को पुनः प्रणाम करे और सब दुःखों से छुड़ानेबाला ऐसा कायोत्सर्ग करे।
  - टिप्पणी—कायोत्सर्गं अर्थात् देहमाव से मुक्त होकर ध्यानमय रहने की किया।
  - (५१) कायोत्सर्ग में चिन्तन करे कि स्रव मैं किस प्रकारकी तपश्चर्या घारण करूं ? फिर निश्चय करके कायोत्सर्ग से नियुत्त हो गुरु की वंदना करे।
  - (५२) उपरोक्त रीति से कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर गुरू को प्रणाम करें घौर उनसे तपश्चर्यों का प्रचक्लाण (प्रत्याख्यान) लेकर सिद्ध परमेछी का स्तवन करें।

टिप्पााी—इस प्रकार रात्रि प्रतिक्रमण के ६ आवश्यक (विभागों) की किया पूर्ण हुई।

(५३) इस प्रकार दस प्रकार की समाचारी का वर्णन संचेप में किया है जिनका पालन कर बहुत से जीव इस भवसागर को पार कर गये हैं।

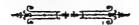
टिप्पग्री—असावधानता विकास (उन्नति) को रोक्ष्नेवाली है। चाहे जैसी भी सुन्दर किया क्यों न हो किन्तु अव्यवस्थित हो तो उसकी कुछ भी कीमत नहीं है। व्यवस्था और सावधानता इन दोनों गुणों से मानसिक संकल्प का वर्ज बढ़ता है। संकल्पबळ बढ़ने से संकटों तथा विन्ना के बल परास्त होते हैं और अन्त में लक्ष्यसिद्धि होती है।

#### ऐसा मैं कहता हूँ—

इस तरह "समाचारी" सम्बन्धी छन्दीसवां ऋध्ययन समाप्त हुआ।



# खलुंकीय \*\*\*\*\*\*\*\*



## गरियार वैल संवंधी

२७

भा धक के लिये सद्गुरु जितना सहायक है—जितना अवलंबन है, उतना ही शिष्यसमृह भी सद्गुरु के लिये सहायक एवं अवलंबन है।

पूर्णता प्राप्त करने के पहिले सभी को सहायक तथा साथनों की ब्यावश्यकता तो रहती ही है परन्तु यदि सहायक तथा साधन ही मार्ग में उल्टे वाधक हो जांय तो अपने और दुसरों इन दोनों के हितों की हानि होती है।

गार्ग्याचार्य वड़े समर्थ विद्वान थे। प्रसिद्ध गण्यर (गुरु-कुलपति ) थे । उनके पास सैकड़ों शिष्यों का परिवार था किन्तु जव वह परिवार स्वच्छंद हो गया, संयममार्ग में द्वानि पहुँचाने लगा तव उनने अपना आत्मधर्म निमाकर—अपना कर्तव्य समभकर उनको सुधारने का खूव ही प्रयत्न कर देखा परन्तु भन्त में वे असफल ही रहे।

शिष्यों का मोह, प्रथवा शिष्यों पर श्रासक्ति श्रथवा सम्प्र-दाय का ममत्व उस महापुरुष को लेशमात्र भी न था।

स्थिति में वे ग्रपना धर्म वचाकर एकांत में जाकर वसे श्रौर श्रीर स्वावलंबन की प्रवल शक्ति को वृद्धिगत कर उनने श्रपने श्रात्महित की साधना की।

#### भगवान वोले:-

- (१) सर्व शास्त्रों के पारगामी एक गार्ग्य नाम के गणधर तथा स्थविर मुनि थे। वे गणिभाव से युक्त रहकर निरंतर समाधिभाव की साधना किया करते थे।
- दिप्पणी-नो अन्य जीवों को धर्म में स्थिर करता है अर्थात ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध, तथा प्रवज्यावृद्ध होता है उसे 'स्थविर' मिश्र कहते है और जो भिक्षुगण का व्यवस्थापक होता है उसे 'गणधर' कहते हैं।
- (२) जैसे गाड़ी में योग्य वहन (वैल) जोड़ने से वह गाड़ीवान श्रटवी (वन्य मार्ग) को सरलता से पार कर जाता है वैसे ही योग ( संयम ) मार्ग में वहन करते हुए शिष्य साधक तथा उनको दोरनेवाला गुरु दोनो ही संसार रूपी श्रटवी को सरलता से पार कर जाते हैं।
- (३) परन्तु जो कोई गाड़ीवान गरियार वैलो को गाड़ी में जोढ़ता है वह उन्हें (न चलने के कारण्ं) यद्यपि मारते २ थक जाता है फिर भी अटवी को पार नहीं कर पाता श्रोर वहां बड़ा ही दु:खी होता है। श्रीर श्रशांति का श्रनु-भव करता है। मारते २ गाड़ीवान का चाबुक भी दृट जाता है।
- (४) बहुत से गाड़ीवान ऐसे गरियार बैल की पूंछ मरोड़ते हैं, कोई २ बार २ पैनी आर मार कर उन्हें बीघ डालते हैं, फिरभी गरियार वैल अपनी जगह से दससे मस नहीं होते

मारने पर भी वहुत से तो अपना जुआ ही तोड़ डालते हैं और वहुत से कुमार्ग में ले भागते हैं।

- (५) कोई २ चलते २ त्रर्रा कर गिर पड़ते हैं, कोई २ बैठ जाते हैं; कोई २ लेट जाते हैं, त्रौर मारने पर भी उठते नहीं हैं। कोई २ बैल उछल पड़ते हैं, कोई २ मेंडक की तरह छलांचे मारने लगते हैं, तो कोई धूर्त बैल गाय देखकर उसके पीछे दौड़ने लगते हैं।
- (६) बहुत से मायाबी बैल माथा नीचा करके गिर पड़ते हैं, कोई २ मार पड़ने से गुस्से में श्राकर रास्ता छोड़ कुरस्ते में चल पड़ते हैं। कोई २ गरियार बैल ढोंग कर मृतवत् पड़ जाते हैं तो कोई दम छोड़कर भगने लगते हैं।
- (७) कोई २ दुष्ट वैल श्रपनी रामों को ही तोड़ डालते हैं। कोई २ खच्छंदी वेल श्रपना जुत्रा ही तोड़ डालते हैं श्रीर कोई २ गिरयार वैल तो फ़ुफकार मारकर गाड़ीवान के हाथ से छूटते ही दूर भाग जाते हैं।
- (८) जैसे गाड़ी में जुते हुए गरियार वैल गाड़ी को तोड़ कर गाड़ीवान को हैरान कर भाग जाता है वैसे ही वैसे खन्च चंद्रेंदी शिष्य भी सचमुच धर्म (संयम-धर्म) रूपी गाड़ी में जुते रहने पर भी धैर्य खोकर संयमधर्म को भंग कर देते हैं। (सच्चे मन से संयम का पालन नहीं करते)
  - (९) गर्ग्याचार्य श्रपने शिष्यों के विषय में कहते हैं:— (मेरे) कोई २ कुशिष्य विद्या की ऋदि के गर्व से मदोन्मत्त एवं श्रहंकारी होकर फिरते हैं, कोई २ रसलोछपी हो गये हैं,

कई एक साताशील (शरीरसुख के प्रेमी ) हो गये हैं श्रीर कोई २ प्रचंड कोधी हैं।

- (१०) कोई २ भित्ता में आलसी बन गये हैं, कोई २ आहंकारी शिष्य मित्ता मांगने में अपने अपमान की संभावना देख भीर होकर एक ही स्थान पर बैठे रहते हैं। कोई २ मदो-नमत्त शिष्य ऐसे हैं कि जब २ मैं प्रयोजन पूर्वक ( संयम मार्ग के योग्य ) शिक्षा देता हूँ।
- (११) तो वीच ही में सामने जवाब देते हैं श्रौर उल्टा मुक्ते ही दोष देते हैं श्रौर कई एक तो श्राचार्यों के बचनों (श्राज्ञाश्रों) के वारम्वार विरुद्ध जाते हैं।
- (१२) ( कई एक शिष्य भिचार्य भेजे जाने पर भी जाते नहीं है अथवा ऐसे २ वहाने करते हैं कि) 'वह आविका तो सुमें पहिचानती ही नहीं है, वह सुमें भिचा नहीं देगी', 'वह घर पर नहीं होगी तो अच्छा तो यही है कि आप किसी दूसरे साधु को वहां भेजें'। कोई २ तो उद्धत होकर ऐसे वचन वोलते हैं कि 'क्या मैं हो अकेला वचा हूँ, दूसरा कोई नहीं है ?' इत्यादि प्रकार से गुरु को उत्टा उत्तर देते हैं और भिक्षार्थ नहीं जाते।
- (१३) अथवा कोई २ शिष्य जिस प्रयोजन से भेजे जाते हैं वह कार्य करके नहीं लाते और मूंठ वोलते हैं। या तो कार्य को कठिन वताकर इधर उधर घूमने में समय विता देते हैं अथवा काम भी यदि करते हैं तो बेगार सी भुगतते हैं श्रीर कहने पर क्रोध से भौंहे चढ़ाकर मुंह विगाड़ते हैं।

मारने पर भी बहुत से तो अपना जुआ ही तोड़ डालते हैं श्रीर बहुत से कुमार्ग में ले भागते हैं।

- (५) कोई २ चलते २ ऋर्रा कर गिर पढ़ते हैं, कोई २ बैठ जाते हैं; कोई २ लेट जाते हैं, और मारने पर भी उठते नहीं हैं। कोई २ बैल उछल पढ़ते हैं, कोई २ मेंडक की तरह कुलांचे मारने लगते हैं, तो कोई धूर्व बैल गाय देखकर उसके पीछे दौड़ने लगते हैं।
- (६) बहुत से मायाबी बैल माथा नीचा करके गिर पड़ते हैं, कोई २ मार पड़ने से गुरसे में आकर रास्ता छोड़ कुरस्ते में चल पड़ते हैं। कोई २ गरियार बैल ढोंग कर मृतवत् पड़ जाते हैं तो कोई दम छोड़कर भगने लगते हैं।
- (७) कोई २ दुष्ट वैल व्यपनी रासों को ही तोड़ डालते हैं। कोई २ खन्छंदी वैल त्रपना जुत्रा ही तोड़ डालते हैं ब्रोर कोई २ गिरयार वैल तो फुफकार मारकर गाड़ीवान के हाथ से छूटते ही दूर भाग जाते हैं।
- (८) जैसे गाड़ी में जुते हुए गरियार वैल गाड़ी को तोड़ कर गाड़ीवान को हैरान कर भाग जाता है वैसे ही वैसे ख॰ च्छंदी शिष्य भी सचमुच धर्म (संयम-धर्म) रूपी गाड़ी में जुते रहने पर भी धैर्य खोकर संयमधर्म को भंग कर देते हैं। (सच्चे मन से संयम का पालन नहीं करते)
- (९) गर्ग्याचार्य अपने शिष्यों के विषय में कहते हैं:— ( मेरे ) कोई २ कुशिष्य विद्या की ऋदि के गर्व से मदोन्मत्त एवं अहंकारी होकर फिरते हैं, कोई २ रसलोछपी हो गये हैं,

कई एक साताशील (शरीरसुख के प्रेमी ) हो गये हैं श्रीर कोई २ प्रचंड कोधी हैं।

- (१०) कोई २ मित्ता में श्रालसी बन गये हैं, कोई २ श्रहंकारी शिष्य मित्ता मांगने में श्रपने श्रपमान की संभावना देख भीर होकर एक ही स्थान पर बैठे रहते हैं। कोई २ मदो-नमत्त शिष्य ऐसे हैं कि जब २ मैं प्रयोजन पूर्वक ( संयम मार्ग के योग्य ) शिक्षा देता हूँ।
- (११) तो बीच ही में सामने जवाब देते हैं श्रौर उल्टा मुक्ते ही दोष देते हैं श्रौर कई एक तो श्राचार्यों के बचनों (श्राज्ञाश्रों) के वारम्वार विरुद्ध जाते हैं।
- (१२) ( कई एक शिष्यं भित्तार्थं भेजे जाने पर भी जाते नहीं है ऋथवा ऐसे २ बहाने करते हैं कि) 'वह श्राविका तो सुमेत पहिचानती ही नहीं है, वह सुमेत भित्ता नहीं देगी', 'वह घर पर नहीं होगी तो श्रच्छा तो यही है कि श्राप किसी दूसरे साधु को वहां भेजें'। कोई २ तो उद्धत होकर ऐसे वचन बोलते हैं कि 'क्या मैं ही श्रकेला बचा हूँ, दूसरा कोई नहीं है ?' इत्यादि प्रकार से गुरु को उल्टा उत्तर देते हैं और भिक्षार्थ नहीं जाते।
- (१३) अथवा कोई २ शिष्य जिस प्रयोजन से भेजे जाते हैं वह कार्य करके नहीं लाते और मूंठ बोलते हैं। या तो कार्य को कठिन वताकर इधर उधर घूमने में समय विता देते हैं अथवा काम भी यदि करते हैं तो बेगार सी भुगतते हैं श्रीर कहने पर कोघ से भौंहे चढ़ाकर मुंह विगाड़ते हैं।

- (१४) इन सब कुशिष्यों को पढ़ाया, गुनाया, दीन्तित किया तथा श्रन्न पानी से पालन किया फिर भी जैसे हॅस के वच्चे पंख निकलते ही दिशाविदिशा में (इघर उघर) स्वेच्छा- नुसार उड़ जाते हैं वैसे ही गुरु को छोड़कर ये शिष्य अकेले ही स्वच्छंदता से विचरते हैं।
- (१५) जैसे गरियार वैल का सारथी ( हांकनेवाला गाड़ीवान ) दुःख उठाता है वैसे ही गर्ग्याचार्य अपने ऐसे कुशिष्यों के होने से खेदखित्र होकर यह कह रहे हैं कि 'जिन शिष्यों से मेरी आत्मा क्लेशित हो ऐसे दुष्ट शिष्य किस काम के ?'।
- (१६) श्राड़ियल टट्टू जैसे मेरे शिष्य हैं—ऐसा विचार कर गर्याचार्य मुनीश्वर उन श्राड़ियल टट्टुश्रों को छोड़कर एकान्त में तप साधन करते हैं।
- (१७) उसके वाद वे सुकोमल, नम्नतायुक्त, गम्भीर, समाधिवंत श्रीर सदाचारमय श्राचार से समन्वित गर्ग्याचार्य महात्मा वसुधा (पृथ्वी) पर श्रकेले ही विहार करते रहे।
- टिप्पणी—जैसे गरियार वैळ गाड़ी को तोड़ डालता है, गाड़ीवान को दुखी करता है और अपने स्वच्छन्द से स्वयं भी दुःखी होता है वेसे ही स्वच्छन्दी शिष्य (साधक) संयम से पतित होजाता है। वह अपने आउम्बन रूपी सद्गुह आदि का यथेष्ट लाभ नहीं ले सकता और अपनी आत्मा को भी कलुपित करता है। स्वतन्त्रता के वहाने से बहुत से लोग प्रायः स्वच्छन्दता की ही पुष्टि करते रहते हैं। वस्तुत विचार किया जाय तो मालूम पड़ेगा कि स्वच्छन्दता भी एक तरह की स्क्ष्म परतंत्रता ही है और महापुर पों के प्रति को

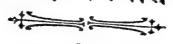
अर्पणता दिखाई जाती है वह यद्यपि ऊपर से परतंत्रता रूप मालूम होती है किन्तु वह वास्तव में स्वतन्त्रता है। ऐसी स्वतन्त्रता का उपासक ही आत्ममार्ग में आगे वढ़ सकता है।

ऐसा में कहता हूँ—

् इस प्रकार 'खळुंकीय' नामक सत्ताईस्वां श्रध्ययन समाप्त हुआ।



## मोचमार्गगति



## मोत्तमार्ग पर गमन

#### २८

यानमात्र जीवों का जद्य एकमात्र मुक्ति, निर्वाण या मोद्दा प्राप्ति ही है। दुःखों प्रथवा कपायों से सर्वथा दूर जाने को मुक्ति कहते हैं। कर्मवंधन से दूर जाना ही मुक्ति हैं; शान्ति स्थानकी प्राप्ति होना ही निर्वाण है। इस स्थिति में ही सब मुख समाये हैं।

जैनधर्म इन समस्त सांसारिक पदार्थों को दो भागों में विमक्त करता है: (१) जड ( अजीव ), तथा (२) चेतन ( जीव ) और इन दोनों तत्त्वों के सहायक तथा आधारभूत तत्त्व, जैसे कि अर्म, अधर्म, आकाश तथा काज इन सवको मिजाकर है तत्त्वों में इस समस्त जोक का समावेश होजाता है।

इससे सिद्ध हुआ कि जीवातमा की पहिचान—अर्थात जीवातमा के सच्चे खरूप की प्रतीति—होना यही सबसे अधिक आवश्यक है। ऐसी प्रतीति का होना ही सम्यग्दर्शन है।

मतीतिके होने के बाद भात्माके भागपम भाग की जो चिन-।।र चमक उठती हैं उसीको सम्यग्धान-सच्चा हान-कहते हैं। इस उत्तम स्थिति को प्राप्त करने में शास्त्रश्रवण, श्रात्म-चिन्तन, सत्संग तथा सद्वांचन श्रादि सब उपकारक साधन हैं। इन निमित्तों के द्वारा सत्य को जानकर, विचार कर तथा श्रजु-भव करके श्रागे बढ़ना यही प्रत्येक मुमुद्ध श्रात्मा का कर्तव्य होना चाहिये।

#### भगवान वोलेः—

- (१) जिनेश्वर भगवानों ने यथार्थ मोच का मार्ग जैसा प्ररूपित किया सो कहता हूँ, उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो। वह मार्ग चार कारणों से संयुक्त है और वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप लक्ष्मणात्मक है।
- टिप्पग्गी—यहाँ 'ज्ञानदर्शन लक्षण' विशेषण प्रयुक्त करने का कारण यह है कि मोक्ष मार्ग में इन दोनों गुणों की सबसे अधिक प्रधा-नता है।
- (२) (१) ज्ञान (पदार्थ की यथार्थ समभ), (२) दर्शन (तत्त्वों-पदार्थों की यथार्थ श्रद्धा), (३) चारित्र (त्रतादि.का श्राचरण), तथा (४) तप—इन चार प्रकारों से युक्त सोक्ष का मार्ग है—ऐसा केवलज्ञानी जिनेश्वर भगवान ने फर्माया है।
- टिप्पााी—चारित्र धारण करने से नवीन कर्मों का वन्धन नहीं होता, इतना ही नहीं किन्तु पूर्व संचित कर्मी का क्षय भी होता है।
- (३) ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप से संयुक्त इस मार्ग को प्राप्त हुए जीव सद्गति में जाते हैं।
- (४) इन चार में से प्रथम—अर्थात् ज्ञान के ५ भेद हैं जिनके

नाम क्रम से (१) मितज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) श्रवधिक्षान (४) मनः पर्ययज्ञान, श्रौर (५) केवलज्ञान, है।

टिप्पणी—इन सब ज्ञानीं का सविस्तर वर्णन नन्दी आदि आगमीं में है।

- (५) ज्ञानी पुरुषों ने द्रव्य, गुगा तथा उनकी समस्त पर्यार्थे जानने के लिये उक्त पांच प्रकार का ज्ञान वताया है।
- टिप्पण्ति—पर्याय अर्थात् एक ही पदार्थं की बदलती हुई भवस्थाएं। वे समस्त पदार्थों एवं गुणों में होती रहती हैं।
- (६) गुण जिसके आश्रय रहते हैं उसे द्रव्य कहते हैं श्रीर एक द्रव्य में वर्ण, रस, गंध, स्पर्श तथा ज्ञानादि जो धर्म रहते हैं उन्हें उस द्रव्य के गुण कहते हैं। द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रय जो रहती हैं उन्हें पर्योग कहते हैं।
  - टिप्पणी—जैसे आत्मा एक द्रव्य है, ज्ञानादि उसके गुण हैं और कर्म-वकात् वह भिन्न भिन्न रूप धारण करता है तो उन्हें उसकी पर्याय कहेंगे।
  - (७) केवली जिनेश्वर भगवानों ने इस लोक को धर्मास्तिकाय, श्रधर्मास्तिकाय, श्राकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय तथा जीवास्तिकाय इन पड् द्रव्यात्मक वताया है।
    - टिप्पणी—"अस्तिकाय" शब्द जैन दर्शन का समूहवाची पारिभापिक शब्द है। अस्तिकाय शब्द की ब्युत्पत्ति—अस्ति (है) काय (यह प्रदेश) जिनके ऐसे पदार्थ अर्थात् काल द्रव्य को छोड़ कर उपरोक्त पांची पदार्थ।

- (८) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय ये तीनों १-१ द्रव्य हैं तथा काल, पुद्गल तथा जीव ये तीनों द्रव्य संख्या में अनन्त हैं।
- टिप्पणी—समय गणना की अपेक्षा से यहां काल की अनन्तता का विधान किया है।
- (९) चलने (गित) में सहायता करना यह धर्मास्तिकाय का लक्षण है। और ठहरने में मदद करना यह श्रधमीस्ति- काय का लक्षण है। जिसमें सब द्रव्य रहते हैं उसे श्राकाश द्रव्य कहते हैं और सबको स्थान देना यह उसका लक्षण है।
- (१०) पदार्थ की क्रियाओं के परिवर्तन पर से समय की जो गणना होती है वह काल का लचण है। उपयोग (ज्ञानादि व्यापार) जीव का लचण है और वह ज्ञान, दर्शन, सुख-दु:ख आदि द्वारा व्यक्त होता है।
- (११) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग ये जीव के विशिष्ट लच्चण हैं।
- (१२) शब्द, ऋंधकार, प्रकाश, कान्ति, छाया, ताप, वर्णे (रंग) गंध, रस, तथा स्पर्श ये सब पुद्गलों के लक्ष्मण हैं।
- टिप्पणी—'पुद्गल' यह जैन दर्शन में जड़ पदार्थों के अर्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द है।
- (१३) इकट्ठा होना, विखर जाना, संख्या, श्राकार (वर्णीदि का) संयोग तथा वियोग-ये सभी कियाएं पर्यायों की बोधक हैं, इसलिये यही इनका (पुद्गलों का) लक्षण सममना चाहिये

- (१४) जीव, श्रजीव, पुर्य, पाप, श्रास्त्रव, संवर, निर्जरा, वंध श्रीर मोक्ष ये नौ तत्त्व हैं ।
- (१५) स्वाभाविक रीति ( जातिस्मरण ज्ञान इत्यादि ) से या किसी दूसरे के उपदेश से आवपूर्वक उक्त समस्त पदार्थों की श्रद्धा करना—उसे महापुरुप समकित ( सम्यक्त्व ) कहते हैं।
- टिप्पणी—सम्यक्त अर्थात् यथार्थं आत्मभान होना । जैन दर्शन में वर्णित १४ गुणास्थानकों में से चौथे गुणस्थानक से ही आत्मविकास प्रात्मम होता है और उस प्रात्म्भ को ही 'सम्यक्त्व' कहते हैं।
- (१६) (१)निसर्गरुचि, (२) उपदेशरुचि, (३) आज्ञारुचि, (४) सूत्र-रुचि, (५) वीजरुचि, (६) श्रिभगम रुचि, (७) विस्तार रुचि, (८) क्रिया रुचि, (९) संचेप रुचि, (१०) धर्मरुचि, —इन दस रुचियों से तरतम (हीनाविक) रूप में समिकत की प्राप्ति होती है।
- (१७) जीव, श्रजीव, पुण्य, पाप, श्रास्त्रव, संवर, निर्जरा, वंघ, वथा मोक्ष—इन ९ पदार्थों का यथार्थ रूप से जाति-स्मरणादि ज्ञान द्वारा जानकर श्रद्धान करना उसे 'निसर्ग रुचि सम्यक्त्व' कहते हैं।
- (१८) जो पुरुष जिनेश्वरों द्वारा अनुभूत भावों को द्रव्य से, चेत्र से, काल से तथा भाव से स्वयमेव जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा जानकर, तत्त्वका स्वरूप ऐसा ही है—अन्यथा नहीं है, ऐसा श्रहण श्रद्धान करता है उसे 'निसर्गरुचि सम्य-क्ती' कहते हैं।

- (१९) केवली भगवान श्रयवा खदास्य गुरुश्रों द्वारा उपदेश सुन कर जो उपर्युक्त भावों का श्रद्धान करता है उसे 'उपदेश रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।
- (२०) जो जीव राग, द्वेष, मोह श्रथवा श्रज्ञान रहित गुरू (श्रथवा महापुरुष ) की श्राज्ञा से तत्त्व पर रुचिपूर्वक श्रद्धा करता है उसे 'श्राज्ञारुचि सम्यक्त्वो' कहते हैं।
- (२१) जो जीव श्रंगप्रविष्ट श्रथवा श्रंगवाह्य सूत्र पढ़कर उनके द्वारा समिकत की प्राप्ति करता है उसे 'सूत्र रुचि सम्य-क्ती' कहते हैं।
- टिप्पणी—आचारांगादि अंगों को अंगप्रविष्ट कहते हैं, इनके सिवायः बाकी के सभी सूत्र अंगवाद्य कहलाते हैं।
- (२२) जिस तरह जल पर तेल की चूंद फैल जाती है और एक बोज के बोने से सैकड़ों हजारों बीजों की प्राप्ति होती है उसी तरह एक पद से या एक हेतु से बहुत से पद बहुत से हष्टांत और बहुत से हेतुओं द्वारा तत्त्व का श्रद्धान बढ़े और सम्यक्त्व की प्राप्ति हो तो ऐसे जीव को 'बीज हिंच सम्यक्त्वी' कहते हैं।
- (२३) जिसने ग्यारह अंग तथा दृष्टिवाद तथा इतर सभी सिद्धान्तो को अर्थ सिहत पढ़कर सम्यक्त की प्राप्ति की हो उसे 'श्रिभिगम रुचि सम्यक्ती' कहते हैं।
- (२४) ६ द्रव्यों के सब भावों को जिसने सब प्रमाणों तथा नयों से जानकर सम्यक्त की प्राप्ति की हो उसे 'विस्तार रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।

- टिप्पण् प्रमाण के एक अंश को नथ कहते हैं। नय अर्थात् विचारीं का वर्गी दरण। उसके सात भेद हैं (१) नैगम, (२) संग्रह, (३) व्यवहार, (४) ऋज मृत्र, (५) शद्द, (६) समिम् रूढ़, (७) प्वंभृत । प्रमाण के मुख्य दो एवं विस्तृत ४ भेद हैं:—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान (३) उपमान, (४) तथा आगम। यावन्मात्र पदार्थी के ज्ञान में नय तथा प्रमाण की आवश्यकता रहती है।
- (२५) सत्यदर्शन तथा ज्ञान पृर्वक, चारित्र, तप, विनय, पांच समिति च्यौर तीन गुप्तिच्यों त्रादि शुद्ध क्रियाएं करते हुए जो सम्यक्त्व प्राप्त करता है उसे 'क्रिया रुचि सम्यक्त्वी' कहते हैं।
- (२६) ऐसा जीव जो असत् मत, वाद अथवा दर्शन में फंसा नहीं है अथवा सत्य सिवाय अन्य किसी भी वाद को नहीं मानता है फिर भी वीतराग के प्रवचन में अति निपुण नहीं है। (अर्थान् वीतराग मार्ग की अद्धा यद्यपि शुद्ध है किन्तु विशेष पढ़ा लिखा नहीं है) उसे 'संनेष रुचि सस्य-क्सी' कहते हैं।
- (२७) जो जीव भगवान् जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित श्रास्तिकाय (द्रव्य), श्रुत (शास्त्र) धर्म तथा चारित्र का याथा तथ्य श्रद्धान करता है 'उसे धर्म रुचि सम्यवस्त्री' कहते हैं।
  - (२८) (१) परमार्थ (तत्त्व) का गुण-कीर्तन करना, (२) जिन महापुरुपों ने उस परमार्थ की सिद्धि की है उनकी सेवा करना, तथा (३) जो मार्ग से पतित होगये हैं,

द्यथवा द्यसत्य दर्शन या वाद में तिश्वास करते हैं ऐसे पुरुषों से दूर रहना।

इन तीन गुणों से सम्यक्त की श्रद्धा प्रकट होती है (श्रथीत् इन गुणों को निभाने से सम्यक्त्व श्रद्धापूर्वक टिका रहता है)।

(२९) सम्यक्तव विना सम्यक् चारित्र हो ही नहीं सकता श्रौर जहां सम्यक्त्व होता है वहां चारित्र हो श्रौर न भी हो यदि सम्यक्तव श्रौर चारित्र की उत्पत्ति एक ही साथ हो तो उसमें सम्यक्त्व की उत्पत्ति पहिली सममानी चाहिये।

टिप्पग्री—सम्यवस्य यह चारित्र की पूर्ववर्ती स्थिति है। यथार्थ जाने बिना आचरण करना केवल निरर्थंक है।

- (३०) दर्शन विना ( सम्यक्त रहित ) ज्ञान नहीं होता । ज्ञान के विना चारित्र के गुण नहीं होते और चारित्र के गुणों के विना ( कर्म से ) मुक्ति भी नहीं मिलती और कर्म से छुटकारा पाये विना निर्वाणगित ( सिद्धपद ) को भी प्राप्ति नहीं होती।
- (३१) नि:शंकित (जिनेश्वर भगवान के वचनों में शंका न करना), नि:कांक्षित (असत्य मतो या सांसारिक सुखो की इच्छा न करना), निर्विचिकित्स्य (धर्म फल में संशय रहित होना), अमूढ़ दृष्टि (बहुत से मतमतांतरो को देखकर दिङमूढ़ न बने किन्तु अपनी श्रद्धा को अड़ग बनाये रक्खे,) उपवृंहा, (गुणी पुरुषों को देखकर उनके गुण की प्रशंसा करना और वैसे ही गुणी होने की

कोशिश करना), स्थिरीकरण (धर्म से शिथिल होते हुओं को पुनः धर्म मार्ग पर दृढ़ करना), वात्सल्य (स्वधर्म का हित करना और साधिमयों के प्रति प्रेमभाव रखना), और प्रभावना (सत्य धर्म की उन्नित तथा प्रचार करना), ये छाठ गुण सम्यक्त के अंग हैं।

- (३२) प्रथम सामायिक चारित्र, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहार विद्युद्ध चारित्र, तथा चौथा सृहम संपराय चारित्र ।
- (३३) तथा पांचवां कपाय रहित यथाख्यात चारित्र (यह ग्यार-हवें या वारहवें गुणस्थानकवर्ती छद्मस्थ को तथा केवली को ही होता है। इस प्रकार कर्म को नाश करने वाले चारित्र के ५ भेद कहे हैं।
- टिप्पण्णि—पंच महात्रत रूप प्राथमिक भूमिका के चारित्र को सामा-त्रिक चारित्र कहते हैं। वाद में सामायिक चारित्र काल को छेद (सीमोइंचन) करके जो पष्टा चारित्र धारण किया जाता है। उसे छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। उच प्रकार के ज्ञान तथा तपश्चर्या प्र्वंक नौ साधुओं के साथ डेढ़ वर्ष तक चारित्र पालना इसको परिहार विद्युद्धि चारित्र कहते हैं और सृक्ष्म संयराय देवल स्क्ष्म कपाय वाले चारित्र को कहते हैं।
  - (३४) अन्तरिक तथा वाह्य ये दो भेद तप के हैं। वाह्य तथा आन्तरिक इन दोनों तपों के ६-६ भेद और हैं।
    - टिप्पर्गा—तपश्चर्या का विशेष वर्णन जानने के विये तीसवां अध्ययन परो।
      - (34) जीवात्मा ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर

श्रद्धा करता है, चारित्र से श्राते हुए कमें को रोकता है। श्रीर तप से पहिले के कमों का क्षय कर शुद्ध होता है।

(३६) इस प्रकार संयम तथा तप द्वारा पूर्व कर्मी को खपाकर सर्व दुःख से रहित होकर महर्षिजन शीव्र ही मोच गति प्राप्त क्रते हैं।

#### ऐसा मैं कहता हूँ-

इस तरह 'मोत्तमार्गगित' नामक श्रद्वाईसवाँ श्रध्ययन समाप्त हुत्रा।



## सम्यक्त पराक्रम

## सम्यग्दरीन की महिमा

38

किन्तु संसार में उसका उपयोग जुदी जुदी रीति से जुदे २ रूप में होता हुआ देखा जाताहै और उसी से जीवों की भूमिकाएं (श्रेगी) माल्म होती हैं। जो कोई प्राप्त शस्त्र का उपयोग अपनी रक्ता में न कर अपने ऊपर प्रहार करने में ही करता है वह मूर्ज है—महामूर्ज है, उसे बुद्धिमान कोन कहेगा? उसी तरह इस भवोदिध को पार कर जाने के सार्थन पास रखते हुए भी जो इसीमें इय जाता है उसे वाल जीव न कहें तो क्या कहें?

ज्यों २ ऐसा वाज-भाव मिटता जाता है त्यों २ साथ ही साथ उसकी दृष्टि भी वद्वती जाती है। इस दृष्टि को जैन नि में एक विशिष्ट नाम दिया है और उसकी समिकत दृष्टि हैं। यह दृष्टि प्राप्त कर जो कुछ भी पुरुपार्थ किया जाता की सच्चा पुरुपार्थ है, वहीं सच्चा पराक्रम है।

यावनमात्र जीव मोत्त के साधक हैं। कौन ऐसा है जो दुःखसे छूटना नहीं चाहता? कौन ऐसा है जिसे सुख प्रिय नहीं है ? यह अवस्था केवल मोत्त में ही प्राप्त होती है। इस-िलये भले ही जगत में असंख्य मत-मतान्तर हों, भले ही सब की मान्यताएं जुदी हों फिर भी दुःख का अन्त सभी चाहते हैं आरे वे प्रकारान्तर से मोत्त चाहते हैं—ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। मोत्तप्राप्ति ही सब का ध्येय है, उस ध्येय की प्राप्ति की समिका यह संसार हैं; उसमें भी मनुष्यभव की प्राप्ति उसकी साधना का विशेष उच्च स्थान है और यदि इस जन्म में प्राप्त साधनों का सुमाग में प्रयोग किया जाय तो साधक की वह अनन्तकालीन साधना सफल हो जाती है—वह अतृत्त पिपासा अमृत पान से तृत्त हो जाती है और मुक्ति-लहमी स्वयमेव इसकी शोध करती हुई चली आती है। जहां सबल पराक्रम होता है वहां कौन सी अद्भि सिद्ध अलभ्य रहती है।

जैसे जीव भिन्न २ होते हैं वैसे ही उनके साधनों एवं प्रकृति में भी भिन्नता होती है इसिंजिये सम्यक्त पराक्रम के भिन्न २ साधन भिन्न २ रूप से यहां ७३ भेदों में कहे हैं जिनमें से कुछ तो सामान्य, कुछ विशेष और कुछ विशेषतर कठिन हैं। इनमें से अपने २ इष्ट साधनों को छांट कर प्रत्येक साधक को पुरुषार्थ में प्रयत्न तथा विचार करना श्राति श्रावश्यक है।

सुधर्मस्वामी ने जम्बस्वामी से कहाः हे आयुष्मन् ! उन भगवान महावीर ने इस । प्रकार कहा था यह मैंने सुना है। यहां पर वस्तुतः अमण भगवान काश्यप महावीर प्रभु ने सम्यक्त्व पराक्रम नामक अध्ययन का वर्णन किया है।

जिनको सुन्दर रीति से सुन कर. उनपर विश्वास तथा श्रद्धा जाकर, (श्रद्धग विश्वास जाकर) उनपर रुचि जमाकरः उनको प्रहण कर, उनका पालन कर, उनका शोधन, कीर्तन, तथा प्राराधन करके तथा (जिनेश्वरों की) प्राज्ञानुसार पालन कर वहुत से जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए हैं, परिनिर्वाण प्राप्त हुए हैं और उनने अपने सव दुःखों का अंत कर दिया है।

उसका यह श्रर्थ इस प्रकार क्रमसे कहा जाता है; यथाः— (१) संवेग (मोन्नाभिलापा), (२) निर्वेद (वेराग्य), (३) धमेश्रद्धा, (४) गुरुसाधर्मिकसुश्रृषणा (महापुरुषों तथा साधर्मियों की सेवा ), ( ४ ) श्रालोचना (दोपों की विचारणा) (६) निन्दा ( अपने दोपों की निन्दा ), (७) गहां (अपने दोपों का तिरस्कार), (=) सामायिक ( श्रात्मभाव में लीन होने की किया), (९) चतुर्विशतिस्तव (चौवीस तीर्धकरीं की स्तुति ), (१०) वंदन, (११) प्रतिक्रमण (पाप का प्रायश्चित करनेकी क्रिया ), (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान ( त्याग की प्रतिश्चा करना ), ( १४ )स्तवस्तुतिमंगल ( गुणीजन की स्तुति ), (१४) काल प्रतिलेखना (समय निरीक्तण ), (१६) प्रायश्चित्तकरण (प्रायश्चित्त क्रिया ) (१७) क्तमापना, (१८) स्वाध्याय, (१९) वांचन, (२०) प्रति-प्रच्छना, (प्रश्नोत्तर), (२१) परिवर्तना (प्रभ्यास का पुन-रावर्तन ), (२२) अनुप्रेत्ता (पुनः २ मनन करना ), (२३) धर्मकथा, (२४) शास्त्राराधना ( ज्ञानप्राप्ति ), (२५) विस की एकायता, (२६) संयम, (२७) तप, (२०) व्यवदान (कर्म का द्वय ), (२६) सुखशाय (सन्तोप ), (३०) अप्रतिबद्धता (भ्रानासक्ति), (३१) एकांत भासन, शयन तथा स्थान का सेवन, (३२) विनिर्वर्तना (पाप कर्म से निवृत्त होना), (३३) संमोग प्रत्याख्यान (स्वावलम्बन), (३४) उपधि प्रत्याख्यान, ्य अनावश्यक वस्तुश्रों का त्याग श्रथवा वस्त, पात्र इत्यादि का

त्याग ), (३६) ब्याहार प्रत्याख्यान, (३६) कषाय प्रत्याख्यान (३७) योग प्रत्याख्यान (पाप किंवा मन, वचन, तथा काय की दुष्प्रवृत्ति रोकना ), (३८) शरीर का त्याग, (३६) सहायक की त्याग, (४०) भक्तप्रत्याख्यान, ( अनशन-अपना अन्तकाल श्राया जानकर श्राहार का सर्वथा त्यागं करना ), (४१) स्वभाव अत्याख्यान ( दुष्ट प्रकृतियों से निवृत्त होना ), (४२) प्रतिरूपता ( मन वचन तथा काय की एकता ), (४३) वैयावृत्य ( गुणीजन की सेवा ), (४४) सर्वगुणसम्पन्नता ( श्रात्मिक सब गुणों की प्राप्ति ), (४५) वीतरागता ( रागद्वेष से विरक्ति ), (४६) त्तमा, (४७) मुक्ति ( निलीभता ), (४८)सरलता (मायाचार का त्याग) (४१) मृदुता ( निरभिमानता ), (४०) भावसत्य (शुद्ध अन्तः करण), (४१) करणसत्य (सची प्रवृत्ति), (४२) योगसत्य (मन, वचन थ्रौर काय का सत्यरूप व्यापार), (४३) मनो गुप्ति (मन का संयम), (४४) वचन गुप्ति (वचन का संयम), र्(४४)काय गुप्ति (काय का संयम), (४६) मनः समाधारणा (मन को सत्य में एकात्र करना ) (४७) वाक् समाधारणा (योग्य मार्ग में वचन का उपयोग ), (४२) काय समाधारणा (केवल सत्याचरण में शरीर की प्रचृत्ति करना), (४१) ज्ञानसम्पन्नता ( ज्ञान की प्राप्ति ), (६०) दर्शन सम्पन्नता ( सम्यक्त्व की प्राप्ति (६१) चारित्र सम्पन्नता ( शुद्ध चारित्र की प्राप्ति ), (६२) अोत्रेन्द्रिय निग्रह (कान का संयम), (६३) श्रांख का संयम, /ईंध) घ्रायोन्द्रिय (नाक का) संयम, (ईध) जीभ का संयम, ८६६) रूपर्शेन्द्रिय का संयम, (६७)क्रोध विजय, (६८) मान विजय, (६१) माया विजय, (७०) लोभ विजय, (७१) रागद्वेष तथा मिथ्यादर्शन (खोटे श्रदान) का विजय, (७२) शैलेशी (मन, वचन के भोगों को रोकना, पर्वत जैसी श्रडोल-श्रकंप स्थिति का प्राप्त होना ), तथा (७३) अकर्मता (कर्म रहित अवस्था)।

## भगवान वोलेः—

(१) शिष्य पृंजता है कि—हे पृज्य ! संवेग ( मुमु ता ) से जीवातमा क्या प्राप्त कर सकता है ? ( कौन से गुण को प्राप्त होता है ) ? गुरु बोले: —हे भद्र ! संवेग से श्रनुत्तर धर्मश्रद्धा जागृत होती है श्रौर उस श्रपूर्व श्रात्मश्रद्धा से शीव ही वेराग्य उत्पन्न होता है और वह वैराग्य अनंता-नुवंधी क्रोध, सान, माया श्रौर लोभ का नाश करता है। ( इस समय कपायों का उपशम, क्षय अथवा चयोपशम-इन तीनों में से योग्यतानुसार कोई एक श्रवस्था होती है )। ऐसा जीवात्मा नर्वान कमों को नर्दा वांधवा श्रौर कर्मयंथन का निमित्त कारण मिथ्यात की शुद्धि कर सम्य-क्त का श्राराधक होता है। सम्यक्त की उच प्रकार की विशुद्धि होने ( त्तायिक सम्यक्त की उच स्थिति ) से कोई कोई जीव तद्भवमोक्षगामी होते हैं श्रीर जो उसी जनम में मोच में नहीं जाते वे त्रात्मविशुद्धि के कारण तीसरे जनम में तो श्रवश्य मोक्षगामी होते हैं।

टिप्पणी—क्षायिक सम्यग्दष्टि जीव संसार में ३ भव से अधिक भव नहीं करते।

(२) हे पूज्य ! जीवात्मा को निर्वेद ( निरासक्ति ) से कीन कीन गुण प्राप्त होते हैं।

> गुर्र ने कहा—हे भद्र ! निर्वेद से यह जीवात्मा देव, मनुष्य तथा पशु संबंधी समस्त प्रकार के काम-भोगों से शीत्र ही श्रासिक रहित हो जाता है श्रीर

इस कारण सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त हुआ वह समस्त आरम्भ (पापिक्रया) का परित्याग कर देता है। आरंभ का परित्याग कर वह भवपरंपरा का नाश क्रमपूर्व क कर डालता है और मोच-मार्ग पर गमन करता है।

(3) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! धर्मश्रद्धा, से जीव को क्या फल प्राप्त होते हैं ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! धर्मश्रद्धा होने से सातावेदनीय (कर्म से प्राप्त हुए) सुख मिलने पर भी वह उसमें
लिप्त नहीं होता है और वह वैराग्यधर्म को प्राप्त होता है।
वैराग्यधर्म को प्राप्त हुआ वह गृहस्थाश्रम को छोड़ देता
है। गृहस्थाश्रम को छोड़ कर वह अग्रगार (त्यागी)
धर्म को धारण कर शारीरिक तथा मानसिक छेदन, भेदन,
संयोग तथा वियोग जन्य दुःखों का नाश कर देता है (नूतन
कर्मवंधन से निवृत्त होकर पूर्वकर्म का क्षय कर डालता है)
और अव्यावाध (वाधारहित) मोक्षसुख को प्राप्त होता है।
(४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! गुरुजन तथा साधर्मीजनों की

सेवा करने से जीव को क्या फल प्राप्त होते हैं ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! गुरुजन और साधर्मीयों की
सेवा करने से सची विनय (मोक्ष के मूल कारण) की
प्राप्ति होती है। विनय की प्राप्ति से सम्यक्त्व को रोकने—
वाले कारणों का नाश होता है और उसके द्वारा वह जीव

नरक, पशु, मनुष्य, तथा देवगित सम्वन्धी दुर्गित को अटकाता है श्रौर जगत में वहुमान कीर्ति को प्राप्त होल है तथा अपने अनेक गुणों से शोभित होता है। सेवा-भक्ति के अपने अपूर्व साधन द्वारा वह मनुष्य तथा देव-गति को प्राप्त करता है; मोच्च तथा सद्गति के मार्ग (ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र) को विशुद्ध वनाता है अर्थात् विनय प्राप्त होते ही वह सर्व प्रशस्त कार्यों को साथ लेता है और साथ ही साथ दूसरे जीवों को भी उसी मार्ग में प्रेरित करता है।

(५) शिष्य ने पूंछा—हे पूच्य ! श्रालोचना करने से जीवा-स्मा को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आलोचना करने से जीवातमा; माया, निदान तथा मिथ्यात्व ( असद् दृष्टि )—इनः
तीनों शस्यों को, जो मोचमार्ग में विश्वहृप हैं तथा संसार
वंधन के कारण हैं उनको दूर करता है और ऐसा कर
वह अलभ्य सरलता को प्राप्त कर लेता है। सरल जीवः,
कपटरहित हो जाता है और इससे ऐसा ( सरल ) जीव
स्तिवेद अथवा नपुंसकवेद का वंध नहीं करता और यदि
कदाचित उनका पूर्व में वंध होचुका हो तो उसका भी
नाश कर डालता है।

टिप्पर्णा—खीवेद अर्थात् वे कर्मश्रकृति जिनसं स्त्री का छिंग तथा शरीर मिछता है।

(६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! आत्मनिंदा से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! आत्मदोषों की आलोचनाः करने से पश्चात्तापरूपी भट्टी सुलगती है और वह पश्चा-

त्ताम की मट्टी में समस्त दोषों को हाल कर वैराग्य प्राप्त करता है। ऐसा विरक्त जीव अपूर्वकरण की श्रेणी (क्षपक-श्रेणी) प्राप्त करता है और क्षपकश्रेणी प्राप्त करनेवाला जीव शीव ही मोहनीय कर्म का नाश करता है।

टिप्पणी—कर्मों का सविस्तार वर्णन जानने के छिये तेतीसवां अध्य-यन पढ़ो।

(७) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! गर्हा (त्रात्मिनंदा) करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! गर्ही करने से आत्मनम्रता की प्राप्ति होती है और ऐसा आत्मनम्र जीव; अप्रशस्त कर्मबंधन के कारणभूत अग्रुभ योग से नियुत्त होकर शुभ-योग को प्राप्त होता है। ऐसा प्रशस्त योगी पुरुष अग्य-गार धर्म धारण करता है और अग्रुगारी होकर वह अन-नत आत्मधातक कर्मपर्यायों का समूल नाश करता है।

(८) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! सामायिक करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा — हे भद्र ! सामायिक करने से विराम ( श्रात्मसंतोष ) की प्राप्ति होती है ।

(९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चौवीस तीर्थकरों की स्तुति. करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुर ने कहा—हे भद्र ! चौवीस तीर्थकरों की स्तुति करने से श्रात्मदर्शन की विशुद्धि होती जाती है ।

टिप्पाणी-मनुष्य जैसा ध्यान किया करता है वैसा ही उसका आन्तरिक - वातावरण यन जाता है और अन्त में वह वैसा ही हो जाता है।

(१०) शिष्य ने पृंछा—हे पूच्य ! वंदन करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! वंदन करने से जीव ने यदि नीचगोत्र का वंध भी किया हो तो वह उसको छेद कर ऊँच गोत्र का वंध करता है (अर्थात् नीच वातावरण में पैदा न होकर उच वातावरण में पैदा होता है) और सौभाग्य और श्राज्ञा का सफल सामध्य को प्राप्त करता है (वहुत से जीवों अथवा समाज का नेता वनता है) और दाक्षिण्यभाव (विश्ववह्नभता) को प्राप्त होता है।

(११) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! प्रतिक्रमण के द्वारा जीवात्मा प्रहण किये हुए त्रवों के दोपों को दूर कर सकता है । ऐसा शुद्ध त्रवधारी जीव हिंसादि के आस्रव से निवृत्त होकर श्राठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और विशुद्ध चारित्र को प्राप्त होकर संयमयोग से श्रलग न हो कर श्राजनम संयम में समाधिपूर्वक विचरता है।

(१२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! कायोत्सर्ग करने से जीवको क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कायोत्सर्ग से भूत तथा वर्तमान काल के दोपों का प्रायिश्वत कर जीव शुद्ध बनता है श्रीर जैसे भारवाहक ( कुली ) बोक उतरने से शान्तिपूर्वक विचरता है वैसे ही ऐसा जीव भी चिंता-रहित होकर प्रशस्त ध्यान में सुखपूर्वक विचरता है।

(१३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

गुरु ने कहा,—हे भद्र ! प्रत्याख्यान करनेवाला जीव श्राते हुए नये कमों को रोक देता है कमों के रोध होने से इच्छाश्रों का रोध होता है । इच्छारोध होनेसे सर्व पदार्थों में वह तृष्णा रहित होजाता है श्रीर तृष्णारहित जीव परम शान्ति में विचरता है ।

(१४) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव को किसकी प्राप्ति होती है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! स्तवस्तुतिमंगल से जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र रूपी बोधिलाभ को प्राप्त होता है और ऐसा बोधिलब्ध जीव देहान्त में मोन्नगामी होता है अथवा उच देवगित (१२ देवलोक, नव प्रैवेयक तथा ५ अनुत्तर विमान) की आराधना (प्राप्ति) करता है।

(१५) शिष्यः ने पूंछा — हे पूज्य! स्वाध्यायादि काल के प्रति-लेखन से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा — हे भद्र ! ऐसे प्रतिलेखन से जीवात्मा ज्ञानावरणीय कर्म को नष्ट कर डालता है ।

(१६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या प्राप्ति होती है ।

गुरु ने कहा—हे भद्र! प्रायिष्ठित करने वाला जीव पापों की विशुद्धि करता है और त्रत के अतिचारों (दोषों) से रहित होता है और शुद्ध मन से प्रायिश्चत्त प्रहण कर कल्याण के मार्ग और उसके फल की विशुद्धि करता है और वह कम से चारित्र तथा उसके फल (मोच) को प्राप्त कर सकता है।

(१७) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! चमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र! क्षमा से चित्त श्राहादित होता है श्रीर ऐसा श्राल्हादित जीव; उगल के यावन्मात्र जीवों (प्राणी, भूत, जीव तथा सत्व इन चारों) के प्रति मैत्रीभाव पैदा कर सकता है श्रीर ऐसा विश्वमित्र जीव; श्रपने भाव को विशुद्ध वनाता है श्रीर भावविशुद्धि-वाला जीव श्रन्त में निर्भय हो जाता है।

टिप्पण्णि—दूसरों के दोषों तथा भूलों पर निगाह न ढालने से चित्त प्रसन्न रहता है और इस सतत चित्तप्रसन्नता से विशुद्ध प्रेम विश्व-पर प्रकट होता है। न वह किसी को भय देता है और न उसे ही किसी से भयमीत होना पड़ता है।

(१८) (शिष्य ने पूंछा) हे पूज्य! स्वाध्याय करने से जीव को। क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा — हे भद्र ! स्वाध्याय करने से ज्ञानावर-ग्रीय कर्म का चय होता है । (१९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ? वांचन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु से कहा — हे भद्र ! वांचन से कमों की निर्द्धा होती है और सूत्रप्रेम होने से ज्ञान में वृद्धि होती है और ज्ञानप्राप्ति होने से तीर्थंकर भगवानों के सत्य धर्म का अवलंबन मिलता है और सत्यधर्म का सहारा मिलने से कमों की निर्जरा कर आत्मा कर्मरहित हो जाता है।

टिप्पग्गि—वांचन में स्ववांचन (अपने आप पढ़ना) तथा अध्ययन (किसी दूसरे के पास जाकर पढ़ना) इन दोनों का समावेश होता है।

(२०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! शास्त्रचर्चा करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! जो जीव शास्त्रचर्चा करता है वह महापुरुषों के सूत्रो तथा उनके रहस्य इन दोनों को समक सकता है। सूत्रार्थ का जानकार जीव शीध ही कांक्षामोहनीय कर्म का चय कर देता है। (यहां कांचा— मोहनीय का अर्थ चारित्रमोहनीय है)

(२१) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य ! सूत्रपुनरावर्तन करने से जीव को क्या लाभ है ।

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! जो जीव सूत्रपुनरावर्तन (पढ़े हुए पाठों का पुनरावर्तन ) करता है उसको अपने भूले हुए पाठ फिर याद हो जाते हैं और ऐसी आत्मा को अन्तरलिंध (शक्षरों का स्मरण) तथा पदलिंध। (पदों का स्मरण) होता है।

(२२) (शिष्य ने पृंछा:—) हे पृत्य ! श्रानुत्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ हे ?

गुरु ने कहा:—है भद्र! जो श्रनुप्रेचा (तत्त्व का पुनः २ चिन्तवन) करता है वह श्रायुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों का गाढ़ वंधनों से वंधी हुई कर्मश्रक्ठियों को शिथिल बनाता है। यदि वे लॅबी स्थिति की हों तो वह उन्हें खपाकर थोड़ी स्थिति की बना देता है। तीत्र रस (विपाक) की हों तो उन्हें कम रस की बना डालता है। वहुप्रदेशी हों तो उनको श्रत्पप्रदेशी बना डालता है। कदाचित श्रायुष्य कर्म का बंध हो श्रीर न भी हो (तद्भव मोचगामी हो) ऐसे जीव को श्रसाता वेदनीय कर्म का बंध नहीं होता श्रीर वह श्रनादि श्रनंत दीर्घकाल से चले श्राते हुए संसारहर्पा श्ररण्य (वन) को शीव्र ही पार होजाता है।

(२३) शिष्य ने पृंद्धाः—हे पूज्य ! वर्मकथा कहने से जीव को क्या लाम है ?

गुर ने कहा—हे भद्र! धर्मकथा कहने से निर्जरा होती है श्रीर जिनेश्वर भगवानों के प्वचनों की प्रभावना होती है श्रीर प्रवचनों की प्रभावना से भविष्यकाल में वह जीव केवल शुभक्रमों का ही बंब करता है ( श्रशुभ-फर्मों का शास्त्र रुक जाता है )।

(२४) शिष्य ने पूँछाः —हे पूज्य! स्त्रसिद्धान्त की त्राराधना में जीव को क्या लाभ है ? गुरु ने कहा:—हे भंद्र ! सूत्र की श्राराधना करने से जीवात्मा का श्रज्ञान दूर होता है श्रीर श्रज्ञानरहित जीव कभी भी कहीं पर भी दु:ख नहीं पाता है।

(२५) शिष्य ने पूंछा:—हे पूज्य! मन की एकाप्रता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! मन की एकायता से जीव अपने वित्तवृत्ति का निरोध करता है ( मन को अपने विशेष करता है ( सन को अपने विशेष करता है ( सन को अपने विशेष करता है )।

(२६) शिष्य ने पूंछा:—हे 'पूज्य'!' संयमधारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! जो जीव संयमधारणः करता है उसे अनास्रवत्वः ( त्राते हुए कर्मों का वंधः होना ) प्राप्त होता है ।

(२७) शिष्य ने पूँछा:—हे पूँच ! शुद्धंतप करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहाः—हे भद्र ! शुद्धतप करने से जीवात्मा अपने पूर्वसंचित कर्मों का चय कर मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति करता है।

(२८) शिष्य ने पूंछा:—हे पूच्य ! सर्व कर्मों के विखरने से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा:—है भद्रे! कमों के विखर जाने से जीवात्मा सर्व प्रकार की क्रियाओं से रहित हो जाता है स्रोर ऐसा जीव ही अन्त में सिद्ध, बुद्ध, तथा मुक्त होकर

द्यनन्तशांति को प्राप्त होता है और सब दुःखों का अन्त कर देता है।

(२९) शिष्य ने पूंछा—हे पूच्य ! विषयजन्य सुखों से दूर रहकर संतोषी जीवन विताने से क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र! संतोपीजीव व्याकुलता का नाश कर दंता है व्याकुलतारिहत जीव शांति का अनुभव करता है और शांतपुरुप ही स्थितवृद्धि होता है और ऐसा स्थितवृद्धि जीव हर्ष, विपाद अथवा शोकरिहत होकर चारित्रमोहनीय कमों का क्षय करता है।

टिप्पणीः-आत्मा को जो कमें संयम धारण नहीं करने देते उसे चारित्र-मोहनीय कमें कहते हैं।

(३०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! (विपयादि के) अप्रतिवंध से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! जो जीव विषयादि के वंधनों से अप्रतिबद्ध रहता है उसे असंगता (आसक्ति-हीनता) प्राप्त होती है। असंगता से उसे चित्त की एकाप्रता प्राप्त होती है और उससे वह जीव अहोरात्र किसी भी वस्तु में न वंधकर एकान्त शान्ति को प्राप्त होता है और आसक्तिरहित होकर विचरता है।

(३१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! एकान्त (स्त्री इत्यादि संग रिहत) स्थान, श्रासन तथा शयन से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा:—हे भद्र ! एकान्तसेवन से चारित्र का रच्या होता है और शुद्ध चरित्रधारी जीव रस्रासिक छोड़कर चारित्र में निश्चल बनता है। इस प्रकार एकान्तसेवी जीव श्राठों कर्मों के वंघनों को तोड़ कर श्रन्त में मोच लाभ करता है।

(३२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! विषयों की विरक्ति से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! विषयविरक्त जीवातमा के नवीन कमों का बंध नहीं होता है और पूर्वसंचित कमों का क्षय होता है और कमों के च्रय होने से चार गतिरूपी इस संसार अटवी को वह पार कर जाता है।

(३३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! संभोग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ है ?

गुरू ने कहा—हे भद्र! संभोंगों के प्रत्याख्यानसे जीव का परावलंबनपन छूट जाता है और वह स्वावलम्बी होता है। ऐसे स्वावलंबी जीव की योग प्रयुक्ति उत्तम अर्थ वाली होती है। उसे आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है और उसीमें उसे सन्तोष रहता है; दूसरी किसी भी वस्तु के लाभ की वह आशा नहीं करता। कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना तथा अभिलाषा इनमें से वह एक भी नहीं करता और इस प्रकार वह अस्पृही—अनभिलाषी होकर उत्तम प्रकार को सुखशय्या (शान्ति) को प्राप्त होकर विचरता है।

टिप्पणीः—संयमियों के पारस्परिक व्यवहार को, संभोग' कहते हैं। ऐसे मुनि को संभोग (अति परिचय) से दूर रहकर निर्लेष रहना चाहिये। (३४) शिष्य ने पृंद्धा—हे पृष्य ! उपिष (संयमी के उपकरणों ) का पचक्खाण करनें से जीव को क्या लाभ है ।

गुरु ने कहा—हे भद्र ! उपिध (, संयमी के उप-करण ) के प्रत्याख्यान से जीव उनको उठाने, रखने प्रथवा रज्ञा करने की चिन्ता से मुक्त होता है और उपिध-रहित जीव निस्पृही ( म्बाध्याय प्रथवा ध्यान चिन्तन में निश्चन्त ) होकर उपिध न मिलने से कभी दुःखीः नहीं होता।

(३५) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! सर्वथा स्नाहार के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! सर्वथा आहार त्याग करने की योग्यतावाला जीव आहार त्याग से जोवन की लालसा से छूट जाता है और जीवन की लालसा से छूटा हुआ जीव भोजन न मिलने से कभी भी खेदखिल नहीं होता।

(३६) शिष्य ने पृंछा—हे पृच्य ! कपायों के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! कषायों के त्याग से जीव को वीतराग भाव पैदा होता है और वीतराग भाव प्राप्त जीव के लिये मुखदु:ख सब समान हो जाते हैं।

(३७) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! योग ( मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ) के त्याग से जीवात्मा की क्या लाम है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! योग के त्याग से जीव अयोगी (योग की प्रवृत्ति रहित ) हो जाता है और ऐसा अयोगी जीव निश्चय से नये कर्मों का बंध नहीं करता है और पूर्वसंचित कर्मों का चय कर डालता है।

(३८) 'शिष्य ने पूँछा —हे पूज्य! शरीर त्यागने से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र! शरीर त्यागने से सिद्ध भगवान के अतिशय ( उच ) गुणभाव को प्राप्त होता है श्रीर सिद्ध के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह जीवात्मा लोकाम में जाकर परमसुख को प्राप्त होता है अर्थात् सिद्ध ( सर्व कर्मों से विमुक्त ) होता है।

(३९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! सहायक के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

ं गुरु ने कहा—हे भंद्र! सहायक का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्टेशी और अल्पभाषी होकर संयम, संवर और समाधि में बहुत हढ़ होता है।

(४०) शिष्य ने पूँछा — हे पूज्य ! श्राहार त्यागं की तपश्चर्या करनेवाले जीव को क्या लाभ होता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! आहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाला जीवात्मा अपने अनशन द्वारा सैंकड़ो भवों का नाश कर देता है ( अल्प संसारी होता है )।

(३४) शिष्य ने पृंद्धा—हे पृत्य ! उपिष्य (संयमी के उपकरणों ) का पश्चकाण करने से जीव को क्या लाभ है ।

> गुरु ने कहा—हे भद्र ! उपि ( संयमी के उप-करण ) के प्रत्याख्यान से जीव उनको उठाने, रखने अथवा रचा करने की चिन्ता से मुक्त होता है और उपिक-रहित जीव निष्ट्रही ( स्वाध्याय अथवा ध्यान चिन्तन में निश्चिन्त ) होकर उपिव न मिलने से कभी दुःखीः नहीं होता।

(३५) शिष्य ने पृंछा—हे पृष्य ! सर्वथा श्राहार के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

गुर ने कहा—हे भद्र ! सर्वथा आहार त्याग करने की योग्यतावाला जीव आहार त्याग से जोवन की लालसा से छूट जाता है और जीवन की लालसा से छूटा हुआ जीव भोजन न मिलने से कभी भी खेदिखन नहीं होता।

(३६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! कपायों के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा — हे भद्र! कपायों के त्याग से जीव को वीतराग भाव पैदा होता है और वीतराग भाव प्राप्त जीव के लिये मुखदु:ख सब समान हो जाते हैं।

(३७) शिष्य ने पूंछा—हे पूच्य ! योग ( मृन, वचन, काय की प्रवृत्ति ) के त्याग से जीवात्मा को क्या लाम है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! योग के त्याग से जीव अयोगी (योग की प्रयुत्ति रहित ) हो जाता है और ऐसा अयोगी जीव निश्चय से नये कर्मों का बंध नहीं करता है और पूर्व संचित कर्मों का च्रय कर डालता है।

(३८) शिष्य ने पूँछा —हे पूज्य! शरीर त्यागने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! शरीर त्यागने से सिद्ध भगवान के अतिशय ( उच ) गुणभाव को प्राप्त होता है और सिद्ध के अतिशय गुणभाव को प्राप्त होकर वह जीवात्मा लोकाय में जाकर परमसुख को प्राप्त होता है अर्थात् सिद्ध ( सर्व कमों से विमुक्त ) होता है।

(३९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! सहायक के त्याग से जीव को क्या लाभ है ?

ं गुरु ने कहा—हे भद्र । सहायक का त्याग करने से जीवात्मा एकत्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव प्राप्त जीव अल्पकषायी, श्रल्पक्टेशी और अल्पभाषी होकर संयम, संवर और समाधि में बहुत हु होता है।

(४०) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! त्राहार त्यागं की तपश्चर्या करनेवाले जीव को क्या लाभ होता है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! श्राहार त्याग की तपश्चर्या करनेवाला जीवात्मा श्रपने श्रनशन द्वारा सेंकड़ो भवों का नाश कर देता है (श्रह्य संसारी होता है)।

(४१) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! सर्व योगावरोध किया करने से जीव को क्या लाभ है ? गुरु ने कहा—हे भद्र! वृत्ति मात्र त्याग से यह जीवात्मा अनिवृत्तिकरण को प्राप्त होता है। अनिवृत्ति-प्राप्त जीव अणगार होकर केवलज्ञानी होता है और वाद में चार अघातियां कमों (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) का नारा कर डालता है। वाद में सिद्ध, वृद्ध और मुक्त होकर अनन्त शान्ति का उपमोग करता है।

(४२) शिष्य ने पूँछा — हे पृच्य ! प्रतिरूपता (त्रादर्शता—स्यविर-कल्पी की त्रान्तर तथा वाह्य उपाधिरहित दशा ) से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरू ने कहा—हे भद्र ! प्रतिरूपता से जीवातमा लघुताभाव को प्राप्त होता है श्रौर लघुताप्राप्त जीव श्रप्रमन्त रूप से प्रशस्त तथा प्रकट चिन्हों को घारण करता है श्रौर ऐसा प्रशस्त चिन्ह धारण करनेवाला निर्मल सम्यक्त्वी होकर समिति पालन करता है तथा सब जीवों का विश्वस्त जितेन्द्रिय तथा विपुल तपस्वी बनता है।

(४३) शिष्य ने पूँछा- हे पूज्य! सेवा से जीव को क्या लाभ है? गुरु ने कहा—हे भद्र! सेवा से जीवात्मा तीर्थंद्वर

नाम गोत्र का वंच करता है।

(४४) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! सर्व गुण प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र ! ज्ञानादि सर्व गुण प्राप्त होने पर संसार में पुनरागमन नहीं होता है श्रौर पुनरागमन न

होने से वह जीवात्मा शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से मुक्त होता है।

(४५) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वीतराग भाव घारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा — हे भद्र ! वीतराग पुरुष स्नेहवंधनों का नाश कर देता है तथा मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ, शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि विषयों में विरक्त हो जाता है।

टिप्पर्गाः—वीतरागता यहां केवल वैराग्यस्वक है।

(४६) शिष्य ने पूँछा —हे पूच्य! ज्ञमा धारण करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा — हे भद्र ! चमा घारण करने से जीव विकट परिषहों को जीत लेने की क्षमता प्राप्त करता है।

((४७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! निर्लोभता से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा हे भद्र ! निर्लोभी जीव अपरियही होता है और उन कष्टों से बच जाता है जो धनलोलुपी पुरुषों को सहने पड़त हैं। निर्लोभी जीव ही निराकुल रहता है।

(४८) शिष्य ने पूँछा —हे पूज्य । निष्कपटता से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! निष्कपटता से जीव को मन, वचन श्रीर काय की सरलता प्राप्त होती है। ऐसा सरल पुरुष किसी के साथ भी प्रवंचना (ठगाई) नहीं करता है श्रीर ऐसा पुरुष धर्म का श्राराधक होता है।

- (४९) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! मृहुता से जीव को क्या लाभ है ?

  गुरु ने कहा—हे भद्र ! मृहुता से जीव द्यभिमानरिह्त हो जाता है और वह कोमल मृहुता को प्राप्त कर
  धाठ प्रकार के मद्रह्मी शत्रु का संहार कर सकता है।
- टिप्पर्गाः—जाति, कुछ, वस, रूप, तप, ज्ञान, साभ तथा ऐखर्यं ये ८ मद के स्थान हैं।
- (५०) शिष्य ने पूँछा—हे पृत्य ! भावसस्य ( शुद्ध श्रंतःकरण ) सं जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! भावसत्य होने से हृदय-विशुद्धि होती है और ऐसा जीवात्मा ही अहेन्त प्रभु द्वारा निरूपित धर्म की आराधना कर सकता है। धर्म का आराधक पुरुप ही लोक परलोक दोनो को साध सकता है।

(५१) शिष्य ने पूँछा — हे पूज्य ! करणसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! करणसत्य (सत्य प्रवृत्ति करने ) से सत्यिकया करने की शक्ति पैदा होती है श्रीर सत्य प्रवृत्ति करनेवाला जीव जैसा बोलता है वैसा ही करता है।

(५२) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! योगसत्य से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! सत्ययोग से योगों की शुद्धि होती है।

टिप्पर्शाः—योग अर्थात् मन, वचन और काय की प्रवृत्ति ।

(५३) शिष्य ने पूँछा— हे पूज्य! मनोगुप्ति से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मन के संयम से जीव को एकाप्रता की प्राप्ति होती है और ऐसा एकाप्र मानसिक लिब्बजीव ही संयम की उत्तम प्रकार से आराधना कर सकता है।

(५४) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य । वचन संयम से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र । वचनसयम रखने से जीवातमा विकार रहित होता है श्रीर निर्विकारी जीव ही श्राध्यात्मिक योग के साधनों द्वारा वचन सिद्धि युक्त होकर विचरता है ।

((५५) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! काय के संयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र । कायसंयम से संवर (कर्मों का रोध) होता है श्रोर उससे कायलिध प्राप्त होती है श्रोर उसके द्वारा जीव पाप प्रवाह का निरोध कर सकता है।

((५६) शिष्य ने पूँछा — हे पूज्य ! मन को सत्यमार्ग (समाधि) में स्थापने से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र ! मन को सत्यमार्ग (समाधि) में स्थापित करने से एकायता पैदा होती है और एकाय-जीव ही ज्ञान की पर्यायों (मित, श्रुत आदि ज्ञानों तथा अन्य शिक्तयों) को प्राप्त होता है। ज्ञान पर्यायों की

प्राप्ति से सम्यक्त्व की शुद्धि होती है श्रीर उसके मिध्यात्व का नाश होता है।

(५७) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भट ! वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव अपने बोधि सम्यक्त्य की पर्यायों को निर्मल किया करता है और सुलभ बोधि को प्राप्त होकर दुर्लभ बोधित्व को दूर करता है।

(५८) शिष्य ने पूँछा—हे पूज्य! काय को संयम में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र! काय को सत्यभाव से संयम में स्थापित करने से जीव के चारित्र की पर्यायें निर्मल होती हैं श्रीर चारित्रनिर्मल जीव ही यथाख्यात चारित्र की साधना करता है। यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि कर वह चार घातिया कर्मी (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय श्रीर श्रन्तराय) को नाश कर डालता है श्रीर वाद में वह जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर श्रनन्त शान्ति का भोग करता है श्रीर दु:खों का श्रन्त कर देता है।

(५९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! ज्ञानसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र ! ज्ञानसंपन्न जीव यावनमात्र पदार्थों का यथार्थ (सचा) भाव जान सकता है स्त्रीर यथार्थ भाव जाननेवाला जीव चतुर्गतिमय इस संसार-

रूपी अटवी में कभी दुःखी नहीं होता। जैसे डोरा (धागा) वाली सुई खोती नहीं है वैसे ही ज्ञानीजीव संसार में पथ भ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्व-पर दर्शन को बराबर जान कर असत्य मार्ग में नहीं फँसता।

(६०) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! दर्शनसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र ! दर्शनसंपन्न जीव संसार के मूल कारण रूपी अज्ञान का नाश करता है। उसकी ज्ञानज्योति कभी नहीं बुमती और उस परम ज्योति में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन द्वारा अपनी आत्मा को संयोजित कर यह जीव सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है।

(६१) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! चारित्रसंपन्नता से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र ! चारित्रसंपन्नता से यह जीव शैलेशी (मेरु जैसा निश्चल श्रद्धान) भाव को उत्पन्न करता है श्रीर ऐसा निश्चल भाव प्राप्त ध्रण्यार श्रवशिष्ट चार कमों का चयकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर श्रमन्त शान्ति का उपभोग करता है श्रीर समस्त दुःखों का श्रन्त कर देता है।

(६२) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! श्रोत्रेन्द्रियनिमह से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! ओनेन्द्रियनिष्रह करने से यह नीव सुन्दर श्रमुन्दर शब्दों में रागद्वेपरिहत होकर वर्तता है श्रीर ऐसा रागद्वेपनिवर्तित श्रमागार कर्मवंघ से सर्वथा मुक्त रहता है तथा पूर्व संचित कर्मों को भी खपा डालता है।

(६३) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! चक्षुसंयम से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र ! चखु ( श्रांख ) संयम से यह जीव सुरूप किंवा कुरूप दृश्यों में रागद्वेपरिहत हो जाता है श्रीर इस कारण रागद्वेपजनित कर्म बन्धों को नहीं बांधता श्रीर पहिले जो कर्मबन्ध किया है उसका भी चय कर देता है।

(६४) शिष्य ने पृंद्धा—हे पूज्य ! ब्राग्णेन्द्रिय के निप्रह से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! नाक का संयम करने से जीव सुवास किंवा कुवास के पदार्थों में रागद्वेपरहित होता है श्रीर इस कारण रागद्वेपजन्य कर्मों का वंध नहीं करता तथा पूर्वेसंचित कर्मों के वंधनों को भी नष्ट कर देता है ।

(६५) शिष्य ने पृंछा—हे पृष्य ! रसना इन्द्रिय का निम्रह करने से जीव को क्या लाभ है ?

गुम ने कहा — हे भद्र ! रसना ( जीभ ) के संयम से स्वादु किंवा त्रस्वादु रसों में यह जीव रागद्वेपरहित होता है श्रीर इससे रागद्वेपजन्य कमीं का वंघ नहीं करता तथा पूर्वसंचित कमीं के वंघनों को भी नष्ट कर देता है।

(६६) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र! स्पर्शेन्द्रिय के संयम से सुन्दर, किंवा श्रमुन्दर स्पर्शों मे यह जीव रागद्वेषरहित होता है श्रीर इस कारण रागद्वेषजन्य कमों का बंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कमों के बंधनों को भी नष्ट कर देता है।

(६७) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य ! क्रोधविजय से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा – हे भद्र ! क्रोधविजय से जीव को क्षमागुण की प्राप्ति होती है श्रौर ऐसा चमाशील जीव क्रोधजन्य कर्मों का बंध नहीं करता श्रौर पूर्वसंचित कर्मों का भी चय करता है।

(६८) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! मानविजय से जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा — हे भद्र ! मान के विजय से जीव को मृदुता नामक अपूर्व गुगा की प्राप्ति होती है और मार्द्व गुगा संयुक्त ऐसा जीव मानजनित कर्मों का वंध नहीं करता तथा पूर्वसंचित कर्मों का भी चय करता है।

(६९) शिष्य ने पूंछा—हे पूज्य! मायाविजय से जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! मायाचार को जीतने से जीव को आर्जव (निष्कपटता) नामक अपूर्व गुण की प्राप्ति होती है और फिर आर्जवगुण समन्वित यह जीव माया- जनित कमों का वंघ नहीं करता तथा पूर्वसंचित कमों का भी क्षय कर देता है।

(७०) शिष्य ने पृंछा—हे पृष्य ! लोभविजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

गुरु ने कहा—हे भद्र ! लोभ को जीतने से यह जीव सन्तोष रूपी परमामृत की प्राप्ति करता है श्रीर ऐसा सन्तोषी जीव लोभजनित कमों का वंध नहीं करता तथा पूर्व संचित कमों को भी खपा डालता है।

(७१) शिष्य ने पृंद्धाः —हे पृष्य ! रागद्वेप तथा मिध्यादर्शन के विजय से इस जीव को क्या लाभ है ?

> गुरु ने कहा—हे भद्र! रागद्वेप तथा मिध्यादर्शन-विजय से सबसे पहिले वह जीव ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की त्राराधना में उद्यमी बनता है श्रीर बाद में ब्राठ प्रकार के कमों की गांठ से छूटने के लिये वह २८ प्रकार के मोहनीयकमों का क्रमपूर्वक च्य करता है। इसके वाद ५ प्रकार के ज्ञानावरणीय कमों, नौ प्रकार के दर्शना-वरणीय कमें तथा पाँच प्रकार के अन्तराय कमें, इन तीनों कमों को एक ही साथ खपाता है। इन कमें चतुष्टय को नाश कर लेने के वाद वह जीवातमा श्रेष्ठ, संपूर्ण, ब्याव-रणरिहत, अंबकाररिहत, विशुद्ध तथा लोकालोक में प्रकाशित ऐसे केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्ति के वाद जब तक वह सयोगी। (योग की प्रवृत्ति वाला) रहता है तब तक ईर्यापथिक

किया का वंध करता है। इस कर्म की स्थिति केवल दो समय मात्र की होती है श्रौर इसका विपाक ( फल ) श्रवि सुख कर होता है। यह कर्म पहिले समय में बंध होता है, दूसरे समय में उदय होता है श्रीर तीसरे समय में फल देकर चय हो जाता है। इस तरह पहिले समय में बंध, दूसरे समय में उदय, तथा तीसरे समय में निर्जरा होकर चौथे समय में वह जीवात्मा सर्वथा कर्मरहित हो जाता है। टिप्पर्गाः-कर्मों का सविस्तर वर्णन जानने के लिये तेतीसवां अध्ययन पढ़ो। (७२) इसके बाद वह केवली भगवान अपना अवशिष्ट आयु कर्म भोगकर निर्वाण से दो घड़ी ( अन्तर्भुहूर्त ) पहिले मन, वचन त्रौर काय की समस्त प्रवृत्तियों का रोध कर सूक्ष्म-क्रिया प्रतिपाति ( यह शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद है ) का चिन्तन कर सबसे पहिले मनके, फिर वचन के तथा बाद में काय के भोगों को रोकते हैं श्रीर ऐसा करने से वे अपनी खासोच्छास किया का भी निरोध करते हैं। इस क्रिया के बाद पांच हस्त्र अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय तक शैलेशी अवस्था में रह कर वह जीव श्रणगारसमुच्छिनक्रिय (क्रियारहित) तथा श्रनिवृत्ति (श्रक्रियावृत्ति ) नामक शुक्ल ध्यान का चिन्तन करता हुआ वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन चार श्रघातिया कर्मों को एक साथ खपा देता है।

दिप्पाणी:—ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म, और शुक्क ये चार भेद हैं। शुक्क ध्यान भी चार प्रकार का होता है जिन में से अन्तिम दो का केवली, जीवारमा चिन्तवन करता है।

- (७३) उसके वाद श्रोदारिक, तेजस, तथा कार्मण इन तीनों शरीरों का त्याग कर तथा समश्रेणि प्राप्त कर किसी भी जगह में फके विना श्रवक्रगति से सिद्धस्थान में श्राकर श्रपने मूल शरीर की श्रवगाहना के दो तृतीयांश जितने श्राकाश प्रदेशों में कर्ममल से सर्वथा रहित होकर स्थित होता है।
- (७४) इस प्रकार वस्तुतः सम्यक्त्व पराक्रम नाम के अध्ययन का अर्थ अमण भगवान महावीर ने कहा है, वताया है, दिखाया है और उपदेश किया है।

दिप्पणी—सम्यक्त स्थित यह चौथे गुणस्थानक की स्थित का नाम है जीवात्मा कमें, माया अथवा प्रकृति के आधीन रहता है। उस आदि से लेकर अंतिम मुक्तद्वा प्राप्त होने तक वह अनेकानेक भूमिकाओं में से गुजरता रहता है। संसार के गाड वन्धनों से लेकर विलक्तल मुक्त होने तक की अथवा अगुद्ध चैतन्य (जहां केवल ८ रुचक प्रदेश ही गुद्ध, रह जाते हैं याकी यह आत्मा धोर कर्माष्ट्रच हो वन जाता है) से लेकर सर्वथा गुद्ध चैतन्य प्राप्त होने की अवस्था तक पहुँचने की समस्त भूमिकाओं को जैनदर्शन में चौदह प्रकार में व्हांद दी गयी हैं। इन्हीं चौदह भूमिकाओं को "गुणस्थानक" कहते हैं।

ये भूमिकाएं स्थान विशेष नहीं है किन्तु आत्मा की स्थित विशेष है। उसके भावों की उज्ज्वलता की तरतमता से वे क्रमशः ऊँचे होते जाते हैं और मिलनता से नीचे होते जाते हैं। पहिले गुणस्थानक का नाम 'मिथ्यात्व' है। यावन्मात्र मिथ्यादृष्टि इसी गुणस्थानक में है। यह दृष्टि एक उच्च मनुष्य से लेकर अविकसित सृक्ष्मातिस्क्ष्म निगोन् दिया जीव तक में होती है किन्तु उन सव में तरतमता (कम ज्यादा ) के असंख्य भेद हैं दूसरी और तीसरी मूमिकाएं ( सास्वा-दान और मिश्र गुणस्थान ) भी अस्थिर हैं। इन दोनों अवस्थाओं में भी मिथ्यात्व का प्राधान्य किंवा अस्तित्व बना रहता है। आत्मा के भाव डांवांडोल रहते हैं, कभी सत्य की तरफ आकृष्ट होते हैं तो कभी असत्य में ही मुग्ध हो जाते हैं। इसिकिये इन तीन गुण-स्थानों में तो मोक्ष सिद्धि का कोई साधन है ही नहीं। गुणस्थानक का नाम सम्यक्त है यहाँ पर मिथ्वात्व का सर्वथा नाश हो जाता है और सम्यक्त्व (सत्य का दृढ़ श्रद्धान-अटल प्रतीति की ) प्राप्ति होती है। आत्मा को यहीं से अपना भान होता है और उसका उद्देश्य क्या है और वह कहां पड़ा हुआ है, और इससे छटने का उपाय क्या है आदि वातों का विचार करने छगता है। सची बात तो यह है कि इसी गुणस्थानक से वह मोक्ष प्राप्ति की तरफ अमसर होना गुरू करता है। अन्य दर्शनीं (धर्मीं) में इसी स्थिति को आत्मदर्शन अथवा आत्म साक्षात्कार कहा है। इस गुणस्थानक में संसार अमण के मूल कारण तीव्र कषायें मंद पढ़ जाती है और आत्मा के परिणाम जितने ही शुद्ध, कृत्रिम शुद्ध अथवा मिश्र होंगे तद्नुसार उसे क्षायिक, उपशम अथवा क्षयोपशम स्थिति कहते है। आउवें गुणस्थान में पहुँच कर इन तीन श्रेणियों में से क्षेवल दो रह जाती हैं जिनको 'उपशम श्रेणि' और 'क्षपकश्रेणि' कहते हैं। 'उपशम श्रेणि,' ( कर्मी वाले जीव का उपशम करने वाली श्रेणि ) आगे बढ़कर फिर पतित हो जाते हैं, क्योंकि उनकी विशुद्धि सची नहीं है, कृत्रिम है। जैसे राख से ढंका हुआ अंगार ऊपर से शान्त दीखता है किन्तु हवा का शोंका लगते ही राख उद जाती हे और अग्नि चमकने लगती है, वैसे ही उपशम श्रेणि वाले जीव भी रयारहवें गुणस्थान तक पहुँच जाने पर भी सूक्ष्म छोभ कपाय के निमित्त से वहां से पतित हो जाते हैं।

क्षणकश्रेणि (कमों का क्षय करने वाली श्रेणि) का जीवात्मा दसवें गुणस्थानक से ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर सीधा वारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस दशा में उसकी कपायें क्षीण हो जाती हैं और इसिलिये वह तेरहवें गुणस्थानक में पहुँच कर केवली हो जाता है। इस समय आठ कमों में से चार कमों के (निःसत्व नाम मात्र के) आवरण रह जाते हैं इसिलिये यह सयोग केवली, जयतक इस शारीर की स्थिति रहती हैं तब तक इस शारीर सम्बन्धी क्रियाओं के कारण कमें करते रहते हैं किन्तु वे कमें आसि खिरहित होने के कारण (आत्मा को) वंधन कर्ता नहीं होते और तक्ष्मण ही खिर जाते हैं। इस क्रिया को ईर्यापथ की क्रिया, कहते हैं।

आयुष्यकाल के पूर्ण होने के समय ग्रुक्ट ध्यान का तीसरा भेद जिसे स्वसिक्ष्याप्रतिपाति कहते हैं—उसको चिन्तन करते हुए सबसे पहिले मनायोग, वचनयोग, तथा काययोग इस प्रकार इन तीनों को क्रम से रोककर अन्त में श्वासोच्छ्वास को भी रोककर वह आत्मा विल्कुल अकंप बनता है। इस स्थिति को शैलेशी अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में, अ, इ, द, कर, तथा ल इन पांच हस्त्र स्वरों को बोलने में जितना समय लगता है उतने समय मात्र की ही स्थिति होती है। बाद में ग्रुक्ट ज्यान के चौथे मेद ब्युपरतिक्रयानिवृत्ति हारा अवशिष्ट चार अवातिया कर्मों का नाशकर आत्मा अपने पूर्ण ग्रुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर ग्रुद्ध, ब्रुद्ध तथा मुक्त हो जाता है।

शुद्ध चेतन की स्वामाविक कथ्वंगति होने के कारण वह आत्मा ऊँचा ऊँचा वहाँ तक चला जाता है जहाँ तक उसकी गति में सहायक धर्मास्तिकाय रहता है। उसके आगे गति हो ही नहीं सकती हस-लिये वह शुद्ध परमञ्जातमा वहीं स्थिर हो जाती है। यह स्थान लोक के अन्तिम भाग पर है और उसे सिद्ध गति (सिद्धशिला—मोक्ष स्थान) कहते हैं। आतमा ने जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष प्राप्त की होती है उसका है भाग तो (सुख; कान, पेट आदि खाळी अंगों में) पोला होता है। इतना भाग जाकर बाकी का है भाग में उस जीवारमा के उतने प्रदेश उस सिद्धस्थान में ज्याप्त हो जाते हैं। इसे उसकी अवगाहना, कहते हैं। भिन्न २ सिद्धारमाओं के प्रदेश पर-स्पर अन्याघात रहने से एक दूसरे से मिल नहीं जाते और प्रत्येक आतमा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखती है। ऐसी परम आत्माओं का वीतराग, वीतमोह और वीत द्वेप होने से इस संसार में पुनरा-गमन नहीं होता है।

## ऐसा मैं कहता हूं—

इस प्रकार 'सम्यक्त्व पराक्रम' नामक उन्तीसवां श्रध्ययन समाप्त हुश्रा



## तपो मार्ग

-:-

## 30

तिमक दुःखां से घिरा हुया है। सांसारिक समस्त प्राणी याधि, व्याधि तथा उपाधि से दुःखी हो रहे हैं। कभी शारीरिक, तो कभी मानसिक तो कभी दूसरी उपाधियां ब्रादि की दुःख परंपरा लगी हुई रहती है और जीव रन दुःखीं से निरन्तर कृटना चाहते रहते हैं।

प्रत्येक काल में प्रत्येक उद्धारक पुरुषों ने जुदे २ प्रकार की चौपिधयां बनाई है। भगवान महाबीर ने सर्व संकटों के निवारण के लिये मात्र एकही उत्तम कोटि की जड़ी बूटी बताई है और उसका नाम है तपण्चयों।

तपण्चयों के मुख्य दो भेद हैं जिन्हें (१) आंतरिक, तथा

वाहा तपरचयों का मुख्यतः उद्देश्य आतमा को अप्रमत्त रखना है। यदि शरीर प्रमादी होगा तो उसकी प्रत्नुत्तियां भी पाप की तरफ विशेष ढजती रहेगी और वैसी परिस्थिति में शरीर तथा इन्द्रियां सायक होने के पहले वाधक हो जाती हैं। जब शरीर श्रवमत्त तथा संयमी वनता है तभी श्रातमा में जिज्ञासा जागृत होती है श्रीर तभी वह चिन्तन, मनन, योगाभ्यास, ध्यान श्रादि श्रात्मसाधना के श्रङ्गों में प्रवृत्त हो सकती है।

इसी जिये बाह्य तपश्चर्या में (१) अंगसण (उपवास), (२) ऊणोदरी (अल्पाहार), (३) भिन्नाचरो (अल्पाहार) में से केवल परिमित आहार लेना), (४) रसपरित्याग (स्वादेन्द्रिय का निप्रह), (४) कायक्लेश (देहदमन की किया), और (६) वृत्ति संत्रेप (इच्छापं घटाते जाना) इन ६ तप् श्चर्याओं का समावेश किया है। ये छहीं तपश्चर्यापं अमृत के समान फलदायी हैं। उनका जिस २ दृष्टि से जितने प्रमाण में उपयोग होगा उतना २ पाप घटता जायगा और पाप घटते से धार्मिक भाव अवश्य ही बढ़ते ही जांयगे। परन्तु इनका उपयोग अपनी शक्त्यनुसार होना चाहिये।

श्रान्तरिक तपश्चर्याश्रों में (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (१) ध्यान, श्रोर (६) कायोत्सर्ग (देहाध्यास का त्याग) इन ६ गुणों का समावेश होता है। ये इहीं साधन श्रात्मोक्षित की भिन्न २ सीढ़ियां हैं। श्रात्मोक्षित के इच्छुक साधक इनके द्वारा बहुत कुछ श्रात्मसिद्धि कर सकते है।

भगवान वोले

(१) राग और द्वेष से संचित किये हुए पापकर्म को भिक्ष जिस तप द्वारा क्षय करता है उसका अब मैं उपदेश करता हूँ। उसको तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

(२) हिंसा, असत्य, अदत्त, मैशुन तथा परिष्रह इन पांच महा-पापों तथा रात्रिभोजन से विरक्त जीवात्मा अनासव होता है। (अथीत आते हुए नये कमों को रोकता है)। २३

- (३) तथा पांच सिमिति तथा तीन गुप्तिसिहत, चार कपायों से रिहत, जितेन्द्रिय, निरिममानी तथा शल्यरिहत जीव श्रना- स्त्र होता है।
- (४) उपरोक्त गुणों से विपरीत दोषों द्वारा राग तथा द्वेष से संचित किये हुए कर्म जिस विधि से नष्ट होते हैं उस विधि को एकाम मन से सुनो ।
- (५) जैसे किसी वहें तालाव का पानी, पानी त्राने के मार्ग वंघ होने से तथा ऋंदर का पानी वाहर उलीचने से तथा सूर्य के ताप द्वारा क्रमशः सुखाया जाता है, वैसे ही—
- (६) संयमीपुरुष के नये पापकर्म भी त्रत द्वारा रोक दिये जाते हैं और पहिले के करोड़ों जन्मों से संचित किया हुआ पाप वपश्चर्या द्वारा कर जाता है।
- (७) वह तप वाह्य तथा त्र्यान्तरिक इस तरह दो प्रकार का होता है। वाह्य तथा त्र्यान्तरिक इन दोनों तपों के ६—६ भेद त्रीर हैं।
  - (८) (बाह्य तप के भेद कहते हैं )—(१) श्राणसण (श्रनशन), (२) ऊणोदरी (ऊनोदरी) (३) भिचाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) संलीनता—इस प्रकार बाह्य तप के ये ६ भेद हैं।
  - (९) श्रणसण के भी दो भेद हैं—(१) सावधिक उपवास श्रथीत् श्रमुक मर्यादा तक श्रथवा नियत काल तक उपवास करना, (२) मृत्युपर्यंत का श्रणसण (श्रंतकाल तक सर्वथा निराहार रहना)। इसमें से पहिले प्रकार में

भोजन की आकांदाा विद्यमान है किन्तु दूसरे में भोजन और जीवन इन दोनों ही की विरक्ति है।

- टिप्पग्री—प्रथम भेद में नियत काल की मर्यादा होने से भोजन की अपेक्षा रहती है किन्तु दूसरे में वह बात है ही नहीं।
- (१०) जो अणसण तप कालमर्यादा के साथ किया जाता है उसके भी ६ अवान्तर भेद हैं:—
- (११) (१) श्रेणितप, (२) प्रतर तप, (३) घन तप, (४) वर्ग तप (५) वर्गवर्ग तप, श्रौर (६) प्रकीर्ण तप। इस प्रकार भिन्न भिन्न तथा मनोवांच्छित फल देने वाले सावधिक श्राणसण तप के भेद जानो।
- टिप्पग्री-अणितप आदि तपश्चर्याएँ जुदी २ तरह से उपवास करने से होती हैं। इन तपों का विस्तृत वर्णन अन्य सूत्रों में है।
- (१२) मृत्युपर्यंतके अर्णसर्णके भी कायचेष्टा की दृष्टि से दो भेद हैं:-(१) सविचार (काय की क्रियासहित दशा), तथा (२) श्रविचार (निष्क्रिय)
- (१३) श्रथवा सपरिकर्म ( दूसरों की सेवा लेना ) तथा श्रपरिकर्म ये दो भेद हैं । इसके भी दो भेद हैं—( १ ) निहारी, श्रनिहारी । इन दोनों प्रकार के मरणों में श्राहार का सर्वथा त्याग तो होता ही है ।
- दिष्पंगी—निहारी मरण अर्थात् जिस सुनि का मरण गाम में हुआ हो और उसके मृत शरीर को गाम बाहर छे जाना पड़े उसे; तथा किसी गुफा इत्यादि में मरण हो उसको बनिहारी मरण कहते हैं।

- (१४) ऊगोदरी तप के भी द्रव्य, चेत्र, काल, भाव तथा पर्याय की दृष्टि से संचेप में पांच भेद कहे हैं।
- (१५) जिसका जितना आहार हो उसमें से कम में कम एक कौर भी कम लेना यह द्रव्य ऊगोदरी तप कहलाता है।
- (१६) (१) गाम, (२) नगर, (३) राजधानी, (४) निगम, (५) आकर (खानवाला प्रदेश), (६) पहीं (अटवीं का मध्यगत प्रदेश), (७) खेट (जहां मिट्टी का परकोट हो), (८) करवट (छोटे छोटे गांव वाला प्रदेश), (९) होगमुख (जल तथा स्थलवाला प्रदेश), (१०) पारण (जहाँ सव दिशाओं से आदमी आकर रहते हैं अथवा वन्दरगाह), (११) मंडप (चारों दिशाओं में अटाई आवाई कोस तक जहां गाम हों ऐसा प्रदेश), (१२) संवाहन (पर्वत के वीच में जो गाम वसा हो)—
  - (१७-१८) (१३) आश्रमपद (जहां तपस्वियों के आश्रम-स्थानक हों ), (१४) विहार (जहां भिक्ष अधिक संख्या में रहते हों ऐसा स्थान ), (१५) सिन्नवेश (२-४ मोपड़ों-वाला प्रदेश ), (१६) समाज (धर्मशाला ), (१७) घोंप (गामों का समूह ), (१८) स्थल (रेत के ऊँचे ऊँचे देरों का प्रदेश ), (१९) सेना (छावनी ), (२०) खंधार (कटक उतरने का स्थल ), (२१) सार्थवाहों (व्यापारियों ) के इकट्ठा होने या उतरने का स्थल (मंडी), (२२) संवर्त (जहां भयत्रस्त गृहस्थ आकर शरण लें ऐसा स्थल ), (२३) कोट (कोटवाला प्रदेश ), (२४)

वाडा ( वाड लगाया हुआ प्रदेश ), (२५ ) शेरी (गलियाँ तथा (२६) घर इतने प्रकार के चेत्रों में से भी अभि-प्रह ( मर्यादा ) करे कि मैं आज दो या तीन प्रकार के स्थानों में ही भिन्नार्थ जाऊँगां, अन्यत्र नहीं जाऊँगां ने इसे चेत्र ऊणोदरी तप कहते हैं।

टिप्पणि:—यद्यपि उपरोक्त क्षेत्र जैन मिक्षुओं के लिये कहे हैं परन्तु गृहस्य साधक भी अपने क्षेत्र में इस प्रकार की क्षेत्र मर्यादा कर सकते हैं।

- (१९) (१) सन्दूक के आकार में, (२) अर्ध-सन्दूक के आकार में, (३) गोमूत्र (टेड़ेमेड़े) आकार में, (४) पतंग के आकार में, (४) पतंग के आकार में, (५) शंखावृत के आकार में (इसके भी दो भेद हैं) (१) गली में, (२) गली के बाहर, और (६) पहिले एक कोन से दूसरे कोन तक और फिर वहां से लौटते हुए भिक्षाचरी करे। इस तरह ६ प्रकार का चेत्र संबंधी ऊणोदरी तप होता है।
- टिप्पाणी—उपरोक्त ६ प्रकार की भिक्षाचरी करने का नियम मात्र भिक्षुओं के लिये कहा गया है।
- (२०) दिवस के चार प्रहरों में से किसी श्रमुक प्रहर में ही भिक्षा भिलेगी तो हुँगा—ऐसा श्रभिप्रह (संकल्प) कर भिचा-चरी करना उसे कालऊणोदरी तप कहते हैं।
- (२१) अथवा तीसरे प्रहर के कुछ पहिले अथवा तीसरे प्रहर के अंतिम चौथे भाग में ही यदि भिन्नाचरी मिलेगी तो ही में लूँगा—इस प्रकार का संकल्प करे तो वह भी कालऊणो-दरी तप कहाता है।

- (२२) यदि श्रमुक स्त्री ध्यथवा पुरुष श्रलंकार सिहत होंगे श्रथवा श्रमुक वालक, युवा श्रथवा वृद्ध ने श्रमुक प्रकार के वस पहिने होंगे—
- (२३) अथवा अमुक रंग के वस्त्र पहिने होंगे, अथवा वे रोप सहित अथवा हर्ष सहित होने के चिन्हों सहित होंगे, ऐसे दाताओं के हाथ से ही में भोजन प्रह्मा कहूँगा—अन्य के हाथ से नहीं, इस प्रकार का संकल्प कर भिन्नाचरी में जाना उसे भावऊणोदरी तप कहते हैं।
- टिप्पणी—ऐसे क्टोर संकल्प वारंवार सफल नहीं होते इसलिये भिक्षा नहीं मिलती इससे वारंवार भूला रहने की तपश्चर्या करनी पढ़े यह संभव है।
- (२४) द्रव्य से, चेत्र से, काल से, तथा भाव से उपरोक्त चारों नियमों सिहत होकर जो साधु विचरता है उसे 'पर्यवचर' तपरचर्या करनेवाला साधु कहते हैं।
- टिप्पणी पर्यंव का अर्थ है निसमें उपरोक्त चारों बातें पाई नांय उसः उप को 'पर्याय जणोदरी तप' कहते हैं।
  - (२५) आठ प्रकार की गोचरी में तथा सात प्रकार की एपणा में भिक्ष जो २ दूसरे अभिषद करता है उसे भिन्नाचरी तफ कहते हैं।
  - टिप्पशी—अन्य मन्यों में इस तप को 'वृत्ति संक्षेप' भी कहा है। वृत्ति संक्षेप का अर्थ यह है कि जीवन संबंधी आवश्यकताओं को कम में कम कर ढालना। यह तीसरा बाह्य तप है।
  - (२६) दूध, दही, घी श्रादि रसों तथा श्रन्य रसपूर्ण पकाओं श्राधवा मिष्ट, कडुश्रा, चर्परा, नमकीन, कसैला श्रादि रसों

में भी मर्यादा करना (जैसे आज मैं घी या शक्कर का बना हुआ। पदार्थ नहीं खाऊंगा, आज में मीठा या नमकीन नहीं खाऊँगा आदि ) उसे रसपरित्याग नामकी तपश्चर्या कहते हैं।

- (२७) वीरासन (कुर्सी की तरह बैठ कर) स्रादि विविध स्त्रासन काया को अप्रमत्त रखने में (स्त्रात्मा के लिये) हित कर हैं। ऐसे स्त्रासनों द्वारा श्रयनी काया को कसना उसे काय-क्लेश नामका तप कहते हैं।
- (२८) एकान्त स्थान श्रथवा जहां कहीं भी ध्यानकी श्रनुकूलता हो, जहां कोई श्राता जाता न हो ऐसे स्त्री, पशु तथा नपुंसक से रहित स्थान में शयन करना तथा श्रासन जमाना—इसे संलीनता नामका तप कहते हैं।
- (२९) सुधर्मास्वामी जम्बुस्वामीसे वोले:—हे जम्बू ! वाह्यतप के भेद मैंने तुम्हें संचेप में कहे हैं। श्वब मैं तुम्हें श्वान्तरिक तपों के विषयमें कहता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो।
- (३०) (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य (सेवा), (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, तथा (६) कायोत्सँग—
  ये ६ स्त्राभ्यंतर तप हैं।
- (३१) भिक्षु त्रालोचनादि दस प्रकारके प्रायश्चित्त करता है उसे प्रायश्चित तप कहते हैं।
- टिप्पणी-प्रायश्चित पापके छेदन करनेको कहते हैं, इसके दस प्रकार है—(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (२) तदुभय, (४) विवेक, (५) ब्युत्सर्ग, (६) तप, (७) वेद, (६) मूछ, (९) उपस्थान, और (१०) पारक । इसका सविस्तविर वर्णन छेद सूत्रों में किया गया है।

- (३२) (१) गुरु आदि वड़े पुरुषों के सामने जाना, (२) उनके सामने दोनों हाथ जोड़ना, (३) श्रासन देना, (४) गुरुकी श्रनन्यभक्ति करना, तथा (५) हृद्यपूर्वक सेवा करना—इसे विनय तप कहते हैं।
- टिप्पणी-अभिमान नष्ट हुए विना सची सेवा सुश्रूपा नहीं होती।
- (३३) त्राचार्यादि दस स्थानों की शक्त्यनुसार सेवा करना उसे वैयावृत्य तप कहते हैं।
- टिप्पर्शी—आचार्यादमें इन १० का भी समावेश होता है:—आचार्य, उपाध्याय, स्थिवर, तपस्त्री, रोगिष्ट, सहाध्यायी, साधर्मी, कुळ, गण, तथा संत्र।
- (३४) (१) पढ़ना, (२) प्रश्नोत्तर करना, (३) पढ़ें हुए का पुनः २ घोकना (रटना), (४) पठित पाठका उत्तरोत्तर गम्भीर विचार करना तथा (५) उसकी धमकथा कहना— ये ५ भेद स्वाध्याय तप के हैं।
- (३५) समाधिवंत साधक त्रात तथा रौद्र इन दोनों ध्यानों को लोड़कर धर्मध्यान तथा ग्रिक्टध्यान का ही चिन्तवन करे इसे महापुरुष ध्यान तप कहते हैं।
- (३६) सोते, वैठते श्रथवा खड़े होते समय जो भिक्ष काया की श्रम्य सव प्रयुत्ति छोड़ देता है, शरीर को हिलाता डुलाता नहीं है उसे कायोत्सर्ग नामका तप कहते हैं।
- (३७) इस प्रकार दोनों प्रकार के तपों को यथार्थ सममकर जो मुनि खाचरण करता है वह पंडित साधक सांसारिक समस्त वन्धनों से शीत्र ही छूट जाता है।

टिप्पणी:--अनुभवी द्वारा अनुभूत यह उत्तम रसायन है। आत्मा के समस्त रोगों को दूर करने की मात्र यही एक रामबाण औषधि है। दर्दियों के लिये इन्हीं उपायों को अपने जीवन में अजमा छेना और अपने जीवन का उद्धार कर छेना यह दूसरी औपधियों की तलाश में निरर्थक इधर उधर भटकते फिरने की अपेक्षा लाख दर्जे उत्तम है।

विद्या होने पर अहंकार भाव आजाना सहज संभव है। किया
में अज्ञानता, हरता अथवा जब्रता होने की संभावना है। तपश्चर्या
में ज्ञान तथा किया इन दोनों का समावेश होता है इसिट्ये अहंकार,
अज्ञान, हरता, तथा जब्रता का नाश कर जो पण्डित साधक; आत्मसन्तोप, आत्मशान्ति, तथा आत्मतेज को प्रकट करते हैं वे ही स्वयमेव प्रकाशित होकर तथा लोक को प्रकाश देकर अपने आयुष्य,
शारीर, इन्द्रियादि साधनों को छोद कर साध्यसिद्ध होते हैं।

ऐसा में कहता हूँ-

इस प्रकार 'तपोमार्ग' सम्बन्धो तीसवां श्रध्याय समाप्त हुश्रा ।



# चरणाविधि

471316161

### चारित्र के प्रकार

#### ३१

को संवर कहते हैं। पापमें से छूट जाना अथवा धर्ममें जीन होजाना एक ही बात है। पापका आधार मात्र किया पर नहीं है किन्तु किया के पीछे छगे हुए आतमके अध्यवसायों पर है। कलुपित वासनासे किया हुआ कार्य, संभव है ऊपर से वड़ा अच्छा और पुनीत भी मालम पड़ता है किंतु वस्तुतः वह मजीन है और व्यर्थ है। शुभभावना से किया हुआ कार्य, देखने में भले ही कनिष्ठ अथवा निम्नकोटि का माल्म होता हो फिर भी वह उत्तम है और आतमत्रि के जिये यथेए हैं।

भात्माके साथ यह शरीर भी लगा हुआ है, इसके लिये खाना, पीना, बोलना, बेठना, उठना इत्यादि सभी कार्य किये बिना हम नहीं रह सकते। उनसे निवृत्त होना—कदाचित थोड़े समय के लिये संभव हो सकता है किन्तु जीवन भर के लिये वैसा रहना असंभव है। मान लीजिये कि हम बाहर की क्रियाएं थोड़ी देर के लिये बंद करने में समर्थ भी हों तो भी ग्रापनी ग्रान्ति कियात्मक प्रवृत्तियां तो चाल ही रहती हैं—वे तो होती ही रहती हैं, इसीलिये भगवान महावीर ने क्रिया को वंद करने का उपदेश न देकर, क्रिया करते हुए भी उपयोग को ग्रुद्ध तथा स्थिर रखने का उपदेश दिया है। ग्रुद्ध उपयोग ही ग्रात्मलच्य है ग्रीर ग्रात्मलचता की प्राप्ति होगई तो फिर ग्रात्मलच्य है ग्रीर ग्रात्मलचता भी ही दूर हो जाती है।

## भगवान बोले-

- (१) जीवात्मा को केवल मुख देनेवाली और जिसका आचरण करके अनेक जीव इस भवसागर को तैर कर पार हुए हैं ऐसी चारित्रविधि का उपदेश करता हूँ, उसे तुम ध्यान-पूर्वक सुनो।
  - (२) ( मुमुक्षु को चाहिये कि ) वह एक तरफ से निवृत्त हो श्रौर दूसरे मार्ग में प्रवृत्त हो (श्रथीत् श्रसंयम तथा प्रमत्त योग से निवृत्त हो तथा संयम एवं श्रप्रमत्त योग में प्रवृत्त हो )
    - (३) पापकर्म में प्रवृत्ति करानेवाले केवल दो पाप हैं—एक राग श्रौर दूसरा द्वेष । जो साधक भिक्षु इन दोनों को रोकता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता ।
    - (४) तीन दग्ह, तीन गर्व, श्रीर तीन शस्यों को जो भिक्ष छोड़ देता है वह संसार में परिश्रमण नहीं करता।
    - टिप्पग्री—तीन दण्ड ये हैं—मनदण्ड, वचनदण्ड, और कायदण्ड । तीन गर्वों के नाम ये हैं —ऋदिगर्व, रसगर्व, सातागर्व। तीन शर्वों के नाम ये हैं—मायाशस्य, निदानशस्य, और मिथ्यात्वशस्य।

- (५) जो भिक्ष; देव, मनुष्य, तथा पशुत्रों के त्राकस्मिक उपसर्गों को समभावसे सहन करता है वह इस संसार में परिश्र-मण नहीं करता।
- (६) जो भिक्ष; चार विकथा, चार कवाय, चार संज्ञा तथा दो तरह के ध्यानों को हमेशा के लिये छोड़ देता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।

टिप्पणी-दो ध्यान अर्थात् आर्तेध्यान तथा रौद्रध्यान ।

- (७) पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों के विपयों का त्याग, पाँच समिति, पाँच पापिक्रयाओं का त्याग—इन ४ वातों में जो साधु निरन्तर श्रपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (८) छ लेखा, छकाय तथा आहार के ६ कारणों में जो साधु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह संसार में परिश्रमण नहीं करता ।
- (९) सात पिंड ग्रहण की प्रतिमात्रों तथा सात प्रकार के भय-स्थानों में जो भिक्ष सदैव व्यपना उपयोग लगाये रहता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (१०) त्राठ प्रकार के मद, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य रत्त्रण तथा दस प्रकार के भिक्षघर्ममें जो भिक्ष सदैव अपना उपयोग लगाये रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (११) श्रावक की ग्यारह प्रतिमात्रों तथा वारह प्रकार की भिक्ष प्रतिमात्रों में जो साधु सदैव श्रपना उपयोग लगाता है वह संसार में परिश्रमण नहीं करता है।

टिप्पणी-प्रतिमा अर्थात् अमुक व्रत नियमादिकी क्रिया ।

- (१२) तेरह प्रकार के कियास्थानों में, चौदह प्रकार के प्राणी-समूहों में तथा पन्द्रह प्रकार के परमाधार्भिक देवों में जो भिक्षु हमेशा अपना उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (१३) जो भिक्षु (सूयगढांग सूत्र के प्रथमस्कंघ के ) सोलह अध्ययनों में तथा सत्रह प्रकार के असंयमों में निरन्तर उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (१४) अठारह प्रकार के अवहाचर्य के स्थानों में, उन्नीस प्रकार के ज्ञाता अध्ययनों में तथा वीस प्रकार के समाधिस्थ स्थानों में जो भिक्ष सदैव अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिभ्रमण नहीं करता।
- (१५) इक्कीस प्रकार के सवल दोषों में एवं बाईस प्रकार के परिषद्दों में जो साधु हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
  - (१६) सूयगडांग सूत्रके कुल तेईस अध्ययनों में तथा चौवीस प्रकार के अधिक रूपवाले देवोंमें जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
  - (१७) जो भिक्षु पद्मीस प्रकार की भावनाओं में तथा दशाश्रुत रकंघ, बृहत्कल्प तथा व्यवहार सूत्रके सब मिलाकर छव्वीस विभागों में अपना उपयोग लगाता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता है।

- (१८) सत्ताईस प्रकार के अणगारगुणों में तथा श्रष्ट्राईस प्रकार के आचार प्रकल्पों (प्रायश्चित्तों ) में जो भिक्ष हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (१९) उन्तीस प्रकार के पापसूत्रों के प्रसंगोंमें तथा तीस प्रकार के महामोहनीय के स्थानों में जो भिक्क—हमेशा उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (२०) इकत्तीस प्रकार के सिद्ध भगवान के गुणों में, वत्तीस प्रकार के योग संबहों में तथा तेत्तीस प्रकार की श्रसात-नाश्रों में जो भिक्ष सदैव उपयोग रखता है वह इस संसार में परिश्रमण नहीं करता।
- (२१) जपरोक्त सभी स्थानों में जो साधु सतत जपयोग रखता हैं।
  वह पंडित साधु इस संसार से शीन्न ही मुक्त हो जाता है।
  टिप्पणी—संसार यह तो सद्योध सीखने की पाठशाला है। इसका
  प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ नवीन पाठ देता ही रहता है। मान्न
  आवश्यकता है इस वात की कि आत्माका छपयोग उधर हो, दृष्टि
  उधर रहे। यदि हमारी दृष्टि में अमृत होगा तो जगत में हमें सर्वत्र
  अमृत ही अमृत दिखाई देगा और हमें सर्वत्र अमृत ही की प्राप्ति
  होगी। यहां एक से लेकर तेतीस संख्या तक की भिन्न भिन्न
  वस्तुणं बताई हैं। उनमें से कुछ प्राह्म हैं, कुछ त्याव्य हैं किन्तु
  उनका ज्ञान होने पर ही ये दोनों कियाणं हो सकती हैं। इसलिए
  यथार्थ दृष्टि से इन सबको जानने का प्रयत्न करना यह मुमुख्न के
  लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ऐसा में कहता हूँ— इस प्रकार 'चरणविधि' नामक इकत्तीसवां ऋष्ययन समाप्त हुआ।

## प्रमादस्थान

4年1

#### ३२

पा व यह संसार ही अनादि है तो दुःख भी अनादि ही मानना चािहये। परन्तु अनादि होने पर भी, यदि दुःखका मृत ढूंढकर उस मृत को ही दूर कर दिया जाय तो संसार में रहते हुए भी दुःखपाश से छूटा जा सकता है। सर्व दुःखों से रिहत होना इसी का नाम तो मोत्त है। सम्यग्ज्ञान के सहारे ऐसे मोत्त की प्राप्ति अनेक महापुरुषों ने की है, (प्राप्त) कर सकते है और प्राप्त कर सकेंगे। सर्वज्ञ का यह अनुभव वाक्य है।

जन्ममृत्यु के दुःख का मूल कारण कर्मवंधन है। उस कर्म बन्धन का मूल कारण मोह है और मोह, तृष्णा, राग या द्वेष इत्यादि में प्रमाद ही का मुख्य हाथ है। कामभोगों की आसिक यही प्रमाद स्थान हैं। प्रमाद से अज्ञान की वृद्धि होती है। प्रज्ञान (अथवा मित्थात्व) से शुद्ध दृष्टि का विपर्यास होता है और चित्त में मिलनता का कचरा इकट्टा होता जाता है। इसीलिए ऐसा मिलन चित्त मुक्ति मार्ग के अभिमुख नहीं हो सकता।

गुरुजन तथा महापुरुपों की सेवा, सत्संग, तथा सद्वाचन से जिज्ञासा जागृत होती है। सच्ची जिज्ञासा के जागृत होने पर सत्य, ब्रह्मचर्य, त्याग, संयम, ब्रादि जैसे उत्तम गुणों की तरिंफ रुचि बढ़ती हैं ब्रोर ऐसे ब्राचरण से पूर्व की मिल-नता धुल कर गुद्ध भावन। एं जागृत होती है। ऐसी भावन। एं चिन्तन, मनन, तथा निद्ध्यास में उपयोगी तथा ब्रात्मविकास में खूब ही सहायक हो सकती है।

#### भगवान वोले-

- (१) त्रानिद काल से मूलसिंदत रहे हुए सर्व दुःखों की मुक्ति का एकान्त हितकारी तथा कल्याणकारी उपाय कहता हूँ उसे तुम एकाय चित्त से सुनो ।
- (२) संपूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, श्रज्ञान तथा मोह के सम्पूर्ण त्याग से, राग एवं द्वेष के क्षय से, एकान्तसुलकारी मोजपद की प्राप्ति की जा सकती है।

## उस मोत्त की माप्ति के क्या उपाय हैं?

- (३) वाल जीवों के संग से दूर रहना, गुरुजन तथा वृद्ध—
  श्रनुभवी महापुरुषों की सेवा करना तथा एकान्त में रहकर
  चैर्यपूर्वक स्वाध्याय, सूत्र तथा उनके गम्भीर श्रर्थ का चिन्तवन करना—यही मोच का मार्ग ( उपाय ) है।
- (४) तथा समाधि की इच्छावाले तपस्ती साधु को परिमित एवं शुद्ध आहार ही महण करना चाहिये; निपुणार्थ बुद्धिवाले ( मुमुखु ) साथी को ढूंढना चाहिये और स्थान भी एकांत (ध्यान धन्ने योग्य ) ही पसन्द करना चाहिये।

- (५) यदि अपने से अधिक गुणी अथवा समगुणी सहचारी न मिले तो कामभोगों से निरासक्त होकर और पापों को दूर करके एकाकी रहे और रागद्वेषरहित होकर शान्ति-पूर्वक विचरे।
- टिप्पणी—साधक को सहचारी की हमेशा आवश्यकता रहती है किन्तु यदि उपगुक्त सहचारी न मिले, तो एकाकी रहे किन्तु दुर्गुणी का संग तो साध कभी न करे। इस सूत्र में एक चर्या का विधान नहीं किया गया है किन्तु गुणी के सहवास में ही रहना—इसपर भार देने के लिये ही 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है
- (६) जैसे त्रग्रें में से पत्ती और पत्ती में से त्रंडा इस प्रकार परस्पर कार्यकारण भाव है वैसे ही मोह से तृष्णा और तृष्णा से मोह इस तरह इन 'दोनो का पारस्परिक जन्य जनक भाव महापुरुषों ने बताया है।
- (७) तथा राग एवं द्वेष ये दोनों ही कमों के बीजरूप हैं। कमें मोह से उत्पन्न होते हैं और ये ही कमें जन्म-मरण के मूल कारण हैं और जन्म-मरण ही सब दु:खों के मूल-कारण हैं—ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है।
- टिप्पणी—दुःखका कारण जनम-मरण, जनम-मरण का कारण कमें और कमें का मूळकारण मोह और मोह का मूळकारण रागद्वेष है। इस तरह से रागद्वेष ही समस्त संसार का मूळकारण है।
- (८) दु:ख उसीका नष्ट हुआ है जिसको मोह ही नहीं होता। इसी तरह मोह उसका नष्ट हुआ सममो जिसके हृद्य में से तृष्णा रूपी। दावानल बुमा गई और तृष्णा भी उसीकी २४

- नष्ट हुई सममो जिसको किसी भी वस्तु का प्रलोभन नहीं होता। श्रौर जिसका लोभ ही नष्ट हो चुका है उसके लिये श्रासक्ति जैसी कोई वस्तु ही नहीं होती।
- (९) इसिलये राग, द्वेप और मोह—इन तीनों को मृलसिहत उखाड़ फेंकने की इच्छावाले साधु को जिन जिन उपायों को प्रहण करना चाहिये उनको मैं यहां क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ। (उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो)
- (१०) विविध प्रकार के रसों (रसवाले पदार्थों) को अपने करवाण के इच्छुक साधु को भोगना नहीं चाहिये क्योंकि रस, इन्द्रियों को उत्तेजित कर देते हैं श्रीर जैसे मीठे फल- वाले वृत्त के ऊपर पत्ती दृट पड़ते हैं तथा उसे दु:ख देते हैं वैसे ही इन्द्रियों के विषयों में उन्मत्त हुए मनुष्य के ऊपर कामभोग भी दृट पड़ते हैं न्श्रीर उसे पीडित करते हैं।
- (११) जिस तरह बहुत ही सूखे (ईघन रूप) वृत्तों से भरे हुए वन में, पवन के मकोरों सिहत उत्पन्न हुई दावानल वुमती नहीं है उसी तरह विविध प्रकार के रसवाले त्राहारों को भोगनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रियरूपी त्रिप्त शान्त नहीं होती (इसलिये रस सेवन करना किसी भी मनुष्य के लिये हितकारी नहीं है)।
- (१२) जैसे उत्तम श्रीपियों से रोग शान्त होजाता है वैसे ही दिमतेन्द्रिय, एकान्त शयन, एकान्त श्रासन इत्यादि भोगने-वाले तथा श्राह्माहारी सुनि के चिन्ना का रागरूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकते। (श्रार्थात् श्रासक्तियां उसके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं कर सकती)

- (१३) जैसे विहियों के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त ( उचित ) नहीं है वैसे ही श्रियों के स्थान के पास ब्रह्म-चारी पुरुष का निवास भी योग्य नहीं है।
- टिप्पणी—ब्रह्मचारी के लिये जिस तरह स्वादेन्द्रिय का संयम तथा स्त्री-संगत्याग आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्मचारिणो स्त्रियों को भी इन दोनों वातों का ध्यान रखना चाहिये।
- (१४) श्रमण तथा तपस्वीसाधक स्त्रियों के रूप, लावंग्य, विलास हास्य, मंजुलवचन, श्रंगोपांग की गठन, कटाच श्रादि देख-कर उन्हें श्रपने चित्त में न लावे श्रौर न इच्छापूर्वक उन्हें देखने का प्रयत्न ही करे।
- (१५) उत्तम प्रकार के ब्रह्मचर्यव्रत में लगे हुए और ध्यान के ब्रानु-रागी साधक क्षियों का दर्शन, उनकी वांच्छा, उनका चिन्तवन श्रथवा उसका गुणकीर्तन न करें इसीमें उनका हित है।
- (१६) मन, वचन श्रौर काय इन तीनों का संयम रखनेवाले समर्थ योगीश्वर जिनको डिगाने में दिन्य कान्तिधारी देवांगनाएं भी सफल नहीं हो सकतीं, ऐसे मुनियों को भी स्त्री श्रादि से रहित एकान्तवास ही परम हितकारी है ऐसा जानकर मुमुक्ष को एकान्तवास ही सेवन करना चाहिये।
- (१७) मोत्त की श्राकांत्तावाले, संसार से डरे हुए श्रौर धर्म में स्थिर ऐसे समर्थ पुरुष को भी श्रज्ञानी पुरुष का मनहरण करनेवाली स्त्रियो का त्याग करना जितना कठिन है उतना कठिन इस समस्त लोक में श्रौर छुछ भी नहीं है।

- (१८) जैसे महासागर को तैर जाने के बाद गंगा जैसी बड़ी नदी को पार करजाना सरल है वैसे ही खियों की आसक्ति छोड़ देने के बाद दृसरे प्रकार की सभी (धनादि की)आसक्तियां आसानी से छोड़ी जा सकती हैं।
- (१९) देवलोक तक के समय लोक में जो कुछ भी शारीरिक तथा मानसिक दुःख हैं वे सब सचमुच कामभोगों की आसक्ति से ही पैदा हुए हैं इसलिये निरासक्त पुरुष ही। उन दुःखों का पार पा सकते हैं।
- (२०) जैसे स्वाद में तथा रंग में किंपाक वृत्त के फल वड़े ही मधुर लगते हैं परन्तु (खाने के वाद थोड़े हो समय में) मार डालते हैं यही उपमा कामभोगों के परिणामों की सममो। (अर्थात् ये भोगते हुए तो अच्छे लगते हैं किन्तुं इनका परिणाम महा दु:खदायी है।)
- (२१) समाधि का इच्छुक तपस्त्रीसाधु इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय में मन को न दौड़ावे, न उनपर राग करे और न अम-नोज्ञ विषयों पर द्वेप ही करे।
- (२२) चक्ष इन्द्रिय का विषय रूप है। जो रूप मनोज्ञ है वह राग का तथा श्रमनोज्ञ रूप द्वेष का कारण है। इन दोनों में जो समभाव रखता है उसे महापुरुष 'वीतराग' (रागद्वेष रहित) कहते हैं।
- (२३) चक्ष यह रूप को महण करनेवाली इन्द्रिय है और रूप चक्ष का माह्य विषय है! इस कारण सुन्दर रूप राग का कारण है और कुरूप द्वेप का कारण है ऐसा महापुरुपों ने कहा है।

- (२४) जैसे दृष्टि-लोछुपी पतंगिया रूप के राग में आतुर होकर (अग्नि में जल कर) आकिस्मक मृत्यु को प्राप्त होता है वैसे ही रूपों मे तीव्र आसिक रखनेवाले जीव अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।
- (२५) जो जीव श्रमनोज्ञ रूप देखकर तीत्र द्वेष करते हैं वे जीव डसी समय दुःख का श्रनुभव करते हैं श्रशीत् वे जीव श्रपने ही दोष से स्वयं दुःखी होते हैं इसमें रूप का कुछ भी दोष नहीं है।
- (२६) जो जीव मनोहर रूप में एकान्त श्रासक्त हो जाते हैं वे श्रमनोहर रूप पर द्वेष करते हैं श्रीर इससे वे श्रज्ञानी जीव वाद में खूब ही दुःख से पीड़ित होते हैं ऐसा जान कर विरागीमुनि ऐसे दोष में लिप्त न हो।
- (२७) रूप की खासिक में फँसा हुआ जीव श्रनेक त्रस तथा स्थावर जीवो की हिंसा कर डालता है और वह श्रज्ञानी उन्हें भिन्न २ उपायो से (श्रनेक तरह ) दुःख देता है श्रीर श्रपते ही स्वार्थ में लयलीन होकर वह कुटिल जीव श्रनेक निर्दोष जीवों को पीड़ित करता है।
- (२८) (ह्यासक्तजीव) रूप की आसक्ति में अथवा उसे प्रहरण करने की मूच्छी से उस रूपवान पदार्थ को उत्पन्न करने के प्रयत्न में, उसकी प्राप्ति करने में, उसकी रक्षा करने में, उसके ज्यय ( खर्च ) में अथवा उसके वियोग में सुखी कैसे हो सकता है ? भोग भोगने के समय भी उसे उसमें तृप्ति कहां होती है ?

- (२९) मनोज्ञ रूप के परिमह में आसक्तहुआ जीव जब उसमें अतृप्त ही रहता है तो उसकी आसक्ति (घटने के वदले और भी) वढ़ती ही जाती है और उसके मिले विना उसे सन्तोप होता ही नहीं। उस समय वह असन्तोष से चुरी तरह पीड़ित होता है और वह पाड़ित अत्यन्त लोभ से मिलन होकर अन्य की नहीं दो हुई (वस्तु) भी प्रहर्ण करने लगता है।
- (३०) तृष्णा द्वारा पराजितहुआ वह जीव इस तरह अदत्तादान का दोपी होने पर भी उसके परियह में अतृप्त ही रहता है। अदत्त वस्तु को हरण करनेवाला (चोर) वह लोभ में फँसकर माया तथा असत्य इत्यादि दोपों का सहारा लेता है फिर भी वह उस दुःख से नहीं छूट पाता।
- (३१) श्रसत्य वोलने के पहिले, वाद में श्रौर वोलते समय भी दुष्ट हृद्यवाला वह जीव दुःखी ही रहता है। रूप में श्रवृप्त तथा श्रदत्त प्रहण करनेवाला वह जीव सदैव श्रस-हाय तथा दुःख पीड़ित ही रहता है।
- (३२) इस तरह रूप में अनुरक्त जीव को थोड़ा सा भी सुख कहां से मिले ? जिस वस्तु की प्राप्ति के लिये उसने अपार कष्ट सहा उस रूप के उपभोग में भी वह अत्यन्त छेश तथा दु:ख पाता है।
  - (२२) इसी प्रकार श्रमनोज्ञ रूप में द्वेप करनेवाला जीव भी दु:ख परम्पराश्रों की सृष्टि करता है श्रौर दुण्ट चित्त से जिस कर्मसमृह का वह संचय करता है वह (संचय)

इसलोक तथा परलोक दोनों में उसे केवल दुःख का ही कारण होता है।

- (३४) किन्तु रूप से विरक्त हुआ जीव शोकरिहत होता है और जैसे जल में उत्पन्न हुआ कमल का पत्ता उससे अलिप्त ही रहता है वैसे ही संसार में रहते हुए भी ऊपर के दु:ख समूह की परम्परा में वह लिप्त नहीं होता है। (अर्थात् इसे दु:ख नहीं होता)।
- (३५) शब्द यह श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का विषय है। मधुर शब्द राग का कारण है और कटु शब्द द्वेष का कारण है। जो जीवात्मा इन दोनों में समभाव रख सकता है वहीं वीतरागी है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है।
- (३६) कान शब्द का ग्रहण कर्ता है और कान का विषय शब्द है—ऐसा महापुरुषों ने कहा है। अमनोज्ञ शब्द द्वेष का तथा मनोज्ञ शब्द राग का कारण है।
- (३७) जो जीव शब्दों में तीव श्रासिक रखता है वह संगति के राग मे श्रासक्त मृग (हिरन) के समान मुग्ध होकर तथा स्वर के मिठास मे श्रमुख रहता हुआ श्रकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।
- (३८) श्रीर जो जीव श्रमनोज्ञ शब्द में तीत्र द्वेष करता है वह उसी समय दुःख को प्राप्त होता है श्रीर श्रन्त में वह श्रज्ञानी बहुत ही श्रधिक पीड़ित होता है। इस प्रकार ऐसा जीव श्रपने ही दुर्दम्य दोष से दुःखी होता है इसमें शब्द का जुरा भी दोप नहीं है।

- (३९) सुन्दर शब्द में एकान्त आसक्त वह रागी जीव अमनोज्ञ शब्द पर द्वेप करता है और अन्त में उसके दु:ख से खूव ही पीड़ित होता है; किन्तु ऐसे दोष में विरागी मुनि लिप्त नहीं होता।
- (४०) श्रत्यन्त स्वार्थी, मिलन वह श्रज्ञानी जीव शब्द की श्रासिक का श्रनुसरण करके श्रनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर डालता है और भिन्न २ उपायों से उन्हें परिताप तथा पीड़ा देता है।
- (४१) मधुर शब्द की श्रासिक से मूर्त्रित हुआ जीव मनोज्ञ शब्द को प्राप्त करने में, उसका रक्षण करने में, उसके वियोग में, श्रथवा उसके नाश में कभी भी सुख कहां पाता है ? उनको भोग करते हुए भी उसको तृष्ति नहीं होती। (४२) शब्द भोगने में श्रसन्तुष्ट उस जीव की मूर्का के कारण
- (४२) शब्द भोगने में असन्तुष्ट उस जीव की मूर्ज़ के कारण उस पर और भी आसक्ति वढ़ जाती है और तब वह आसक्त जीव कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता और असन्तोष दोप से लोमाक्टट होकर वह दूसरे का अद्च भी प्रहण करने लगता है। (दूसरों के भोगों में चोरी से हिस्सा वांटता है)।
- (४३) तृष्णा से पराजित होने से वह जीव ग्रादत्त का ग्रहण (चोरी) करता है फिर भी वह शब्द को भोगने तथा उसकी प्राप्ति करने में सदेव श्राचन्तुष्ट ही रहता है श्रीर लोभ के दोष से वह कपट, श्रासत्यादि दोप का सहारा लेता है श्रीर होता। इसलिये ऐसा जीव कभी भी दु:खों से मुक्त नहीं होता।

- (४४) मूंठ वोलने के पहिले, बोलने के बाद तथा बोलते समय भी वह असत्यभाषी दुःखीआत्मा इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को प्रहण करते तथा शब्द में अतृप्त रहतेहुए और भी दुःखी और असहायी बन जाता है।
- (४५) शब्द में श्रनुरक्त ऐसे जीव को थोड़ा भी सुख कहां से मिले ? वह शब्द का उपभोग करते हुए भी श्रत्यन्त छेश तथा दुःख पाता है किर उनको प्राप्त करने के लिए भोक्त व दुःख की बात ही क्या ?
- (४६) इसीप्रकार श्रमनोज्ञ शब्द मे द्वेष करनेवाला वह जीव दुखो की परम्पराएँ उत्पन्न करता है तथा दुष्टचित्त होनेसे केवल कर्मों को संचित करता है श्रौर उन कर्मों का परि-ग्राम केवल दुःखकर ही होता है।
- (४७) परन्तु शब्द से विरक्त हुआ जीव उस तरह के शोक से रिहत रहता है और जैसे जलमें उत्पन्न हुआ कमलपत्र जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहता हुआ वह जीव बाह्य दुःख परम्परा में लिप्त नहीं होता है।
- (४८) गंध यह घाणेन्द्रिय (नाक) का श्राह्य विषय है। सुगंध राग का तथा दुर्गेध द्वेष का कारण है। जो जीव इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।
- (४९) नासिका गंध ग्रहण करती है श्रीर गंध नासिका का श्राह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ गंध राग का हेतु है श्रीर श्रमनोज्ञ गंध द्वेष का कारण है ऐसा महापुरुषों ने कहा है।

- (५०) जो जीव गंघ में तीत्र श्रासक्ति रखता है वह (चन्द्नादि) श्रीपियों की सुगंध में श्रासक्त होकर श्रपने विल में से निकले हुए सर्प की तरह श्रकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।
- (५१) श्रोर जो जीव श्रमनोज्ञ गंध पर तीत्र हेप रखता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव, श्रपने ही दुद्म्य दोप से दुःखी होता है उसमें गंध का जरा भी दोप नहीं है।
- (५२) जो कोई सुंगध पर श्रातिशय राग करता है वह श्रासक्त पुरुष श्रमनोज्ञ गंध पर द्वेप रखता है श्रीर श्रन्त में वह श्रज्ञानी उस दु:ख से खूत्र ही पीड़ित होता है किन्तु ऐसे दोप में वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।
- (५३) श्रत्यन्त स्वार्थ में द्वा हुआ वह वाल और मिलन जीव सुगन्थ में छुव्य होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिसा कर डालता है और भिन्न २ प्रकार से उनको, परिताप तथा पीड़ा देता है।
- (५४) फिर भी गंध की आसक्ति तथा मूर्छा से उस मनोज्ञ गंध को प्राप्त करने में, उसके रक्षण करने में, उसके वियोग में अथवा उसके विनाश में उस जीव को सुख कहां मिलता है ? उसका उपयोग करते समय भी वह तो अतृष्त ही रहता है।
- (५५) जब गंध का भोग करते हुए भी जीव असन्तुष्ट ही रहता है तब उसके परिश्रह में उसकी आसक्ति और भी बढ़ती जाती हैं और अति आसक्त उस जीव को कभी भी सन्तोप नहीं होता और असन्तोष के दोष से लोभाकृष्ट

तथा दुःखी वह जीवात्मा दूसरों के सुगन्धित पदार्थों की भी चोरी कर लेता है।

- (५६) इस प्रकार अदत्त का प्रहण करनेवाला, तृष्णा द्वारा पराजित और सुगन्ध भोगने तथा प्राप्त करने में असन्तुष्ट वह पाणी लोभ के दोष से कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह जीव दुःख से मुक्त नहीं होता।
- (५७) त्रसत्य वोलने के पहले, उसके बाद श्रथवा (श्रसत्य वाक्य) बोलते समय भी ऐसा दुष्ट दृदय प्राणी श्रितशय दुःखी ही रहता है श्रीर वह दुःखी जीवात्मा इस तरह श्रदत्त वस्तुश्रों को प्रहण करते हुए भी गंध में श्रतृष्त होने से श्रित दुःखी एवं श्रसहायी हो जाता है।
- (५८) इस प्रकार गंध में अनुरक्त जीव को थोड़ा भी सुख कहां से मिले ? जिस वस्तु को प्राप्त करने के लिये उसने कष्ट भोगा, उस ग्ंध के उपभोग में भी वह अत्यन्त क्षेश तथा दु:ख ही पाता है।
- (५९) इस तरह अमनोज्ञ गंध में द्वेष करनेवाला वह जीव दु:खों की परम्परा खड़ी कर लेता है और अपने द्वेषपूर्ण चित्त द्वारा केवल कर्मसंचय ही किया अरता है और वे कर्म अन्त में उसे दु:खदायी होते हैं।
- (६०) परन्तु जो मनुष्य गंध से विरक्त रहता है वह शोक से भी रहित रहता है और जल में उत्पन्न हुआ कमलदल जिस तरह जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार के बीच

- में रहने पर भी ( बह जीव ) उपरोक्त दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।
- (६१) जीभ रस का ब्राहक है। रस यह जीभ का बाह्य विषय है। मनोज्ञ रस राग का हंतु है श्रीर श्रमनोज्ञ रस द्वेप का हेतु है। जो जीव इन दोनों में समभाव रखता है वहीं वीतरागी है।
- (६२) जीम रस को बहुण करती है छोर रस जीम का बाह्य विषय है। इसलिये मनोज्ञ रस राग का हेतु है छोर अमनोज्ञ रस द्वेप का कारण है ऐसा महापुक्तपों ने कहा है।
- (६३) जैसे रस का भोगी मच्छ मांस के लोभ से लोहे के कांटे में फंस जाता है वैसे दी रसों में तीत्र आसक्तिवाला जीव भी श्रकालमृत्यु को प्राप्त होता है।
- (६४) और जो जीव श्रमनोज्ञ रस पर तीव द्वेप रखता है वह तत्क्षण ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव श्रपने ही दुईम्य दोप से दुःखी होता है उसमें रस का जरा भी दोष नहीं है।
- (६५) मनोज्ञ रस में एकान्त द्यासक्त जीव द्यमनोज्ञ रस पर देय करता है चौर द्यन्त में वह द्यज्ञानी दुःख से खूव ही पीड़ित होता है! ऐसे दोप से वीतरागी मुनि लिप्त नहीं होता।
  - (६६) श्रत्यन्त खार्थ में ह्वा हुश्रा वह वाल श्रीर मिलन जीव रस में छुव्य होकर श्रतेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा कर बालता है श्रीर भिन्न भिन्न प्रकार से उनकी परि-ताप तथा पीड़ा देता है।

- (६७) फिर भी रस की आसक्ति तथा मूर्छी से मनोज्ञ रस को प्राप्त करने में, उसके रच्चण करने में, उसके वियोग में, अथवा उसके विनाश में उस जीव को सुख कहां मिलता है ? उसका उपभोग करते समय भी वह तो अनुप्त ही रहता है।
- (६८) जब रस भोगते हुए भी वह श्रत्य ही रहता है तब उसके परिग्रह में उसकी श्रासक्ति श्रीर भी वढ़ जाती है श्रीर श्रित श्रासक्त उस जीव को कभी सन्तोष नहीं होता श्रीर श्रिसन्तोष से लोभाकृष्ट तथा दुःखी वह दूसरों के रस-पूर्ण पदार्थों को विना दिये ही ग्रहण करने लगता है।
- (६९) इस प्रकार श्रदत्त का प्रहण करनेवाला, तृष्णा द्वारा परा-जित श्रीर रस प्राप्त करने तथा भोगने में श्रसन्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत होकर कपट तथा श्रसत्यादि दोषों का सहारा लेता है श्रीर इससे वह जीव दुःख से मुक्त नहीं होता।
- (७०) स्रसत्य बोलने के पहिले, उसके बाद श्रथवा श्रसत्य वाक्य बोलते समय भी वह दुष्ट श्रन्तःकरणवाला दुःखी जीवात्मा इस प्रकार श्रदत्त वस्तुश्रों को प्रहण करता हुश्रा श्रौर रस में श्रतृप्त रह २ कर दुःखी एवं श्रसहायी बन जाता है।
- (७१) इस तरह रस में श्रनुरक्त हुए जीव को थोड़ा सा भी सुख कहां से मिल सकता है ? जिस रस को प्राप्त नहीं करने में उसने कप्ट भोगा उस रस के उपभोग में भी वह तो श्रत्यन्त छेश तथा दु:ख ही पाता है।
- (७२) इस प्रकार अमनोज्ञ रस में द्वेष करनेवाला वह जीव दु:खों की परम्परा खड़ी कर लेता है और द्वेषपूर्ण चित्त द्वारा

- केवल कर्मसंचय ही किया करता है श्रीर वे कर्म श्रन्त में एसे दु:खदायी होते हैं।
- (७३) परन्तु जो जीव रस से विरक्त रहते हैं वे शोक से भी रहित रहते हैं द्यौर जल में उत्पन्न हुत्रा कमलदल, जिस तरह जल से त्रालिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहते हुए भी उपरोक्त दु:खों की परम्परा में लिप्त नहीं होते।
- (७४) स्पर्श यह स्पर्शेन्द्रिय का श्राह्य विषय है। मनोज्ञ स्पर्श राग का हेतु है तथा श्रमनोज्ञ स्पर्श द्वेप का हेतु है—जो इन दोनों में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।
- (७५) काया यह स्पर्श की माहक है छौर स्पर्श यह उसका माह्य विषय है। मनोज्ञ स्पर्श राग का कारण है छौर अमनोज्ञ स्पर्श द्वेप का कारण है—ऐसा महापुरुपों ने कहा है।
- (७६) जो जीव स्परों में श्रित श्रासक्त होते हैं वे वन में स्थित तालाव के ठंडे जल में पड़े हुए श्रीर श्राह द्वारा निगले हुए रागातुर भैंसों की तरह श्रकाल मृत्यु को श्राप्त होता है।
- (७७) और जो जीव श्रमनोज्ञ स्पर्श से द्वेप करता है वह तत्क्ष्या ही दुःख को प्राप्त होता है। इस तरह ऐसा जीव श्रपने ही दुर्देम्य दोष से दुःखी होता है उसमें स्पर्श का जरा सा भी दोष नहीं है।
- (७८) मनोज्ञ स्पर्श में एकान्त ग्रायक्त जीव ग्रमनोज्ञ स्पर्श पर देप करता है ग्रीर श्रन्त में वह श्रज्ञानी दुःख से खूव ही पीड़ित होता है। ऐसे दोप मे वीतरागीमुनि लिप्त नहीं, होता।

- (७९) श्रत्यन्त स्वार्थ में डूबाहुश्या वह बाल श्रीर मिलन जीव स्पर्श में छुब्ध होकर श्रनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा करता है श्रीर भिन्न रे प्रकार से उनको परिताप तथा पीड़ा देता है।
- (८०) फिर भी स्पर्श की आसिक तथा मूर्ज़ों से मनोज़ स्पर्श को प्राप्त करने में, उसके रच्चण करने में, उसके वियोग में अथवा उसके विनाश में उस जीव को सुख कहां मिल सकता है ? उसका उपभोग करते समय भी वह तो अतृप्त ही रहता है।
- (८१) जब स्पर्श को भोगते हुए भी वह अतृप्त ही रहता है तब उसके परिप्रह में उसकी आसक्ति और भी बढ़ जाती है और अति आसक्त उस जीव को कभी सन्तोष नहीं होता और असन्तोष से लोभाकृष्ट तथा दुःखी वह जीव दूसरों के नहीं दिये हुए पदार्थों की भी चोरी कर लेता है।
- (८२) इस प्रकार अदत्त का प्रहण करने वाला, तृष्णा द्वारा परा-जित और मनोज्ञ स्पर्श प्राप्त करने तथा भोगने में अस-न्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत हो कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह दु:ख से मुक्त नहीं होता।
- (८३) असत्य बोलने के पहिले, उसके बाद अथवा असत्य बोलते समय भी वह दुष्ट अन्तः करणवाला दुःखी जीवात्मा इस प्रकार अदत्त वस्तुओं को प्रहण करके भी स्पर्श में तो अद्या ही रहने से और भी दुःखी तथा असहाय वन जाता है।

- (८४) इस तरह स्पर्श में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? स्पर्श के जिस पदार्थ को प्राप्त करने के लिये, उसने कष्ट भोगा उस स्पर्श के उपभोग में भी उसे अत्यन्त होश तथा दुःख ही मिलते हैं।
- (८५) इस प्रकार अमनोज्ञ स्पर्श में द्वेष करने वाला वह जीव दु:खों की परम्परा खड़ी कर लेता है और द्वेपपूर्ण चित्त द्वारा केवल कर्म संचय ही किया करता है और वे कर्म अन्त में उसे दु:खदायी ही सिद्ध होते हैं।
- (८६) परन्तु जो जीव स्पर्श से विरक्त रह सकते हैं वे शोक से भी रहित रहते हैं और जल में उत्पन्न हुआ कमल दल, जैसे जल से अलिप्त रहता है वैसे ही इस संसार में रहते हुए भी उपरोक्त दु:खों की परम्परा में लिप्त नहीं होते।
- (८७) भाव यह मनका विषय है। मनोज्ञ भाव राग का हेतु. है श्रीर श्रमनोज्ञ भाव द्वेप का हेतु है। जो इन दोंनो में समभाव रख सकता है वही वीतरागी है।
- (८८) मन यह भाव का ब्राह्क है और माब यह मन का ब्राह्म विषय है। मनोज्ञ भाव राग का कारण है और ब्रामनोज्ञ भाव द्वेप का कारण है—ऐसा महापुरुपों ने कहा है।
- (८९) जो जीव भावों में अति आसक्त होते हैं वे जीव, मनमानी हिथानी के पीछे दौड़ता हुआ। मदनोन्मत्त हाथी जैसे शीरा में पड़ कर मर जाता है वैसे ही अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं।
- (५०) श्रीर जो जीव श्रमनोज्ञ भावपर द्वेष करता है वह तत्त्वण ही दु:ख को प्राप्त होता है। इस तरह यह जीव श्रपने

- हीं दुर्देम्य दोष से दुःखी होता है उसमें भाव का किंचि-
- (९१) मनोज्ञ भाव में एकान्त त्रासक्त जोव त्रमनोज्ञ भावपर द्वेष करता है और अन्त में वह त्रज्ञानी दुःख से खूब ही पीडित' होता है। ऐसे दोष में वीतरागी मुनि लिप्न नहीं होता।
- (९२) अत्यन्त स्वार्थ में डूबा हुआ वह बाल और मितन जीव, भाव में छुट्ध होकर अनेक प्रकार के चराचर जीवों की हिंसा करता है और भिन्न भिन्न प्रकार से उनको परिताप तथा पीडा देता है।
- (९३) फिर भी भाव की श्रासिक तथा मूच्छी से मनोज्ञ भाव को प्राप्त करने में, उसके रच्चण करने में, उसके विनाश में उस जीव को सुख कहाँ मिलता है ? उसका उपभोग करते समय भी वह तो श्रतृप ही रहता है।
- (९४) जब भावको भोगते हुए भी वह श्रसन्तुष्ट रहता है तब उसके परियह में उसकी श्रासिक बढ़ती ही जाती है और श्रित श्रासक्त वह जीव कभी भी संतुष्ट नहीं होता श्रीर श्रसन्तोष के कारण लोभाकृष्ट होकर वह दु:खी जीव दूसरों द्वारा नहीं दिये हुए पदार्थ को भी चोरी करने लगता है।
- (९५) इस प्रकार चोरी करने वाला, तृष्णा द्वारा पराजित तथा भाव भोगने में असन्तुष्ट प्राणी लोभ के वशीभूत होकर कपट तथा असत्यादि दोषों का सहारा लेता है और इससे वह दु:ख से मुक्त नहीं होता है।
- (९६) श्रसत्य बोलने के पहिले, उसके बाद श्रयवा श्रसत्य वोलते समय भी वह दुष्ट श्रन्तःकरणवाला दुःखी जीवात्मा २५

इस प्रकार त्रदत्त वस्तुत्रों को प्रहण करके भी भाव में तो त्रात्म ही रहने से वह त्रीर भी दुःखी तथा त्रसहाय होता है।

- (९७) इस तरह भाव में अनुरक्त हुए जीव को थोड़ासा भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? जिस भाव के पदार्थों को प्राप्त करने में उसने कप्ट भोगा उस भाव के उपभोग में भी उसे अत्यन्त छेश तथा दुःख ही उठाने पड़ते हैं।
- (९८) इस प्रकार श्रमनोझ भाव में द्वेप करनेवाला वह जीव दु.खों की परम्परा खड़ी कर लेता है श्रीर उसके द्वेपपूर्ण चित्त होने से वह केवल कर्मसंचय ही किया करता है श्रीर वे कर्म श्रम्त में उसे दु:खदायी ही सिद्ध होते हैं।
- (९९) परन्तु जो जीव भाव से विरक्त रह सकता है वह शोक से भी रहित रहता है जैसे जलमें उत्पन्न हुन्ना कमलदल जल से श्रालिप्त रहता है वैसे ही संसार में रहते हुए भी उप-रांक प्रकार के दुःखों की परम्परा में लिप्त नहीं होता है।
- (१००)इस तरह इन्द्रियों तथा मन के विषय श्रासक्त जींव को केवल दुःख के ही कारण होते हैं। वे ही विषय वीतरागी पुरुष को कदापि थोड़ा भी दुःख नहीं दे सकते।
- (१०१)कामभोग के पदार्थ स्वयमेव तो समता या विकारमाव उत्पन्न करते नहीं हैं किन्तु रागद्वेष से भरी हुई यह श्रात्मा द्वी उनमें श्रासक्त होकर मोह के कारण ( उन विषयों में ) विकारभाव करने लगती है।
  - (१०२)(मोहनीय कर्म से जो १४ भाव उदित होते हैं वे ये हैं:—) (१) क्रोध (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) जुगुप्सा,

- (६) श्राति (७) रित, (८) हास्य, (९) भय, (१०) शोक, (११) पुरुषवेद का उद्य, (१२) स्त्रीवेद का उद्य, (१३) नपुंसकवेद का उद्य, श्रीर (१४) भिन्न भिन्न प्रकार के खेद। (ये सब भाव मोहासक्त जीवों को हुआ करते हैं।) (१०३) इस तरह कामभोग में आसक्त हुआ जीव इस प्रकार के अनेक दुर्गतिदायक दोषों को इकट्ठा कर लिजत होता है श्रीर सर्व स्थानों में अप्रीतिकारी करुगोत्पादक दीन बना हुआ वह दूसरे बहुत से दोषों को भी प्राप्त होता है।
- (१०४)इसी तरह इन्द्रियों के विषयरूपी चोर के वशीभूत हुआं भिक्ष भी अपनी सेवा करने के लिये साथी (शिष्यादि) की इच्छा करता है किन्तु साधु के आचार को पालना नहीं चाहता और संयमी होने पर भी तप के प्रभाव को न पिह-चान कर पश्चात्ताप (अरे, क्यो मैंने त्याग किया ? इत्यादि) किया करता है। इस तरह से अनेकानेक विकारों (दोषों) को वह उत्पन्न करता जाता है।
- (१०५)इसके बाद ऐसे विकारों के कारण, मोहरूपी महासागर में डूबने के 'उसे भिन्न भिन्न निमित्त कारण मिल जाते हैं श्रीर वह श्रनुचित कार्यों में लग जाता है। उससे उत्पन्न . हुए दु:ख को दूर कर सुख की इच्छा से वह श्रासक्त प्राणी हिंसादि कार्यों में भी प्रवृत्ति करने लगता है।
- (१०६)किन्तु जो विषयिवकारों से विरक्त हैं उन्हें इन्द्रियों के इस प्रकार के शब्दादि विषय मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता के भाव ही उत्पन्न नहीं कर सकते ( अर्थात रागद्वेष उत्पन्न नहीं कर सकते )।

- (१०७)इस तरह संयम के अनुष्ठानों द्वारा संकल्प-विकल्पों में समता प्राप्त कर उस विरागी आत्मा की शब्दादि विषयों के असंकल्प से ( दुष्ट चिंतवन न करने से ) कामभोग सम्बन्धी तृष्णा विलकुल चीण हो जाती है।
- (१०८) क्रतकृत्य वह वीतरागी जीव ज्ञानावरणीय कर्म को एक क्षणमात्र में खपा देता है और उसी तरह दर्शनावरणीय एवं अन्तराय को खपा देता है। (इस तरह समस्त घातिया कर्मों का नारा कर देता है)
- (१०९)मोह एवं अन्तरायरहित वह योगीश्वर आतमा; जगत के यावन्मात्र पदार्थों को जानने एवं अनुभव करने लगती हैं तथा पाप के प्रवाह रोककर शुक्रव्यान की समाधि प्राप्त कर सर्वथा शुद्ध हो जाती है और आयु के ज्ञय होने पर सोज को प्राप्त होती है।
- (११०) जो दुःख यावनमात्र संसारी जीवों को पीड़ित कर रहा है उस सर्व दुःख से तथा संसार रूपी अनादि अनन्त रोग से ऐसा प्रशस्त जीवातमा सर्वथा मुक्त हो जाता है और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर अनन्त सुख का स्वामी होता है।
- (१११) अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए दु:ख वन्धन की मुक्तिका यह मार्ग भगवान ने इस प्रकार कहा है। वहुत सं जीव कमपूर्वक इस मार्ग का अनुसरण कर अत्यन्त सुखी (मोक्ष को प्राप्त) हुए हैं।
- टिप्पर्शा—शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श ये पांच विषय है। के अपनी अपनी अनुकूछ इन्द्रिय को उत्तेजित करने का काम बड़ी ईर सफ्छतापूर्वक करते हैं मात्र निमित्त मिछना चाहिये। दूसरी बात

यह है कि इन सब विषयों का बढ़ां ही गाव पारस्परिक सम्बन्ध है और जो एक भी इन्द्रिय का काबू ढीला पड़ा तो दूसरी इन्द्रियों पर कावू रह ही नहीं सकता। जो कोई जिह्ना का काबू खोता है वह दूसरी इन्द्रियों का भी काबू गुमा बैठता है इसिंखिये एक भी इन्द्रिय को छूद देना यह यद्यपि देखने में तो एक छोटी सी भूक माल्स होती है, किन्तु यह महान अनर्थ का कारण है जिसका परिणाम एक नहीं किन्तु अनेक भवों तक भोगना पड़ता है इसिलिये सुज साधक को दान्त, शान्त और अडग रहना चाहिये।

ऐसा मैं कहता हूँ:—

इस तरह 'प्रमाद्स्थान' सम्बन्धो बत्तीसनां श्रध्ययन समाप्त हुश्रा।



# कर्मप्रकृति

# कमों की प्रकृतियां

#### ३३

इस नियम के वशीभूत होकर सारा संसार नाच इस नियम के वशीभूत होकर सारा संसार नाच रहा है। यह कायदा नया नहीं है, अनादि एवं अनन्त है। कोई कितना भी वली क्यों न हो, किन्तु उसकी इसके सामने कुछ भी दाल नहीं गलती।

श्रनेक वड़े २ समर्थ श्ररवीर, महान् योगीपुरुप श्रीर वड़े वड़े प्रचएड चक्रवर्ती राजा होगये, वे भी इस कायदे से नहीं सूटे। श्रनेक देव, दानव, राज्ञस, श्रादि भी हुए। उनको भी इसके सामने श्रपनी नाक रगड़नी ही पड़ी।

इस कर्म की रचना गंभीर है। कर्माधीन पड़ा हुआ यह जीवातमा, अपने सक्ष्य को देखते हुए भी भूल जाता है, देखते हुए भी नहीं देखता है। जड़ के धर्पण से विविध सुखदु:ख का अनुभव करता है और उन्हीं में ऐसा तन्मय होता है कि अनेक गतियों में जड़ के साथ ही साथ इस संसार चक्र में परिच्रमण करता रहता है। यद्यपि कर्म एक ही है किन्तु भिन्न २ परिणामीं की दृष्टि से उसके द्र मेद है। उनमें भी सब से श्रधिक प्रवल सत्ता, प्रवल सामर्थ्य, प्रवल कालस्थिति और प्रवल विपाक मोहनीयकर्म के माने जाते हैं। मोहनीय श्रथीत चैतन्य की भ्रांति से उत्पन्न हुआ कर्म। श्राट कर्मी मे यह सब का राजा है। इस राजा को जीत लेने के बाद दूसरे कर्म-सामन्त श्रासानी से जीत लिये जाते हैं।

इन सब कमों के पुर्गत परिणाम, उनकी कालस्थित, उनके कारण चैतन्य में होनेवाले परिणाम, काम, क्रोध, लोभ, मोह थ्रादि शत्रुओं के प्रचंड प्रकोप थ्रादि श्रधिकार इस श्रध्य यन में संदोप में किन्तु स्पष्ट रीति से वर्णन किये गये हैं। इस प्रकार के चिन्तन से जीवन पर होनेवाले कमीं के श्रसर से बहुतश्रंशमें मुक्त हुआ जा सकता है।

#### भगवान वोले:--

- (,१) जिनसे बन्धा हुआ यह जीव संसार में परिश्रमण कियां करता है उन आठ कमों का क्रमपूर्वक वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।
- (२)(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेद्-नीय, (४) मोहनीय, तथा (५) श्रायुकर्म।
- (३) श्रीर (६) नामकर्म, (७) गोत्रकर्म, तथा (८) श्रन्त-रायकर्म इस तरह ये श्राठ कर्म संत्रेप में कहे है।
- (४) (१) मित ज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) श्रुविज्ञानावरणीय, (३) श्रुविज्ञानावरणीय, श्रीर (५) केवलज्ञानावरणीय ये पांच ज्ञानावरणीय के भेद हैं।

- (५)(१) निद्रा, (२) निद्रानिद्रा, (गाढ़ निद्रा), (२) प्रचला (उटते वैठते ही ऊंघना), (४) प्रचला प्रचला (चलते हुए भी ऊंघ जाना), (५) थिएाद्धि निद्रा (सोते सोते कोई जवरदस्त काम कर डालना किन्तु सो कर उठने पर उसकी याद भी न रहना)।
- (६)(६) चक्षु दर्शनावरणीय, (७) द्यचक्षुदर्शनावरणीय, (८) त्रविदर्शनावरणीय, (९) केवलदर्शनावरणीय, ये दर्शनावरणीय कर्म के ९ भेद हैं।
- (७) (१) सातावेदनीय (जिसे भोगते हुए सुख उत्पन्त हो) तथा श्रसातावेदनीय (जिसके कारण दुःख हो)। ये दो भेद वेदनीयकर्म के हैं इन दोनों के भी दूसरे श्रनेक भेद हैं।
- दिप्पणी —कमें प्रकृति का विस्तार बहुत ही विशाल है। अधिक समझने के लिये कमें प्रकृति, कमें ग्रन्थ, इत्यादि ग्रन्थ पढ़ें।
- (८) दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय ये दो भेद मोहनीय-कम के हैं। दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के दो और उपभेद है।
- (९) दर्शनमोहनीय के (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिण्यात्व-मोहनीय श्रौर (३) सम्यक्मिण्यात्वमोहनीय ये तीन भेद हैं।
- (१०) चारित्रमोहनीय के (१) क्यायमोहनीय, तथा (२) नोकपायमोहनीय ये दो भेद हैं।
- टिप्पणी—कोवादिकपायजन्य कर्म को कपायमोहनीय कर्म कहते हैं। और नोकपायजन्य कर्म को नोकपायमोहनीय कर्म कहते हैं।

- (११) कपाय से उत्पन्न कर्मों के १६ भेद हैं छौर नी कषाय के सात अथवा नौ भेद हैं।
- टिप्पणी—(१) क्रोध, (२) मान, (१) माया, (४) लोभ ये चार कपाय हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्तानुषंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन ये चार चार उपभेद हैं इसिलये ये सब मिलकर १६ भेद हुए! हास्य, रित, अरित, भय, शोक, जुगुप्सा, वेद थे,; अथवा वेद के पुरुषवेद, स्रोवेद, तथा नपुंसक भेद करने से ये सब ९ भेद नोक्षमंकपाय के हुए।
  - (१२) नरक, तिर्यच, मनुष्य श्रौर देव—ये चार भेद श्रायुष्य कर्म के हैं।
- (१३) नाम कर्म के दो प्रकार हैं—(१) ग्रुम, तथा (२) श्रग्राम इन दोनों के भी बहुत से उपभेद हैं।
- (१४) गोत्र कर्म के दो भेद हैं:—(१) उच्च, तथा (२) नीच श्राठ प्रकार के मद करने से नीच गोत्र का तथा मद नहीं करने से उच्च गोत्र का बंध होता है। इस पर से इन दोनों के श्राठ श्राठ भेद कहे हैं।
- (१५) द्यन्तराय कर्म के पांच भेद हैं:—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगा-न्तराय, तथा (५) वीर्यान्तराय।
- टिप्प्गी-अपने पास वस्तु होने पर भी उसका उपभोग न कर सकना अथवा भोग्य वस्तु की प्राप्ति ही न होना-उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।
- (१६) इस प्रकार त्राठ कर्म और उनकी उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया। श्रव उनके प्रदेश, चेत्र, काल तथा भाव का वर्णन करता हूँ उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

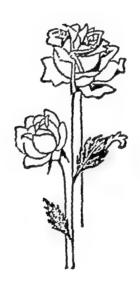
- टिप्पणी—प्रदेश अर्थात् उन उन कर्मी के पुद्गल परमाणुओं की संख्या । कर्म परमाणु जड़ हैं।
- (१७) त्राठों कमों के सब मिलाकर अनंत प्रदेश हैं श्रीर उनकी, संख्या का प्रमाण संसार के श्रभव्य जीवों की संख्या से श्रमंतगुना है श्रीर सिद्ध भगवानों की संख्या का श्रमन्तवां भाग है।
- टिप्पण् —अमध्य जीव उन्हें कहते हैं जिनमें मुक्ति प्राप्ति करने की योग्यता न हो।
- (१८) समस्त जीवों के कर्म संपूर्ण लोक की अपेचा से छहाँ दिशाओं में, सब आत्मप्रदेशों के साथ सब तरह से बंबते रहते हैं।
  - टिप्पणी—जिस तरह द्रव्य की अपेक्षा से आठों कर्म संख्या में भनंत हैं वैसे हीं क्षेत्र की अपेक्षा से ६ दिशाओं में बंटे हुए हैं।
- (१९-२०) उन श्राठ कमों में से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय श्रीर श्रंतराय कमों की जघन्य स्थिति श्रन्तर्मुहूर्ची की श्रीर उत्कृष्ट स्थिति तीस क्रोडाक्रोडी सागर की है।
- टिप्पण्णि—वेदनीय कर्म के दो भेदों में से सातावेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडाकोडी सागर की है। सागर शब्द जैन धर्म में एक बहुत करने काल प्रमाण का स्चक पारिभाषिक शब्द है।
- (२१) मोहनीय कर्म की जवन्य स्थित अन्तर्मुहूर्त की और उत्क्रष्ट स्थित सत्तर कोड़ाकोडी सागर की है।
- (२२) त्रायुष्यकर्म की जघन्य स्थिति स्थन्तर्भृहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तेवीस सागर तक की है।

- (२३) नाम श्रौर गोत्र इन दोनों कर्मों की जघन्य स्थिति श्राठ श्रन्तर्मुहूर्त की है श्रौर उत्कृष्ट श्रायु वीस कोडाकोडी सागर की है।
- (२४) सब कर्मस्कंधों के श्रनुभाग ( परिणाम किंवा रस देने की शक्ति ) का प्रमाण सिद्धगति प्राप्त श्रनंत जीवों की संख्या का श्रनन्तवां भाग है किन्तु यदि सर्व कर्मों के परमाणुश्रों की श्रपेक्षा से कहें तो उनका प्रमाण यावन्मात्र जीवों की संख्या से भी श्रधिक श्राता है।
- टिप्पणी—स्कंध संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं के बने होते हैं और इस कारण उनकी संख्या बहुत न्यून हैं किन्तु परमाणु तो इस तमाम लोकाकाश में व्याप्त हैं इसलिये प्रमाण (संख्या) में अनन्तानंत हैं इस हिसाब से इसकी संख्या सबसे अधिक है। जब पदार्थ की संख्या ही अनन्त है तो उसके परमाणुओं (अनुभागों) की संख्या अधिक हो यह स्वामाविक ही है।
- (२५) इस प्रकार इन कमों के रसों को जानकर मुमुक्ष जीव ऐसा प्रयत्न करे जिससे कमें का बंध न हो और पूर्व में बांधे हुए कमों का भी चय होता जाय और ऐसा करने में सदैव अपने उपयोग को जागृत रक्खे।
- टिप्पणी—कर्म के परिणाम तीव भयंकर हैं। कर्मवेदना का संवेदन तीक्ष्ण शक्ष के समान असहा लगता है और कर्म का नियम हृदय को कंपा दे ऐसा घोर है। कर्म के वन्धन चेतन की सामर्थ्य छीन लेते हैं। चेतन की व्याकुलता यही कष्ट है, यही संसार है और यही दुःख है। ऐसा जानकर अञ्चम कर्म से निवृत्त होना और शुभ कर्म का संचय करना यही उचित है। चैतन्य की प्रवल सामर्थ्य

विकसित होने पर उस शुभ कर्मरूपी सुनहरी वेडियों से भी छूट जाने का पुरुपार्थ करना—इसी में जीवन की सफलता समाई हुई है।

### ऐसा मैं कहता हूं-

इस तरह 'कर्मप्रकृति' संबंधी तेतीसवां अध्ययन समाप्त हुआ।



# लेश्या

### [ भावों का चढ़ाव उतार ]

#### 38

र्या शब्द के अनेक अर्थ है। लेश्या; कांति सोंद्र्य, मनोवृत्ति आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है। किंतु यहां पर लेश्या का जीवात्मा के अध्यवसाय अथवा परिणाम, विशेष के अर्थ में उपयोग हुआ है।

प्रत्येक संसारी जीवातमा में संचित (इकहे हुए), प्रारव्ध उदीयमान,) तथा क्रियमाण (वर्तमान में उदित)—ये तीन प्रकार के कर्म विद्यमान रहते हैं। यद्यपि कर्म ख्वंय जड़ वस्तु. है, स्पर्श, रस, गंध श्रीर वर्ण से सहित है श्रीर श्रातमा ज्ञान, श्रानन्द श्रीर सत्यमय है, उसका जज्ञण—उसका स्वभाव जड़ द्रव्य से विजकुज भिन्न-विपरीत है फिर भी जड़ प्यं चेतन का संसर्ग होने से जड़जन्य परिणामों का इस जीवातमा पर श्रसर पड़े विना नहीं रहता। जैसे लोहा कठिन ठोस पदार्थ है श्रीर श्रीन्व न ठोस है, न कठिन है, किर भी श्रीन्व के संयोग से जीहा जाज हो जाता है वैसे ही जड़ कर्मी के प्रभाव से श्रातमा में भी विकार पदा हो जाते हैं।

श्रव्हे कमों के परिणाओं से जीवातमा का श्राट श्रद्ध जाता है इसीसे वह कमेंगीन—गरीर, इन्द्रिय, श्राकृति, वर्ण इत्यादि धारण करता है श्रीर इसके द्वारा संचित कमों की निर्जरा तथा नवीन कमों का वन्थन ये दो कार्य प्रतिक्षण चालू रहते हैं। जब तक इन कमों से छूट जाने का सचा मार्ग नहीं मिल जाता जय तक श्रात्मद्यान जागृत नहीं होता, तबतक उन कमों के फलों को जुदी र गतियों में जुदी र तरह से यह जीव भोगता ही रहता है।

कम बहुत सदम होने से अपने मूलख़हूप में देखे नहीं जा सकते किन्तु निमित्त मिलने पर उनके कारण आत्मा पर होने बाला अच्छा या बुरा असर हमें मत्यन्न दिखाई देता है, जैसे जब आदमी कोध में होता है तब उसकी आँखें और मुंह लाल पड़ जाते हैं और आकृति कुछ की कुछ हो जाती है। इसी तरह अन्य भावों के उदय होने से शरीर की आकृति, हाबमाब और कार्य पर असर पड़ता है। इसी मकार यह लेश्या भी जीवात्मा का कमसंसर्ग से उत्पन्न हुआ एक विकार विशेष है।

लेश्या स्वयं कमिरूप होने से उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण (ये चारों जन्नण प्रत्येक पुद्रल पदार्थ में पाये जाते हैं) पाये जाते हैं परन्तु फिर भी कमिपंड इतने स्इम है कि उन्हें हम अपनी चर्म चन्नुयों से नहीं देख सकते, शरीर द्वारा स्पर्श नहीं कर सकते। करोड़ों और अरवों मील की दूरी पर स्थित छोटे से छोटे नन्नों को देख लेने की न्नमतावाली चड़ी से वड़ी दूरवीन श्रीर पानी के एक सहम विन्दु में श्रसंख्य कीटाणुओं (Germs) को देखनेवाले माइकोस्कोप (स्इमद्शक यंत्र) भी उस सहम कर्मीपंड को नहीं देख सकते। उसको समफने के लिये तो दिव्यक्षान एवं दिव्यद्शन की जहरत है।

फिर भी कार्यविशेष से उस वस्तु के अस्तित्व का हम करणना द्वारा अनुमान जरूर कर सकते हैं। मनुष्य की मुखा-इति, उसकी भयंकरता, सौम्यता, साहसिकता, गात्र का कंपन, उष्णता आदि सभी बातें आतमा के विशिष्ट भावों को व्यक्त करती हैं। आधुनिक वैद्यानिकशोधों से यह सिद्ध हो चुका है कि अत्यंत क्रोध के समय शरीर के रक्त बिन्दु विषमय हो जाते हैं और उस जहर से मनुष्य का वध भी हो सकता है। अनेक घटनाएं ऐसी हो चुकी है। इसिजये इस विषय में विशेष जिखनेकी आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु प्रत्यक्तहै वह स्वयमेंचे सिद्ध है, उसका अस्तित्व सिद्ध करने के जिये अन्य प्रमाणों की जहरत नहीं है।

द्यात्मा के भाव द्यसंख्य हो सकते है इस दृष्टि से लेश्याएं भी द्यसंख्य ही हैं किन्तु त्यवहार के लिये उनको ई मुख्य भागों में विभक्त कर लिया गया है। उनमें से प्रथम तीन लेश्याएं द्याप्रास्त हैं द्यौर बाकी की तीन शुम हैं। द्राप्रशस्त का त्याग करना द्यौर प्रशस्त की द्याराधना करना प्रत्येक मुमुद्ध के लिये

परमावश्यक है।

#### भगवान वोलेः---

- (१) अब मैं यथाक्रम लेश्या के अध्ययन का वर्णन करता हूँ। इन ६ प्रकार की कर्म लेश्याओं के अनुभावों का वर्णन करते हुए मुक्तको तुम ध्यानपूर्वक सुनो—
- दिप्पणी—कर्मलेक्या शब्द का उपयोग एक विशिष्ट अपेक्षा से किया है। कर्म और लेक्या का अविनाभावी संबंध है। इसी विवक्षा से इसका इस रूप में कथन किया गया है। अनुभाव अर्थात् कर्मी का तीव्रमंद रस देने का गुण।

<sub>उत्तराध्ययन</sub> सूत्र (२) (लेखा के १२ बोलों के नाम तानाते हैं) (१) नाम (३) वर्णा, (३) रस, (४) गान्च (५) स्वर्णा, (६) परिणाम, (७) लल्ला, (८) स्थान, (९) स्थिति, (१०) गति, और (११) च्यक्त (अन्तर्भेहते मात्र आयु 800 शेष रहने पर आगामी सब की जो लेखा हरपत्र होती है उसे च्यवत द्वार फहते हैं।) अब में उनका वर्णत कहता (३)(१) मुहम लेखा, (२) नील लेखा, (३) काणोवी त्रिया, (४) तेजो लेखा, (५) पद्म लेखा, और (६) (४) कृष्ण लेखा का वर्ण जल से भरे हुए वादल के रंग के समान, मेंसे के सींग के रंग के समान, अरीठा के समान, गाड़ी के औंधन के समान, काजल के समान और आंख (4) तील लेखा का वर्ण हरे अशोक वृत्त, तीलचास पक्षी की क्रॉल ग्रीर स्निग्व नीलमणि जैसा माना गया है। (६) कापोर्ता लेखा का वर्ण अलसी के फूल, कोयल के पंख रियाणी—कापोती होस्या का वर्ण हरूका काला और सूक्ष्म लाल रंग (७) वंजो लेख्या का वर्ण होगड़ा जैसा, जाते हुए सूर्थ जैसा, स्म की चांच हैंसा, अयवा दीपक की शिखा जैसा सामा है।

- (८) पद्म लेश्या का वर्ण हल्दी के दुकड़े जैसा, सन जैसा, श्रौर श्रसन के फल जैसा पीला माना है।
- (९) शुक्क लेश्या का वर्णा शंख, श्रंकरल, सचकुंद के फूल, दूध की धार श्रथवा चांदी के हार के समान उज्ज्वल माना है।
- (१०) कृष्ण लेश्या का रस, कड़वी तुंबड़ी, कडुए नीम, अथवा कड़वी रोहिणी के रस से भी अनंत गुना अधिक कडुआ समभना चाहिये।
- (११) नील लेश्या का रस सोंठ, मिर्च, पीपर, श्रथवा हस्ति, पिष्पली के रस की भी श्रपेत्ता श्रनंत गुना तीखा सममना चाहिये।
- (१२) कापोती लेश्या का रस कचे आम, कचे कोठा अथवा तूंवर के फल के रस से भी अनंत गुना अधिक खट्टा सममता' चाहिये।
- (१३) तेजो लेश्या का रस पके आम और पके कोठा के रस से भी अनन्त गुना अधिक खट्टामीठा समम्मना चाहिये।
- (१४) पद्म लेश्या का रस उत्तर वारूणी ( एक प्रकार की श्राति खट्टी मीठी शराव ), भिन्न २ प्रकार के मधु, मेरक श्रासव श्रादि के रस की श्रपेक्षा श्रनंत गुना मीठा समम्मना । चाहिये।
- (१५) शुक्क लेश्या का रस खजूर, द्राक्ष, दूध, शक्कर, गुड़ त्रादि के रस से भी त्रानंत गुना त्राधिक मीठा सममाना चाहिये।
- (१६) कृष्ण, नील, कापोती इन तीनों अशुभ लेखाओं की गंध, मृत गाय, मृत कुरी अथवा मृत सर्प की दुरीध से अनंत गुनी अधिक होती है।

- (१७) तेजो लेखा, पद्म लेखा और ग्रुक्त लेखा इन तीनों प्रशस्त लेखाओं की गंध केवड़ा आदि सुगंधित पुष्पों अथवा विसे जाते हुए चंदनादि की सुगंध से भी अनंत गुनी अधिक प्रशस्त होती है।
- (१८) ऋष्ण, नील, और कापीती इन तीनों लेश्याओं का स्पर्श त्यारी, गाय वैल की जीम और साग वृत्त के पत्र की त्र्यपेत्ता अनंत गुना अधिक कर्कश होता है।
- (१९) तेजो, पद्म श्रौर शुक्त इन तीनों लेश्याश्रों का स्परो मक्खन, सरसों के फूल, वूर नामक वनस्पति के स्पर्श की श्रपेक्षा श्रनंत गुना श्रिविक कोमल होता है।
- (२०) उन छहों लेश्यात्रों के परिणाम त्रानुक्रम से तीन, नौ, सत्ताईस, इक्यासी और दोसौ तेतालीस प्रकार के होते हैं।
- टिप्पणी—तीन अर्थात् नघन्य, मध्यस और उत्कृष्ट । फिर जवन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के क्रम से ये ही तीन तीन भेद और बढ़ाते जाना चाहिये ।

#### लंश्यात्रों के लक्त्रण

(२१-२२) पाचों आसवों ( मिथ्यात्व, श्रव्रत, प्रमाद, कपाय श्रौर श्रिश्च योग ) का निरन्तर सेवन करनेवाला, मन वचन श्रौर काय का श्रसंयमी; व्र काय की हिंसा में श्रासक्त, श्रारम्भ में मम; पाप के कायों में प्रवल पराक्रमी श्रौर सुद्र श्रात्मावाला कूर, श्रजितेन्द्रिय, सर्व का श्रहित करने-वाला एवं कुटिल भावनाशील इन सब भोगों में लगे हुए जीव को सुप्ण लेश्यावारी सममना चाहिये।

- (२३-२४) ईर्ब्याल, कदामही ( असिहण्णु ) तप महरा न करते-वाला, अज्ञानी, मायावी, निर्ह्णं , लंपट, द्वेषी, रस-लोलुपी, राठ, प्रमादी, म्वार्थी, आरंभी, क्षुद्र तथा साहसी इत्यादि प्रकार के जीव को नील लेश्याधारी सममना चाहिये।
- (२५-२६) वाणी श्रौर श्राचार में (श्रप्रामाणिक), मायावी, श्रिम-मानी, श्रपने दोष को छुपानेवाला, परिप्रही, श्रनार्थ, मिध्यादृष्टि, चोर श्रौर मर्मभेदी वचन बोलने वाला इन सब लक्षणों से युक्त मनुष्य को कापोती लेश्या का धारक जीव सममना चाहिये।
- (२७-२८) तम्र, अचपल, सरल, अकुत्ह्ली, विनीत, दांत, तपस्वी, योगी, धर्म में दृढ़, धर्मप्रेमी, पापभीरू, परहितैषी स्रादि गुर्णों से युक्त जीव को तेजो लेश्यावंत सममना चाहिये।
- (२९-३०) जिस मनुष्य को कोध, मान, माया, श्रौर लोभ श्रह्पमात्रा
  में हों, जिसका चित्त संतोष के कारण शांत रहता हो, जो
  दिमतेन्द्रिय हो; योगी, तपस्वी, श्रह्पभाषी, उपशम रस में
  मग्न, जितेन्द्रिय—इन सब गुणों से युक्त जीव को पद्म
  तेश्याधारी समभना चाहिये।
- (३१) आर्त तथा रौद्र इन दोनो ध्यानों को छोड़कर जो धर्म एवं शुक्ठ ध्यानो का चिंतवन करता है तथा राग द्वेषरहित, शांत-चित्त, द्रिमतेन्द्रिय तथा पांच समितियो एवं तीन गुप्तियों से गुप्त—
- (३२) श्रल्परागी श्रथवा वीतरागी, उपशांत, जितेन्द्रिय श्रादि गुणो में लवलीन उस जीव को शुक्ल लेश्यावान सममता चाहिये।

- (३३) श्रसंख्य श्रवसर्पिणी तथा उत्सिपिणियों के समयों की जितनी संख्या है श्रीर संख्यातीत लोक में जितने श्राकाश- श्रदेश हैं उतने ही श्रुभ तथा श्रश्चम लेश्याश्रों के स्थान सममना चाहिये।
- टिप्पणी—उस क्रोडाक्रोडी सागरी का एक अवसर्विणी काल तथा दस क्रोडाक्रोडी सागरी का एक उत्सर्पिणी काल होता है।
  - (३४) कृप्य लेखा की जघन्य स्थित एक अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सहित तेतीस सागर तक की है।
  - टिप्पणी—अगले जन्म में जो लेश्या मिलनेवाली होती है वह लेश्या मृत्यु के एक मुहूर्त पहिले आती है इसीलिये एक अन्तर्मुहूर्त समय. अधिक जोदा गया है।
  - (३५) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक श्रान्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक परुष के श्रासंख्यातवें भागसहित दसः सागरोपम सममनी चाहिये।
    - (३३) कापोती लेश्या की जघन्य स्थित एक अन्तर्मुहूर्त की और चत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के असंख्यातवें भागसहित वीनः सागर की है।
    - (३७) तेजो लेखा की जवन्य स्थिति एक छान्तर्मुहूर्त की श्रीर इक्ट स्थिति एक पत्य के श्रासंख्यातर्ने भागसहित दो सागर को है।
    - (३८) पद्मलेश्या की जयन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उक्तप्ट स्थिति एक अन्तर्मुहुर्त सिहत दस सागर की है।

(३९) शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की श्रौर उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसहित तेतीस सागर की है।

(४०) यह लेश्यात्रों की स्थिति का वर्णन किया। श्रव चारों गतियों में लेश्यात्रों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कहता हूँ उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो ।

(४१) ( नरक गित की लेश्या स्थिति कहते हैं ) नरकों में कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्षों की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के असंख्यात्र्वे भागसिहत तीन सागर की है।

(४२) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक पत्य के असंख्यातवें भागसहित तीन सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के असंख्यातवें भागसहित दस सागर की है।

.(४३) कृष्णालेश्या की जघन्य स्थित एक पत्य के श्रसंख्यातवें भागसिहतें दस सागर की है श्रीर उस्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तक की है।

(४४) नरक के जीवों की लेश्या स्थिति इस प्रकार कही; अब पशु, मनुष्य और देवों की लेश्या स्थिति का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

(४५) तिर्यच एवं मनुष्य गितयों में (पृथ्वी, जल, श्रिग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, श्रमंज्ञी पेचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यच तथा समूच्छ्न एवं गर्भज मनुष्यों में ) शुक्ल लेश्या सिवाय वाकी सव लेश्याश्रों की जयन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल एक श्रन्तमुंहूर्त की है। (इस- लिये इसमें केवलज्ञानी भगवान का समावेश नहीं होता)।

The

- (३३) असंख्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणियों के समयों की जितनी संख्या है और संख्यातीत लोक में जितने आकाश- प्रदेश हैं उतने ही शुभ तथा अशुभ लेश्याओं के स्थान समकता चाहिये।
- टिप्पणी—इस क्रोडाक्रोडी सागरी का एक अवसर्पिणी काल तथा दस क्रोडाक्रोडी सागरी का एक उत्सर्पिणी काल होता है।
  - (३४) कृष्ण लेखा की जघन्य स्थित एक अन्तर्मुहूर्त की श्रीर व्यक्टर स्थित एक अन्तर्मुहूर्त सहित तेतीस सागर तक की है।
  - टिप्पर्गा—अगले जन्म में जो लेश्या मिलनेवाली होती है वह लेश्या मृत्यु के एक मुहूर्त पहिले आती है इसीलिये एक अन्तर्मुहूर्त समय. अधिक जोड़ा गया है।
  - (३५) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक श्रन्तर्मुहूर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक परुष के श्रसंख्यातर्वे भागसहित दसः सागरोपम सममनी चाहिये।
  - (३१) कापोती लेश्या की जघन्य स्थित एक अन्तर्मुहूर्त की श्रौर डत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के असंख्यातवें भागसहित वीनः सागर की है।
  - (३७) तेजो लेश्या की जवन्य स्थिति एक ख्रान्तर्मुहूर्त की ख्रीर उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के ख्रसंख्यातर्वे भागसहित दो सागर को है।
  - (३८) पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त की और उक्तष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त सिह्त दस सागर की है।

- (३९) शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति खन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक खन्तर्मुहूर्तसिंहत तेतीस सागर की है।
- (४०) यह लेश्यात्रों की स्थिति का वर्णन किया। श्रव चारों गतियों में लेश्यात्रों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कहता हूं उसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो ।
- (४१) ( नरक गित की लेश्या स्थित कहते हैं ) नरकों में कापोती लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्षों की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के असंख्यात्र भागसिहत वीन सागर की है।
- (४२) नील लेश्या की जघन्य स्थिति एक पत्य के असंख्यातर्वे भागसिहत तीन सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के असंख्यातर्वे भागसिहत दस सागर की है।
- .(४३) कृष्णिलेश्या की जघन्य स्थिति एक पत्य के असंख्यातर्वे भागसिहतं दस सागर की है और उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तक की है।
- (४४) नरक के जीवों की लेश्या स्थिति इस प्रकार कही; श्रव पशु, मनुष्य श्रीर देवों की लेश्या स्थिति का वर्णन करता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनो।
- (४५) तिर्येच एवं मनुष्य गितयों में ( पृथ्वी, जल, श्रिग्नि, वायु, वनस्पित, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, श्रमंज्ञी पेचेन्द्रिय, संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्येच तथा समूच्छीन एवं गर्भेज मनुष्यों में ) शुक्ल लेश्या सिवाय बाकी सब लेश्याश्रों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति केवल एक श्रन्तमुंहूर्त की है। ( इस- लिये इसमें केवलज्ञानी भगवान का समावेश नहीं होता )।

- (४६) (केवलीभगवान की शुक्त लेखा के विषय में कहते हैं) शुक्त लेखादि की जघन्य स्थित एक अन्तर्भुहर्त की तथा उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम एक क्रोड पूर्व की समम्तनी चाहिये।
- (४७) मनुष्य एवं तिर्येच गितयों की लेश्यास्थिति का वर्णन मैंने तुम्हे सुनाया; अब मैं तुम्हें देवों की लेश्यास्थिति कहता हूँ उसे ध्यानपूर्वक सुनो।
- (४८) कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के श्रसंख्यातवें भाग जितनी है।
- (४५) नील लेखा की जयन्य स्थिति, एक समय श्रधिक कृष्ण लेखा की उत्कृष्ट स्थिति के वरावर है तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के असंख्यातवें भाग के वरावर है।
- (५०) कापोती लेश्या की जयन्य स्थिति नील लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति में एक समय अविक; तथा उत्कृष्ट स्थिति एक पस्य के असंख्यातवें भाग के वरावर है।
- (५१) त्रव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिप, त्रौर वैमानिक देवोंकी तेजो लेखा की स्थिति कहता हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुनोः—
- (५२) तेजो लेरंया की जचन्य स्थिति एक पर्य की श्रीर उक्कष्ट एक पर्य के श्रमंख्यातवें भाग सहित दो सागर की है।
- (५३) ( भवनवासी एवं व्यंतर देवों की ) तेजो लेखा की जवन्य स्थित दसहजार वर्षों की श्रीर उत्कृष्ट स्थिति एक पत्य के श्रसंख्यातवें भाग सहित दो सागर की श्रपेत्ता से वैमा-निक देवों की है।

- (५४) पद्म लेश्या की जघन्य स्थित तेजो लेश्याकी उत्कृष्ट स्थिति से एक समय और अधिक के बराबर है और उत्कृष्ट आयु एक समय सहित दस सागरोपम है।
  - (५५) ग्रुष्ठ लेश्या की जघन्य स्थिति एक समय सहित पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति के बराबर है श्रीर उत्कृष्ट स्थिति एक श्रन्तमुहूर्व सहित ३३ सागर की है।
  - (५६) कृष्ण, नील और कापोती ये तीनों अधर्म लेश्याएँ हैं और इन तीनों लेश्याओं के कारण जीवारमा दुर्गति को प्राप्त होता है।
  - ( ५७ ) तेजो, पद्म श्रौर शुक्ल ये तोनों धर्म लेश्याएं हैं श्रौर इन तीनों लेश्याश्रोंके कारण जीवात्मा सुगतिको प्राप्त होता है।
  - (५८-५९) मरग् समय अगले जन्म के लिये जब जीवात्मा की लेश्याएँ बदलती हैं उस समय पहिले समय अथवा अंतिम समय में किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती है।
    - टिष्पणी—समय, काळवाची सबसे छोटा प्रमाण है।
    - (६०) सारांश यह है कि मरणांत के समय आगामी भव की लेश्याओं के परिषमित होने पर एक अन्तर्मुहूर्त बाद अथवा एक अन्तर्मुहूर्त वाकी रहने पर ही जीव परलोक को जाता है।
    - टिप्पणी—लेक्याओं की रचना इस प्रकार की है कि अगली जैसी गति में जाना होता है वैसे आकार में मृत्यु के एक समय के पहिले परिणत हो जाती हैं।

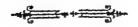
(६१) इसिलये इन सभी लेश्यात्रों के परिणामों को जानकर भिक्ष अप्रशस्त लेश्यात्रों को छोड़कर प्रशस्त लेश्यात्रों में अधियान करे।

टिप्पणि—शुभ को सब कोई चाहता है, अशुभ को कोई नहीं चाहता। किन्तु शुभ की प्राप्ति केवल विचार करने मात्र से नहीं हो सकती। इसकी प्राप्ति के लिये तो निरन्तर शुभ प्रयत्न करना पदता है।

अप्रशस्त लेक्याओं की उत्पत्ति होना स्वाभाविक है, उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करना पढ़ता । ईप्यां, क्रोध, द्रोह, क्रता, असंयम, प्रमत्तता, वासना, माया आदि निमित्त मिलते ही जीवात्मा इच्छा अथवा अनिच्छा से सहसा कुछ का कुछ कर चैठता है किन्तु कोमलता, विश्वप्रेम, संयम, त्याग, अपणता, अभयता आदि उच्च सद्गुणों की आराधना करना भी कठिन है। इसी में जीवात्मा की कसीटो होती है और वहीं उपयोग की जरूरत है। ऐसी कसीटी पर चढ़नेवाला साधक ही शुभ, सुन्दर तथा प्रवास्त लेक्याओं को प्राप्त करता है।

#### ऐसा में कहता हूँ-

इस तरह 'लेश्या' संबंधी चौंतीसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।



## **अणगाराध्ययन**



#### साधु का चारित्र

३५

सार के बाह्य बंधनों से छूट जाना कोई आसान वात नहीं है। संसार के सण्भगुर पदार्थों में बहुत से विचारे भोगविलासी जीव रच पच रहे हैं, भटकते फिर रहे हैं थ्रौर स्वच्छन्दी जीवन ज्यतीन कर इस लोक तथा परलोकमें परम दुःख को देनेवाले कमीं का सश्चय कर रहे हैं।

यहां तो, किसी सीणकर्मी जीव को ही सद्भाव, वैराग्य या त्याग धारण करने की उत्कट अभिजाषा पैदा होती है। यहां तो धन इकट्टा करने के जिये ही दौड़ा दौड़ी हो रही है, त्यागभाव किसी विरले को ही होता है।

ऐसा त्यागी जीवन यद्यपि दुर्लभ हैं फिर भी शायद मिल भी जाय तो भी घरवार, सगेसम्बन्धी भ्रादि को छोड़ देने से ही जीवनविकास की इतिश्री नहीं हो जाती। जितना ऊंचा भ्रादर्श होता है, जवाबदारी भी उतनी ही भारी होती है।

त्यागी का जीवन, त्यागी की सावधानी, त्यागी की मनो-दशा आदि कितने कठोर, उदार और पवित्र होने चाहिये उसका यहां वर्णन किया है।

#### भगवान वोलेः—

- (१) जिस मार्ग का श्रनुसरण करके भिक्षु दुःख का श्रंत कर सकता है उस तीर्थङ्कर निरूपित मार्ग का तुम को उपदेश करता हूँ। उसको तुम एकाम चित्त से सुनो।
- (२) जिस साधुने गृहस्थवास छोड़कर संयम-मार्ग श्रंगीकार किया है उसको उन श्रासिक्तयों के स्वरूप को वरावर समक लेना चाहिये जिनमें सामान्य मनुष्य वंधे हुए हैं।

टिप्पणी—'समझ डेने' से यह आशय है कि उन्हें समझ कर छोड़ देने !

- (३) उसी प्रकार हिंसा, भूंठ, चोरी, अत्रह्मचर्य, अप्राप्य वस्तुओं की इच्छा तथा प्राप्त पदार्थों का परिम्रह (समत्व भाव) इन ५ स्थानों का भी संयमी छोड़ देवे।
- (४) चित्रों से सुशोभित, पुष्प अथवा अगरचंदन आदि सुगन्थितः पदार्थों से सुत्रासित सुंदर श्वेतवस्त्रों के चँदोवों द्वारा सुस-ज्ञित, तथा सुन्दर किवाड़ वाले मनोहर घर की भिक्षु मन् से भी इच्छा न करे।
- टिप्पणि—ऐसे स्थानों मं न रहने के लिये जो कहा गया है उसका मतलय यह है कि वाहर का सौन्दर्य भी कई बार देखने से आत्मा में वीजरूप में विद्यमान रागादिक विकारों को उत्तेजित करने में निमित्त रूप हो जाता है।
- (५) (उपरोक्त प्रकार के सुसिक्तित) उपाश्रय में भिक्ष को अपना इन्द्रिय संयम रखना कठिन होता है क्योंकि वह स्थान काम श्रीर राग को वढ़ानेवाला होता है।

- (६) इसिलये स्मशान, शून्य घर, वृक्ष के मूल अथवा गृहस्थ के अपने लिये बनाए हुए सादे एकांत मकान में ही साधु को रागद्वेषरिहत होकर निवास करना चाहिये।
- टिप्पशी-उस समय में बहुत से भाविक गृहस्थ अपनी धार्मिक क्रियाएं. करने का प्कांत स्थान अपने घर से अलग बनवा लिया करते थे।
- (७) जिस स्थान में बहुत से जीवों की उत्पत्ति न होती हो, स्वपर के लिये पीड़ाकारक न हो, स्त्रियों के आवागमन से रहित हो, ऐसे एकांत स्थान में ही परम संयमी भिक्षु: को निवास करना कल्पता है (योग्य है)।
- (८) भिक्षु (स्वयं) घर वनावे नहीं, दूसरों द्वारा बनवावे नहीं, क्योंकि घर बनाने की क्रिया में अनेक जीवों की हिंसा होती है।
- (९) क्योंकि गृह वनाने की क्रिया में सूक्ष्म एवं स्थूल श्रानेक स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिये संयमी पुरुष को घर बनाने की क्रिया का सदन्तर त्याग कर देना चाहिये।
- (१०) उसी प्रकार आहार पानी बनाने ( रांधने ) और वनवाने ( राँधवाने ) में भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति स्थावर एवं त्रस जीवों की हिंसा होती है इसलिए प्राणियों की दया के लिये संयमी साधु स्वयं अन्न न पकावे और न दूसरों द्वारा पकवावे।
- (११) जल, धान्य, पृथ्वी और ईधन के आश्रय में रहते हुए श्रनेक जीव आहार-पानी बनाने में हने जाते है, इसलिए भिक्षु को भोजन नहीं पकाना चाहिये।

- (१२) सव दिशात्रों में शस्त्र की धारा की तरह फैली हुई और श्रमंख्य जीवों का घात करनेवाली ऐसी श्राग्न के समान श्रम्य कोई दूसरा शस्त्र घातक नहीं है। इसलिये साधु श्राग्न कभी न जलावे।
- टिप्पणी-मिक्ष स्वयं ऐसी कोई हिंसक क्रिया न करे, न दूसरों से करावे और न दूसरों को वैसा करते देखकर उसकी प्रशंसा ही करे।
- ·(१३) खरीदने और वेचने की क्रियाओं से विरक्त तथा सुवर्ण एवं मिट्टी के ढेले को समान सममतेवाला ऐसा भिक्ष सोने चांदी की मन से भी इच्छा न करे।
- दिप्पणी—जैसे मिटी के ढेळे को निर्मृत्य जानकर कोई उसे नहीं उठाता चैसे ही साधु सुवर्ण को देखते हुए भी उसे स्पर्श न करे क्योंकि त्याग करने के चाद उसके लिये सोना और ढेळा दोनों समान है।
  - (१४) खरीदनेवाले को प्राहक कहते हैं और जो वेचता है उसे विनया (व्यापारी) कहते हैं इसलिये चिद क्रयविकय में साधु भाग ले तो वह साधु नहीं कहाता।
  - (१५) भिक्षा मांगने का लिया है त्रत जिसने ऐसे भिक्ष को भिन्ना मांगकर हो कोई वस्तु त्रहण करनी चाहिये, खरीद कर कोई वस्तु न लेनी चाहिये, क्योंकि खरीद करने श्रीर वेचने की क्रियाओं में दोप भरा हुश्रा है, इसलिये भिन्ना-चृत्ति ही सुखकारी है।
  - िट प्पण्णि—कंचन और कामिनी ये दो वस्तुएं संसार की वंधन हैं। इनके पीछे अनेकानेक दोष भरे हुए हैं। उनको एक बार त्याग देने के बाद त्यागी को उनका परिग्रह (संग्रह) तो क्या, उनका चिंत-

वन तक न करना चाहिये। इसीलिये त्यागी के लिये भिक्षाचरी को ही धर्म्य बताया है।

- (१६) सूत्र में निर्दिष्ट नियमानुसार हो श्रानिदित घरों में सामु-दानिक गोचरी करते हुए श्राहार की प्राप्ति हो किंवा न हो फिर भी मुनि को सन्तुष्ट ही रहना चाहिये।
  - टिप्पणी—जो कोई कुळ दुर्गुणों के कारण निंदित हों अथवा अभक्ष्य-मक्षी हों उनको छोड़कर भिक्षु को भिन्न २ कुलों में निर्दोष भिक्षा-हृत्ति करनी चाहिये।
  - (१७) अनासक्त तथा स्वादेन्द्रिय के ऊपर कावू रखनेवाला साधुः रसलोलुपी न बने। यदि कदाचित सुन्दर स्वादु भोजन न भिले तो खिन्न न हो किंवा उसकी बांझा न करे। महामुनि स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिये भोजन न करें किन्तु संयमी जीवन का निर्वाह करने के उद्देश्य से ही भोजन करें।
  - (१८) चंदनादि का श्रर्चन, सुन्टर श्रासन, ऋद्धि, सत्कार, सन्मान, पूजन श्रथवा बलात् वंदन—इनकी इच्छा भिक्षु मन से भी न करे।
  - (१९) भरगापर्यंत साधु श्रपरिप्रही रहकर तथा शरीर का भी ममत्व त्यागकर, नियाग्गरिहत हो शुक्लध्यान का ध्यान धरे श्रीर श्रप्रितवंधरूप से विहार करे।
  - (२०) कालधर्म (मृत्यु अवसर) प्राप्त हो तव चारों प्रकार के-आहार त्याग कर वह समर्थ भिक्षु इस अन्तिम शरीर को छोड़ कर सब दुःखों से छूट जाय।

(२१) ममत्व और अहंकार रहित, अनास्रवी और वीतरागी होकर केवलज्ञान को प्राप्त कर फिर चिरन्तन मुक्ति को प्राप्त करे।

टिप्पण् स्थम यह तलवार की धार है। संयम का मार्ग देखने में सरल दीखने पर भी आचरने में अति कठिन है। संयमी जीवन सब किसी के लिये सुलम नहीं है, फिर भी यह एक ही कल्याण का मार्ग है।

#### ऐसा में कहता हूं-

इस तरह 'त्रणगार' संबंधी पेंतीसवां ऋध्ययन समाप्त हुत्रा।



# जीवाजीवविभक्ति

\*\*\*\*\*\*\*

## जीवाजीव पदार्थों का विभाग

#### 38

में घूमता फिरता है। इसी का नाम संसार है।
ऐसे संसार की आदि का पता कैसे चले? जब से चेतन है
तभी से जड़ है—इस तरह ये दोनों तत्त्व जगत के आगु आगु में
भरे पड़े है। हमें उसकी आदि (प्रारंभ) की चिन्ता नहीं है
क्योंकि उसकी आदि (प्रारंभ) की चिन्ता नहीं है
क्योंकि उसकी आदि किस काल में हुई—यह जानने से हमें
कुछ भी लाभ नहीं है और उसे न जानने में अपनी कुछ भी
हानि नहीं है। क्योंकि जैन दर्शन मानता है कि इस संसार की
आदि नहीं है और समस्त प्रवाह की दृष्टि से अनन्त काल तक
संसार तो चाल ही रहेगा। फिर भी मुक्त जीवों की दृष्टि से
मुक्ति (संसार का अन्त) थी और रहेगी।

चेतन और जड़ का सम्बन्ध चाहे जितना भी निविड (घट) क्यों न हो, फिर भी यह संयोगिक संबंध है। समवाय संबंध का अन्त नहीं होता, परन्तु संयोग संबंध का अन्त आज, कल और नहीं तो कुछ काल बाद हो जाना सम्भव है। श्राज चेतन श्रीर जड़ दोनां श्रपना २ धर्म गुमा घंठे हैं। चेतनमय जड़ श्रीर जड़मय चेतन ये दोनों परस्पर ऐसे तो पकाकार हुए दिखाई देते हैं कि सहसा उनको श्रलग २ नहीं पहिचाना जा सकता।

जड़ के श्रनादि संस्में से मिलन हुआ चैतन्य, जीवातमा श्रथवा 'विहरातमा' कहलाता है श्रौर जव वह जीवातमा श्रपने स्वरूप का श्रनुभव करने लगता है तब उसे 'श्रन्तरातमा' कहते हैं श्रौर जो जीव कम रिहत हो जाता है उसे 'परमातमा' कहते हैं। जगत के पदार्थों को यथार्थ स्वरूप में जानने की इच्छा होना इसे 'जिज्ञासा' कहते हैं। ऐसी जिज्ञासा के परिणाम स्वरूप वह जगत् के समस्त पदार्थों में से मुलभूत मात्र दो पदार्थों को खुन लेता है। इसके वाद ही जीव की चैतन्य तत्त्व पर वरावर रिच जमती है श्रौर तभी वह शुद्ध वनने के जिये शुद्ध चैतन्य की प्रतीति कर श्रागे बढ़ता है। जीव तत्त्व के भिन्न र स्वरूपों को जानने के वाद वह स्वयं जीव—श्रजीवतत्त्व इन दोनों तत्त्वां के संयोगिक वलों का विचार करने लगता है।

समस्त संसार का स्वरूप उसके सामने से मूर्तिमंत हो कर निकल जाता है तव वह आत्माभिमुख होता है और आत्मानु— भव का आनन्द पाने लगता है। आत्मलद्य पर ध्यान देकर आते हुए कमीं को निरोध करता है, और घीमे २ पूर्व संचित कमें समृह को खपाते हुए शुद्ध चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है।

#### भगवान वोन्रे--

(१) जिस को जानकर भिक्ष संयम में उपयोग पूर्वक उद्यमवंत होता है ऐसा जीव तथा अजीव के भिन्न २ भेद संबंधी प्रकरण तुनसे कहता हूँ।

- (२) जिसमें जीव तथा अजीव ये दोनों तत्त्व भरे हुए हैं उसे तीर्थंकरों ने 'लोक' कहा है और अजीव के एक देश को जहां मात्र आकाश का ही अस्तित्व है अन्य कोई पदार्थ नहीं है—उसे 'अलोक' कहा है।
- (३) जीव और अजीवों का निरूपण द्रव्य, चेत्र, काल तथा भाव—इन चार प्रकारों से होता है।
- (४) अजीव तत्त्व के मुख्य रूप से (१) रूपी, (२) अरूपी, ये दो भेद हैं। उनमें से रूपी के चार तथा अरूपी के १० भेद हैं।
- (५) धर्मास्तिकाय के (१) स्कंध, (२) देश, तथा (३) प्रदेश तथा श्रधर्मास्तिकाय के (४) स्कंध, (५) देश (६) प्रदेश,
- (६) और त्राकाशास्तिकाय के (७) स्कंघ, (८) देश, (९) प्रदेश तथा (१०) त्रद्धा समय (कालतत्त्व)—ये सब मिलाकर श्ररूपी के १० भेद हैं।
- टिप्पणी—किसी भी संपूर्ण द्रव्य के पूर्ण विभाग को 'स्कंध' कहते हैं। स्कंध के अमुक कल्पित विभाग को देश कहते हैं और एक छोटा दुकड़ा जिसका फिर कोई दूसरा खण्ड न होसके किन्तु स्कंध के साथ संवंधित हो तो उसे 'प्रदेश' कहते हैं और यदि वह स्कंध से अलग हो जाय तो उसे 'प्रमाणु' कहते हैं।
- (७) ( चेत्र दृष्टि से वर्णन ) घर्मास्तिकाय तथा श्रधमीस्तिकाय इन दोनों द्रव्यों का चेत्र लोक प्रमाण है श्रौर त्र्याकाशास्ति-काय का चेत्र संपूर्ण लोक श्रौर श्रलोक दोनों है। समय २७

- (काल) का चेत्र मनुष्य चेत्र के वरावर है ( अर्थात् ४५ लाख योजन है )।
- (८) (काल दृष्टि से वर्णन) धर्मास्तिकाय, श्रधर्मास्तिकाय श्रीर श्राकाशास्तिकाय—ये तीनों द्रव्य काल की श्रपेत्ता से श्रनादि एवं श्रनंत हैं श्रधीत् प्रत्येक काल में शाश्वत हैं ऐसा भगवान ने कहा है।
- (९) समय काल भी निरन्तर प्रवाह (व्यतीत) होने की दृष्टि से अनादि तथा अनंत है परन्तु किसी अमुक कार्य की अपेचा से वह सादि (आदि सहित) तथा सान्त (अन्त सहित) है।
- (१०) (१) स्कंध, (२) स्कंध के देश, (३) उसके प्रदेश, वथा (४) परमाणु—ये ४ भेद रूपी पदार्थ के होते हैं।
- (११) द्रत्य की श्रपेत्ता से, जब बहुत से पुद्गल परमाणु इकट्ठे होकर परस्पर में मिल जाते हैं तब स्कंध बनता है श्रौर जब वे जुदे २ रहते हैं तब 'परमाणु' कहलाते हैं । चेत्र की श्रपेत्ता से, स्कंध लोक के एक देश व्यापी हैं। श्रीर परमाणु समस्त लोक व्यापी हैं। श्रव पुद्गल स्कंधों की कालस्थिति चार प्रकार से कहता हूं।
- टिप्पणी—लोक के एक देश में अर्थात् अमुक एक आकाश प्रदेश में स्कंध हों और न भी हों, किन्तु वहां परमाणु तो अवश्य होता है।
- (१२) संसार प्रवाह की दृष्टि से तो वे सब अवादि तथा अनन्त हैं किन्तु रूपान्तेर, होने तथा स्थिति की अपेक्षा से वे सादि एवं सान्त हैं।

- ) एक ही स्थान में रहने की अपेत्ता से उन रूपी अजीव पुद्गलों की जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल तक की तीर्थं कर भगवानों ने कही है।
- २४) वे रूपी पुद्गल परस्पर जुदे २ होकर फिर मिल जांय उसका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनंत-काल तक का है।
- (१५) ( त्र्यव भाव से पुद्गल के भेद कहते हैं ) वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा संस्थान ( त्र्याकृति ) की ऋपेक्षा से इनके ५ भेद हैं ।
- (१६) पुद्गलों के वर्ण (रंग) पांच प्रकार के होते हैं:—(१), काला, (२) पीला, (३) लाल, (४) नीला, श्रौर (५) सफेद।
- (१७) गंध की अपेत्ता से उनके दो भेद हैं:—(१) सुगन्ध, और (२) दुर्गंध।
- (१८) रस पांच प्रकार के होते हैं:—तीखा, (२) कंडुग्रा, (३) कसैला, (४) खट्टा और (५) मीठा।
- (१९) स्पर्श ८ प्रकार के होते हैं:—(१) कर्कश, (२) कोमल, (३) भारी, (४) हलका—
- (२०) (५) ठंडा, (६) गर्म, (७) चिकना श्रौर (८) रूखा ।
- (२१) संस्थान (त्राकृति) के ५ भेद है:—(१) परिमण्डल (चूडी जैसा गोल), (२) वृत्ताकार (गेद जैसा गोल), (३) त्रिकोणाकार, (८४) चतुर्मुजा (५) समचतु- भुजाकार।

- (४३) जो पुद्गल वृत्ताकार याकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, श्रीर स्पर्श की भजना समभानी चाहिये।
- (४४) जो पुद्गल त्रिकोणाकार त्राकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, त्रौर स्पर्श की भजना समभनी चाहिये।
- (४५) जो पुद्गल चतुर्भुजाकार श्राकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, श्रीर स्पर्श की भजना सममती चाहिये।
- (४६) जो पुद्गत समचतुर्भु जाकार आकृति का हो उसमें वर्गा, गंध, रस, और स्पर्श की भजना सममनी चाहिये।
- (४७) इस तरह अजीव तत्त्व का विभाग संत्तेप में कहा। अव जीवतत्त्व के विभाग को कमपूर्वक कहता हूँ।
- (४८) सर्वज्ञ भगवान ने जीवों के दो भेद कहे हैं: (१) संसारी (कर्मसहित), तथा (२) सिद्ध (कर्मरहित)। उनमें से सिद्ध जीवों के अनेक भेद हैं। सो मै तुन्हें कहता हूँ तुम ध्यान पूर्वक सुनो।
- (४९) उन सिद्ध जीवों में स्नीलिंग तथा नपुंसक लिंग से, जैन साधु के वेश से, अन्य दर्शन के (साधु सन्यासी आदि) वेश से अथवा गृहस्थ वेश से भी सिद्ध हुए जीवों का समावेश होता है।
- टिप्पणी:—म्ब्री, पुरुप और वे नवुंसक जो जन्म से नपुसक पैदा न हुए हों किन्तु जिनने योगाभ्यास आदि की पूर्ण सिद्धि के छिये अपने आप को नपुंसक बना छिया हो—ये तीनों ही मोक्ष पाने के अधि-कारी हैं। गृहस्थाश्रम अथवा त्यागाश्रम इन दोनों के द्वारा मोक्ष सिद्धि की जा सकती हैं। इस तरह यहां तो केवल द मकार के दी सिद्धों का वर्णन किया है परन्तु दूसरी जगह इनके विदोप भेद-कर कुछ १५ प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिळता है।

- (५०) (सिद्ध होते समय उन जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी होती है यह बताते हैं:—) जघन्य अवगाहना दो हाथ की और उत्कृष्ट ५०० धनुष की- होती है और इन दोनों के बीच की मध्यम अवगाहना है। पर्वतादि ऊँचे स्थानों, गुफ़ा, गड्ढे आदि नीचे स्थानों, त्रिकोणाकार प्रदेश, समुद्र, जलाशय आदि स्थानों से जोव सिद्धावस्था को प्राप्त हो सकते हैं।
  - (५१) एक समय में श्रधिक से श्रधिक दस ( कृत ) नपुंसक, बीस स्त्रियां, श्रीर १०८ पुरुष सिद्ध हो सकते हैं।
  - (५२) एक समय में अधिक से अधिक चार जीव गृहिता में, दस अन्य लिंग में तथा १०८ जैन लिंग में सिद्ध हो सकते हैं।
  - टिप्पणी—जैन शासन का पालन करो अथवा अन्य धर्म का पालन करो, गृहस्थाश्रम में रहो अथवा त्यागाश्रम में रहो, जहां २ भी जितनी २ योग्यता (वैराग्य सिद्धि ) प्राप्ति की जायगी वहां वहां से जीवों को मोक्ष की प्राप्ति होती ही है। मोक्ष प्राप्ति का ठेका किसी अमुक धर्म मत, दर्शन या आश्रम ने नहीं लिया है।
    - (५३) एक समय में एक ही साथ जघन्य अवगाहना वाले अधिक से अधिक चार जीव और उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो जीव और मध्यम अवगाहना के '१०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं।
      - (५४) एक समय में, एक ही साथ, ऊँचे लोक ( मेरुपर्वत की चृलिका ) से चार, समुद्र में से दो, नदी आदि टेडे मेडे

- (२२) रंग से काले पदार्थ में ( दो ) गंध, ( पांच ) रस, (त्राठ) स्पर्श, ( पांच ) संस्थान इस तरह २० वोलों की भजना ( हो या न हो ) जाननी चाहिये।
- टिप्पण्डि-'भजना' शब्द लिखने का मतल्य यह है कि जो स्थूल अनन्त प्रदेशी स्कंघ पुद्राल, वर्ण में काला हो उसमें गंघ, रस, स्पर्श और संस्थान ये २० गुण जानना । परमाणु की अपेक्षा से तो एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श ये चार ही गुण होते हैं। इसी तरह सब जगह समझना चाहिये।
- · (२३) जो पुद्गल वर्ण (रंग) में नीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श त्रीर संस्थान का भजना समक्तनी चाहिये।
  - (२४) जो पुट्राल रंग में लाल हो उसमें गंध, रस, स्पर्श और संस्थान की भजना समफनी चाहिये।
  - (२५) जो पुद्गल रंग में पीला हो उसमें गंध, रस, स्पर्श श्रौरः संस्थान की भजना सममती चाहिये।
  - (२६) जो पुद्गल रंग में सफेद हो उसमें गंध, रस, स्पर्श श्रौर संस्थान की भजना सममानी चाहिये।
  - (२७) जो पुर्गल सुगन्ध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श द्यौर र संस्थान की भजना सममानी चाहिये।
  - (२८) जो पुद्गल दुर्गंध वाला हो उसमें वर्ण, रस, स्पर्श श्रीर संस्थान की भजना समभनी चाहिये।
  - (२९) जो पुर्गल तीखे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श श्रीर संस्थान की भजना समक्तनी चाहिये।
  - (३०) जो पुद्गल कडुए रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श श्रीस संस्थान की भजना समभनी चाहिये।

) जो पुद्गल कसैले रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श त्रीर संस्थान की भजना सममानी चाहिये। २) जो पुद्गल खट्टे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श श्रीर संस्थान की भजना सममानी चाहिये। (३३) जो पुद्गल मीठे रसवाला हो उसमें वर्ण, गंध, स्पर्श और संस्थान की भजना समम्तनी चाहिये। (३४) जो पुद्गल कर्कश स्पर्श वाला हो उसमें वर्गा, रस, गंघ, स्पर्श श्रीर संस्थान को भजना सममती चाहिये। (३५) जो पुद्गल कोमल स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध, स्पर्श त्रौर संस्थान की भजना सममानी चाहिये। (६६) जो पुद्गल भारी स्पर्शवाला हो उसमें वर्ण, रस, गंघ, श्रीर संस्थान की भजना सममानी चाहिये। (३७) जो पुद्गलं इलके स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंघ ष्ट्रीर संस्थान की भजना सममानी चाहिये। (३८) जो पुद्गल ठडे स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध और संस्थान की भजना समभानी चाहिये । (३९) जो पुद्गल गर्म स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध श्रीर संस्थान की भजना सममानी चाहिये। (४०) जो पुद्गल चिकने स्पर्श वाला हो उसमें वर्गा, रस, गंध त्र्रौर संस्थान की भजना सममती चाहिये। (४१) जो पुद्गल रूखे स्पर्श वाला हो उसमें वर्ण, रस, गंध त्रौर संस्थान की भजना सममानी चाहिये। (४२) जो पुद्गल परिमंडल आकृति का हो उसमें वर्ण, गंब रण छौर स्पर्श की भजना सममानी चाहिये।

- (४३) जो पुद्गल वृत्ताकार श्राकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, श्रीर स्पर्श की भजना सममनी चाहिये।
- (४४) जो पुद्गल त्रिकोणाकार त्राकृति का हो उसमें वर्ण, गंध, रस, त्रोर स्पर्श की भजना सममनी चाहिये।
- (४५) जो पुद्गल चतुर्भुजाकार त्राकृति का हो उसमें वर्ण, गंव, रस, त्रीर स्पर्श की भजना सममानी चाहिये।
- (४६) जो पुद्गल समचतुर्भु जाकार श्राकृति का हो उसमें वर्गा, गंघ, रस, श्रौर स्पर्श की भजना सममती चाहिये।
- (४७) इस तरह अजीव तत्त्व का विभाग संज्ञेप में कहा। श्रव जीवतत्त्व के विभाग को क्रमपूर्वक कहता हूं।
- (४८) सर्वज्ञ भगवान ने जीवों के दो भेद कहे हैं:— (१) संसारी (कर्मसहित), तथा (२) सिद्ध (कर्मरहित)। उनमें से सिद्ध जीवों के त्रानेक भेद हैं। सो मैं तुम्हें कहता हूँ— तुम ध्यान पूर्वक सुनो।
- (४९) उन सिद्ध जीवों में स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग से, जैन साधु के वेश से, अन्य दर्शन के (साधु सन्यासी त्रादि) वेश से अथवा गृहस्थ वेश से भी सिद्ध हुए जीवों का समावेश होता है।
- टिप्पर्गाः—म्बां, पुरुष और वे नपुंसक जो जन्म से नपुंसक पेंदा न हुए हों किन्तु जिनने योगाभ्यास आदि की पूर्ण सिद्धि के लिये अपने आप को नपुंसक बना लिया हो—ये तीनों ही मोक्ष पाने के अधि-कारी हैं। गृहस्थाश्रम अथवा त्यागाश्रम इन दोनों के द्वारा मोक्ष सिद्धि की जा सकती है। इस तरह यहां तो केवल ६ प्रकार के दी सिद्धों का वर्णन किया है परन्तु दूसरी जगह इनके विशेष भेद्र कर इल १५ प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है।

- स्थानों में से तीन, नीचे लोक में से वीस श्रीर मध्यलोक में से १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं।
- (५५) सिद्ध जीव कहां पर रुके हैं ? कहां पर ठहरे हुए हैं । श्रोर कहां से शरीर को छोड़ कर सिद्ध हुए हैं ?
- (५६) सिद्ध जीव त्रालोक की सीमा पर रुक जाते हैं। वे लोक के त्राप्त भाग पर विराजमान हैं। मध्यलोक में त्रापना शरीर होड़कर वहाँ लोक के त्राप्तभाग में स्थित सिद्ध शिला पर वे स्थिर होते हैं।
- टिप्पणी—शुद्ध चेतन स्वमाव से ऊर्ध्वगामी है किन्तु अलोकाकाश में गतिधर्मी धर्मास्तिकाय के न होने से आत्मा अलोकाकाश में नहीं जा सकती और केवल लोकाकाश की अन्तिम सीमा पर जाकर वह वहीं स्थित हो ( रुक ) जाती है।
- (५७) (सिद्ध स्थान कैसा है:—) सर्वार्थसिद्धि नाम के विमान से १२ योजन ऊपर छत्र के आकार की ईसीपभारा (ईपत् प्राग्भार) नाम की एक सिद्धशिला पृथ्वी है।
- (५८) वह सिद्धशिला ४५ लाख योजन लंबी श्रीर चोड़ी है। उसकी परिवि इसके तीन गुने से भी श्रधिक है।
- (५९) उस सिद्धशिला का मध्य भाग त्राठ योजन मोटा है और वाद में थोड़ा २ घटते हुए त्रान्त सिरों पर वह मक्खी के पंखों के समान पंतली है।
- (६०) वह पृथ्वी सव जगह अर्जुन नामक सफेर सोने जैसी अत्यन्त निर्मल है और उसका समाछत्र जैसा आकार है— ऐसा अनंत ज्ञानी तीर्थंकरों ने कहा है।

) वह सिद्धशिला शंख, अंकरत्न और मुचकुन्द के फूल के समान अत्यन्त सुन्द्र एवं निर्मल है और उस सिद्धशिला से एक योजन की ऊँचाई पर लोक का अंत हो जाता है। (२) उस योजन के त्रंतिम कोस के छहे भाग ( ३३३ घतुष और ३२ अंगुलियों) की ऊँचाई में सिद्ध भगवान

(६३) उस मोन् में महा भाग्यवन्त सिद्ध भगवान भवप्रपंच से मुक्त होकर श्रीर उत्तम सिद्धगतिको प्राप्त कर लोकाप्र पर

(६४) (सिद्ध होने के पहिले) अन्तिम मनुष्यमव में शरीर की जितनी ऊँचाई होती है उसमें से एक-तृतीयांश छोड़कर दो तृतीयांश जितनी ऊँचाई सिद्ध जीवों की रहती है।

टिप्पणी—सिंह होते पर शरीर नहीं रहता किन्तु उस शरीर में ज्यास आसमप्रदेश तो रहते हैं। शरीर का है भाग जो पोला है उसके सिवाय के हुँ भाग में सब आत्मप्रदेश रहते हैं। आत्मप्रदेश भरूपी है इस कारण सिद्धिशिला पर अनन्त सिद्ध होने पर भी

(६५) (वह मुक्ति स्थान ) एक एक जीव की अपेदा से सादि (आदि सहित) एवं अनंत (अंत रहित) है किन्तु समस्त सिद्ध समुदाय की अपेता से वह आदि एवं अंत (६६) वे सिद्ध जीव श्ररूपी हैं श्रीर केवलज्ञान तथा केवलदर्शन

उनका लच्या है। वे उपमा रहित अतुल सुख का उप-भोग करते हैं।

के ) वह सिद्धशिला शंख, श्रंकरत्न श्रौर मुचकुन्द के फूल के समान श्रत्यन्त सुन्दर एवं निर्मल है श्रौर उस सिद्धशिला से एक योजन की ऊँचाई पर लोक का श्रंत हो जाता है।
(२) उस योजन के श्रंतिम कोस के छट्टे भाग (३३३ घनुष

- ,(२) उस योजन के अंतिम कोस के छट्टे भाग ( ३३३ घनुष और ३२ अंगुलियों ) की ऊँचाई में सिद्ध भगवान विराजमान हैं।
- (६३) उस मोत्त में महा भाग्यवन्त सिद्ध भगवान भवप्रपंच से मुक्त होकर श्रौर उत्तम सिद्धगतिको प्राप्त कर लोकाय पर स्थिर हुए हैं।
- (६४) ( सिद्ध होने के पहिले ) श्रन्तिम मनुष्यभव में शरीर की जितनी ऊँचाई होती है उसमें से एक-तृतीयांश छोड़कर दो-तृतीयांश जितनी ऊँचाई सिद्ध जीवों की रहती है।
- टिप्पणी—सिद्ध होने पर शरीर नहीं रहता किन्तु उस शरीर में न्यास आत्मप्रदेश तो रहते हैं। शरीर का है भाग जो पोखा है उसके सिवाय के हैं भाग में सब आत्मप्रदेश रहते हैं। आत्मप्रदेश अरूपी है इस कारण सिद्धशिका पर अनन्त सिद्ध होने पर भी उनमें परस्पर धर्षण नहीं होता है।
- (६५) (वह मुक्ति स्थान) एक एक जीव की अपेना से सादि (आदि सहित) एवं अनंत (अंत रहित) है किन्तु समस्त सिद्ध समुदाय की अपेना से वह आदि एवं अंत दोनों से रहित है।
- (६६) वे सिद्ध जीव श्ररूपी हैं श्रीर केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उनका लक्त्या है। वे उपमा रहित श्रतुल सुख का उप-भोग करते हैं।

- (६७) संसार से पार गये हुए, उत्तम सिद्ध गिव को प्राप्त केवल-ज्ञान तथा केवल दर्शन के स्वामी ऐसे वे सव सिद्ध भग-वान लोक के श्रिय भाग में स्थिर हैं।
  - (६८) तीर्थंकर भगवान ने संसारी जीवों के दो भेद कहे हैं:— (१) त्रस, त्रौर (२) स्थावर। स्थावर जीवों के भी तीन भेद हैं।
  - (६९) (१) प्रथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) वनस्पतिकाय। इन तीनों के भी उपभेद हैं उन्हें मैं कहता हूँ, तुम ध्यान-पूर्वक सुनो।
  - (७०) पृथ्वीकाय जीवों के (१) सृक्ष्म, श्रीर (२) स्थूल ये दो भेद हैं। श्रीर इन दोनों के (१) पर्याप्त, तथा (२) श्रपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।
  - (७१) स्थूल पर्याप्त के दो भेद हैं (१) कोमल और (२) कर्कश इनमें से केामल के ७ भेद हैं:—
  - (७२) (१) काली, (२) नीली, (३) लाल, (४) धीली, (५) सफेद, (६) पांडुर (सफेद चन्दन जैसी) श्रौर (७) अत्यन्त वारीक रेत—ये सातभेद कोमल पृथ्वी के हैं कर्कश पृथ्वी के ३६ भेद हैं:—
  - (७३) (१) पृथ्वी (खान को मिट्टी), (२) कंकरीली, (३) रेती, (४) पत्थरीली छोटी २ कंकरी, (५) शिला, (६) समुद्रादि का खार, (७) लोनी मिट्टी, (८) लोह, (९) तांवा, (१०) कर्लई, (११) सीसा, (१२) चांदी, (१३) सोना, (१४) वज्रहीरा—

- (७४) (१५) हड़ताल, (१६) हींगडा, (१७) मण्डील (एक प्रकार की घातु,) (१८) जसत, (१९) सुरमा, (२०) प्रवाल, (२१) अञ्चक (२२) अञ्चक से मिश्रित घूल।
- (७५) (त्रब सिंग्यों के भेद कहते हैं:—) (२३) गोमेदक, (२४) क्वक, (२५) श्रंकरत्न (२६) स्फटिक रत्न, (२७) लोहि-तान मणि, (२८) मर्कत मिंग, (२९) मसारगल मिंग, (३०) भुजमोचक रत्न, (३१) इन्द्र नील—
- (७६) (३२) चन्दन रत्न, (३३) गैरकरत्न, (३४) हंसगर्भ रत्न, (३५) पुलकरत्न, (३६) सौगन्धिक रत्न, (३७) चंद्रप्रभारत्न, (३८) वैडूर्य रत्न, (३९) जलकांत मिण् श्रीर (४०) सूर्यकांत मिण्।
- दिप्पणी--यद्यपि यहां मणियों के १८ भेद गिनाये हैं परन्तु इनको १४ प्रकार मानकर पूर्व के २२ में जोड़ देने से कुछ भेद ३६ हुए।
- (७७) इस प्रकार कर्कश प्रथ्वी के ३६ भेद हैं। सूक्ष्म प्रथ्वी के जीव तो सभी केवल एक ही प्रकार के हैं — जुदे २ नहीं हैं श्रीर वे दृष्टिगोचर भी नहीं होते।
- (७८) क्षेत्र की अपेत्ता से सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं। और स्थूल पृथ्वीकाय के जीव इस लोक के केवल अमुक भाग में ही हैं। अब मैं उनका चार प्रकार का कालविभाग कहता हूँ, तुम ध्यान पूर्वक सुनो—

- (७९) सृक्ष्म तथा स्थूल पृथ्वीकाय के जीव, जीव प्रवाह की अपेक्षा से तो अनादि एवं अनंत हैं किन्तु एक एक जीव की आयुष्य की अपेका से सादि तथा सांत है।
- (८०) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जवन्य स्थिति एक अन्त-र्मृहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति २२००० वर्ष की है।
  - (८१) ( पृथ्वीकाय से मर कर फिर पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने को काय स्थिति कहते हैं ) स्थूल पृथ्वीकाय के जीवों की जवन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त की श्रीर उत्कृष्ट स्थिति श्रसंख्यात काल की है।
    - ·(८२) पृथ्वीकाय के जीव एक वार अपनी पृथ्वीकाय को छोड़ कर फिर दुवारा पृथ्वीकाय में जन्मधारण करें उसके अन्तराल की जघन्य अवधि एक अन्तर्भृहूर्त की और उत्कृष्ट अनन्त काल तक की है।
      - ·(८३) भाव की श्रपेका श्रव वर्णन करते हैं—इन पृथ्वी कायिक जीवों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण तथा संस्थान की दृष्टि से हजारों भेद हैं।
        - (८४) जलकाय के जीव (१) स्थूल, श्रीर (२) सूक्ष्म इन दो प्रकार के होते हैं श्रीर उन दोनों के पर्याप्त तथा श्रप-र्याप्त तथा ये दो दो भेद श्रीर हैं।
    - (८५) स्थूल पर्याप्त जीवों के ५ सेंद हैं (१) सेंघ का पानी, (२) समुद्र का पानी, (३) ख्रोस विन्दु आदि, (४) कुद्दरे का पानी, और (५) वर्फ का पानी।

- (८६) सूक्ष्म जलकायका एक ही भेद है, भिन्न २ नहीं है। सूक्ष्म जलकाय के जीव सर्वलोक में व्याप्त हैं ख्रीर स्थूल जल काय के जीव तो लोक के श्रमुक भाग में ही रहते हैं।
- (८७) प्रवाह की अपेत्ता से तो वे सब अनादि एवं अनंत हैं किन्तु एक जीव को आयुष्य की अपेत्ता से आदि-अन्त सहित है।
- (८८) जलकाय के जीवों की जघन्य आयुस्थिति अन्तर्भुहूर्त तकः की और उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष तक की है।
- (८९) जलकाय के जीवों की कायस्थिति, उसी योनि में जनमा धारण करने की अवधि कम से कम अन्तर्मुहूर्त की और अधिक से अधिक असंख्य काल की है।
- (९०) जलकाय के जीव के अपनी काय को छोड़ कर दुबारा उसी काय में जन्म धारण करने के अन्तराल की जघन्य रिथित एक अन्तर्महूर्त की है और उत्कृष्ट स्थित अनन्त-काल की है।
- (९१) जलकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थानः की श्रपेचा से हजारों भेद हैं।
- (९२) वनस्पति काय के जीव (१) सूक्स, श्रौर (२) स्थूल ये दो प्रकार के होते हैं श्रौर उन दोनों के पर्याप्त तथा अपर्याप्त ये दो दो भेद श्रौर हैं।
- (९३) स्थूल पर्याप्त वनस्पति काय के जीवों के दो भेद हैं (१) सांवारण (जिस शरीर में अनन्त जीव रहते हों), (२) प्रत्येक (जिस शरीर में एक ही जीव हो)।

- (९४) प्रत्येक वनस्पति जीवों के भी अनेक भेद हैं, (१) युत्त (इसके भी सवीज और निर्वीज ये दो भेद हैं), (२) गुच्छावाले, (३) वनमालती आदि, (४) लता (चंपक लता आदि), (५) वेलें (करेले, काकड़ी आदि की वेलें), (६) घास—
  - (९५) (७) नारियल, (८) ईख, वांस आदि, (९) कठफुले (१०) कमल, साली आदि, (११) हरिकाय औपिंच आदि आदि सब प्रत्येक वनस्पतियां हैं।
  - (९६) साधारण शरीर वाल जीव भी अनेक प्रकार के हैं, (१) श्राॡ, (२) मूला, (३) अदरक—
  - (९७) (४) इरिली कंद, (५) विरिली कंद, (६) सिस्सि-रिली कंद, (७) जावंत्री कन्द, (८) कंदली कंद, (९) प्याज, (१०) लहसन, (११) पलांद्र कंद, (१२) कड्ड कन्द—
  - (९८) (१३) लोहिनी कन्द, (१४) हुताक्षी कन्द, (१५) हृत कन्द, (१६) कुहक कन्द (१७) कृष्ण कन्द, (१८) वज्र कन्द, (१९) सूरण कन्द—
  - (९९) (२०) अश्वकर्णी कन्द, (२१) सिंहकर्णी कन्द, (२२) मुसंदी कंद, (२३) हरी हल्दी—इस प्रकार अनेक तरह की साधारण वनस्पतियां होती हैं।
  - (१००) सूक्ष्म वनस्पति कायिक जीवों का एक ही भेद है। भिन्न २ प्रकार की दृष्टि से सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव समस्त लोक में व्याप्त हैं किन्तु स्थूल जीव तो लोक के अमुक भाग में ही हैं।

- (१०१) प्रवाह की अपेद्मा से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं किंतु एक एक जीव की आयुस्थित की अपेद्मा से वे सादि एवं सान्त हैं।
  - (१०२) वनस्पति काय के जीवों को जघन्य आयुस्थिति श्रन्तर्धु-हूर्त की श्रौर उत्कृष्ट श्रायुस्थिति दस हजार वर्षों की है।
  - (१०३) वनस्पति कायिक जीवों की कायस्थिति, उसी २ योनि में जन्म धारण करता रहे तो कम से कम अन्तर्सुहूर्न की श्रोर श्रधिक से अधिक अनंत काल तक की है।
  - टिप्पणी—छील फूल, निगोद इत्यादि भनन्त काय के जीव की अपेक्षा से भनन्त काल कहा है।
  - (१०४) वनस्पति कायिक जीव के, अपनी काय को छोड़कर दुवारा उसी काय में जन्म धारण करने के अन्तराल की जधन्य स्थिति एक अन्तर्भुद्धर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अनन्त काल तक की है।
  - (१०५) वनस्पति कायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंघ, वर्ण एवं संस्थान की श्रपेचा से हजारों भेद हैं।
  - (१०६) इस तरह संत्रेप में तीन प्रकार के जीव कहे हैं। श्रव तीन प्रकार के त्रसों के विषय में कहता हूँ।
  - (१०७) श्रिप्तिकाय, वायुकाय श्रौर द्वीन्द्रियादिक चलते फिरते बड़े जीव—ये तीन भेद त्रस जीवों के हैं। श्रव इनमें से प्रत्येक के उपभेद गिनाता हूँ उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।
  - टिप्पाणी—यहां पर अग्नि एवं वायु कायिक जीवों को एक स्नास अपेक्षा से त्रस कहा है, यद्यपि ये दोनों वस्तुतः स्थावर ही हैं।

- (१०८) श्रिकाय के जीव (१) सूक्ष्म, श्रीर (२) स्थूल ये दो प्रकार के होते हैं। श्रीर उन दोनों के पर्याप्त एवं श्रप्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।
- टिप्पाणी—पर्याप्त जीव उन्हें कहते है कि जिन्हें, जिस योनि में जितनी पर्यायें मिलनी चाहिये उतनी सब मिली हों और जो जीव उन्हें पूर्णरूप से प्राप्त किये विना ही मर जाते हैं उन्हें अपर्याप्ति जीव कहते हैं। पर्यायें ६ प्रकार की हैं—आहार, बारीर, इन्द्रिय, खासो-च्छ्वास, भाषा और मन।
  - (१०९) स्थूल पर्याप्त श्राग्निकायिक जीव श्रानेक प्रकार के होते हैं, जैसे—(१) श्रङ्गारा, (२) राखमिश्र श्राग्न, (३) तप्त घातु की श्राग्न, (४) श्राग्न व्याला (५) भड़का, (विद्यित्र शिखा)—
  - (११०) (६) उल्कापात की श्राग्ति, (७) विजाती की श्राग्ति— श्रादि श्रांतेक भेद हैं। सूक्ष्म पर्याप्त श्राग्तिकाय के जीव केवल एक ही प्रकार के हैं।
  - (१११) सूक्ष्म श्राग्नकायिक जीव सव लोक में व्याप्त हो रहे हैं किंतु स्थृल तो लोक के केवल श्रमुक भाग में ही व्याप्त हैं। श्रव उनका चार प्रकार का कालविभाग वताता हूँ।
    - (११२) प्रवाह की अपेचा से तो सव जीव अनादि एवं अनन्त हैं फिन्तु भिन्न २ आयु की स्थितियों की अपेक्षा से वे आदि-अन्त सिंत हैं।
    - (११३) श्रिनिकाय के जीवों की जयन्य श्रायुष्य श्रन्तर्मुहूर्त की श्रीर उत्कृष्ट श्रसंख्य काल तक की है।

- (११४) अग्निकाय के जीवों की कायस्थिति ( इस काय को न छोड़े तब तक को आयु ) कम में कम अन्तर्मुहूर्त की श्रीर अधिक से अधिक असंख्य काल तक की है।
- (११५) श्राग्तिकायिक जीव के, श्राप्ती काय को छोड़ कर दुवारा उसी काय में जन्मघारण करने के श्रान्तराल की जघन्य स्थित एक श्रान्तर्मुहूर्त की है श्रीर उत्कृष्ट स्थिति श्रासंख्य काल तक की है।
- (११६) ऋग्निकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं संस्थान की श्रपेक्षा, से हजारों भेद हैं।
- (११७) वायुकायिक जीव (१) सूक्ष्म, श्रीर (२) स्थूल—ये दो प्रकार के होते हैं। श्रीर उन दोनों के (१) पर्याप्त, (२) श्रपर्याप्त ये दो दो उपभेद हैं।
- (११८) स्थूल पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पांच भेद हैं:—(१) उत्कलिक (रह रह कर वहें वे ) वायु, (२) श्रांघी, (३) घनवायु (जो घनोदिध के नीचे बहती है ), (४) गुआवायु (स्वयं गुंजने वाली है ), श्रौर (५) शुद्ध वायु।
- (११९) तथा संवर्तक वायु इत्यादि तो त्रानेक प्रकार की वायुएं हैं त्रीर सूक्ष्म वायु तो केवल एक ही प्रकार की है।
- (१२०) सूक्ष्म वायुकायिक जीव तो समस्त लोक में व्याप्त हैं किन्तु स्थूल तो श्रमुक भाग में हो विद्यमान हैं। अब उनका चार प्रकार का कालविभाग कहता हूँ।

- (१२१) प्रवाह की ऋषेक्षा से ये सभी जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु भिन्न २ त्रायुत्रों की स्थिति के कारण वे सादि एवं सांत हैं।
- (१२२) वायुकाय के जीवो की जघन्य श्रायु स्थिति श्रन्तर्मुहूर्त की श्रीर उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्षों तक की है।
- (१२३) वायुकायिक जीवों की कायस्थिति (इस काया को न छोड़े तब तक ) की कम से कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक से अधिक असंख्य काल तक की है।
- (१२४) वायुकायिक जीव के, अपनी काय को छोड़ कर दुवारा उसी काय में जनमधारण करने के ऋन्तराल की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त को है और उत्कृष्ट स्थिति असंख्य काल तक की है।
- (१२५) वायुकायिक जीवों के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण ऋौर संस्थान की श्रवेचा से हजारों भेद हैं।
- (१२६) बढ़े त्रसकाय के (द्वीन्द्रियादिक) जीव चार प्रकार के होते हैं (१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय, श्रीर (४) पंचेन्द्रिय।
- (१२७) द्वीन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त तथा (२) श्रपर्याप्त-ये दो तरह के होते हैं। श्रव में उनके उपभेद कहता हूँ, उन्हें सुनो।
- (१२८) (१) करमिया (विष्ठा में उत्पन्न कृमि श्रादि), (२) अग्मिया, (३) सौमंगल, (४) मातृवाहक, (५) वांमीमुखा, (६) शंख, (७) छोटे २ शंख-सोपियां।
- (१२९)(८) युन, (९) कीड़ियां, (१०) जालक, (११) जॉक भौर (१२) चंदनिद्या।

- (१३०) इस तरह द्वीन्द्रिय जीवों के अनेक भेद होते हैं श्रीर वे सब लोक के अमुक अमुक भागों में रहते हैं।
- (१३१) प्रवाह की अपेद्या से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं किंतु आयुष्यस्थिति की अपेक्षा से वे आदि—अन्त सहित हैं।
- (१३२) द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य श्रायु श्रन्तर्मुहूर्त की श्रौरं उत्कृष्ट श्रायु १२ वर्षों तक की कही है।
- (१३३) द्वीन्द्रिय जीवों की काय स्थिति ( उसी काय को न छोड़ें तब तक की ) कम में कम अन्तर्मुहूर्त स्त्रीर अधिक से स्त्रधिक स्त्रसंख्यात काल तक की है।
- (१३४) द्वीन्द्रिय जीव अपनी काय को छोड़ कर फिर द्वीन्द्रिय शरीर धारण करे उनके बीच का जघन्य अन्तराल अन्त-भूहुत का ख्रीर उत्कृष्ट अनंतकाल तक का है।
- (१३५) द्वोन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण श्रौर संस्थान की श्रिपेत्वा से हजारों प्रकार के होते हैं।
  - (१३६) त्रीन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त, श्रौर (२) श्रपर्याप्त—ये दो तरह के होते हैं। श्रव मैं उनके उपभेद बताता हूँ, उन्हें सुनो।
  - (१३७) (१) क्रुंथवा, (२) कीड़ी, (३) चांचड़, (४) उक-लीया, (५) तृणाहारी, (६) काष्ठाहारी, (৬) मालुगा श्रीर (८) पत्ताहारी।
- (१३८) (९) कपास के बीज में उत्पन्न जीव, (१०) तिन्दुक, (११) मिंजका, (१२) सदावरी, (१३) गुरुमी, (१४) इन्द्रगा और (१५) मामणमुंडा आदि अनेक प्रकार के हैं।

- (१३९) ये सब समस्त लोक में नहीं किन्तु उसके अमुक भाग में ही रहते हैं।
- (१४०) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि और अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेक्षा से आदि-अन्त सहित हैं।
- (१४१) त्रीन्द्रिय जीवों की त्रायुस्थित जघन्य अन्तर्भुहूर्त की और उत्कृष्ट ४९ दिन की होती है।
- (१४२) त्रीन्द्रिय को कायस्थिति, उसी काय को न छोड़े तत्र तक की, कम से कम अन्तर्भुहूर्त की और अधिक से अधिक संख्यात काल तक को है।
- (१४३) त्रीन्द्रिय जीव अपने एक रारीर को छोड़कर फिर हुवारा उसी योनि में शरीर धारण करे तो उसके वीच के अन्त-राल का जवन्य प्रमाण अन्तर्भुहूर्त का और उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।
- (१४४) त्रीन्द्रिय जीवों के स्पर्श, रस, गंच, वर्ण एवं संस्थान की श्रपेत्ता से हजारों भेद होते हैं।
- (१४५) चतुरिन्द्रिय जीव (१) पर्याप्त, श्रौर (२) श्रपर्याप्त— ये दो प्रकार के होते हैं। श्रव मैं उनके उपभेद कहता हूँ, उन्हें सुनो।
- ं र्१४६) (१) ग्रंधिया, (२) पोतिया, (३) मक्खी, (४) मच्छर, (५) भींरा, (६) कीड़ा, (७) पतंगिया, (८) ढिकणा, (९) कंकणा—
  - (१४७) (१०) कुकुट, (११) सिंगरोटी, (१२) नंदावृत्त, (१३) विच्छू, (१४) डोला, (१५) मिंगुर, (१६) चीरली, (१७) श्रॅखफोड़ा, ।

(१४८) (१८) अच्छील, (१९) मागघ, (२०) रोड, (२१) रंगवि-रंगी तितलियां, (२२) जलकारी, (२३) उपधि जलका, (२४) नीचका, और (२५) ताम्रका।

टिप्पणी—भिन्न २ भाषाओं में इनके जुदे २ नाम हैं।

(१४९) इस प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों के अनेक भेद कहे हैं। ये सब लोक के किसी अमुक भाग में ही रहते हैं।

(१५०) प्रवाह की अपेचा से तो ये सभी जीव अनादि एवं अनंत हैं किन्तु आयुष्य की अपेचा से वे आदि-अन्त सहित हैं।

(१५१) चतुरिन्द्रिय जीव की श्रायु जघन्य अन्तर्भुहूर्त की है श्रीर उत्कृष्ट श्रायु ६ महीने की है।

(१५२) चतुरिन्द्रिय जीवों की कायस्थिति ( एस काय को न छोड़े तब तक की स्थिति ) कम सं कम श्रन्तर्मुहूर्त की श्रीर श्रिधिक से श्रिधिक संख्यात काल तक की है।

(१५३) चतुरिन्द्रिय जीव श्रपना शरीर छोड़कर फिर उसी काय मे जन्में तो उसके बीच के श्रन्तराल का जघन्य प्रमाण श्रन्तर्महूर्त का श्रौर उन्क्रष्ट प्रमाण श्रनन्तकाल तक का है।

(१५४) ये चतुरिन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों तरह के होते हैं।

(१५५) पंचेन्द्रिय जीव ४ प्रकार के होते हैं:—(१) नारकी, (२) तिर्थंच, (३) मनुष्य श्रीर (४) देव।

(१५६) रत्नप्रभादि सात नरकभूमिश्रों होने से सात प्रकार के नरक कहे हैं उन भूमिश्रों के नाम ये हैं:—(१) रत्नप्रभा, (२) शर्करा प्रभा, (३) वाछप्रभा।

- (१५७) (४) पंकप्रभा, (५) घूमप्रभा, (६) तमःप्रभा (७) तमः तमस्प्रभा ( महातमप्रभा )। इस प्रकार इन भूमित्रों में रहनेवाले नारकी सात प्रकार के हैं।
- (१५८) वे सब लोक के एक विभाग में स्थित हैं। अब मैं उनका ४ प्रकार का कालविभाग कहता हूं:—
- (१५९) प्रवाह की अपेत्ता से तो ये सभी अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयुष्य की अपेत्ता से आदि एवं अन्त सहित हैं।
- (१६०) पहिले नरक में श्रायु की जवन्य स्थिति १० हजार वर्षों की श्रौर उत्कृष्ट स्थिति एक सागर की है।
- (१६१) दूसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति एक सागर की तथा उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर की है।
- (१६२) तीसरे नरक में आयु की जघन्य स्थिति तीन सागर की तथा उक्ट स्थिति सात सागर की है।
- (१६३) चौथे नरक में आयु की जबन्य स्थित सात सागर की तथा उत्कृष्ट स्थित इस सागर की है।
- (१६४) पाँचवे नरक में आयु की जघन्य स्थित दस सागर की विथा उत्कृष्ट स्थित सत्रह सागर की है।
- (१६५) छट्ठे नरक में त्रायु की जधन्य स्थित सत्रह सागर की तथा एत्कृष्ट स्थित वाईस सागर की है।
- (१६६) सातवें नरक में आयु की जघन्य स्थिति वाईस सागर की तथा उस्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है।
- (१६७) नरक के जीवों की जितनी जघन्य ऋथवा उत्कृष्ट ऋायुः होती है उतनी ही कायस्थित होती है।

टिप्पााी—नरक एवं देवगित की पूर्ण आयुष्य भोग छेने के बाद अन्त-राख सिवाय दूसरे ही भव में उस गित की प्राप्ति नहीं होती इसी लिये इन दोनों की आयुस्थिति तथा कायस्थिति समान कही है।

(१६८) नारकी जीव अपने शरीर को छोड़ कर उसीको फिर धारण करे इसके अन्तराल का जघन्य प्रमाण अंतर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।

(१६९) इन नरक के जीवों के स्पर्श, रस, गंघ, वर्ण और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

· (१७०) तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव, दो प्रकार के कहे हैं:—(१) संमू-छिम पंचेन्द्रिय श्रौर (२) गर्भज पंचेन्द्रिय ।

(१७१) इन दोनों के दूसरे ३-३ भेद हैं:—(१) जलचर, (२) स्थलचर, श्रौर (३) खेचर ( श्राकाश में उड़नेवाला )। श्रव क्रम से इन सबके भेद कहता हूँ—उन्हें तुम ध्यान-पूर्वक सुनो।

(१७२) जलचर जीवों के ये ५ भेद हैं:—(१) मझली, (२) कछुत्रा (३) प्राह, (४) मगर, श्रौर (५) सुसुमार ( मगरमच्छ

त्रादि )।

(१७३) ये समस्त जीव समस्त लोक में नहीं किन्तु उसके त्रामुक भाग में ही स्थित हैं। त्राब उनके कालविभाग को चार प्रकार से कहता हूँ।

(१७४) प्रवाह की श्रपेत्ता से ये सव जीव श्रनादि एवं श्रनन्त हैं किन्तु श्रायुष्य की श्रपेत्ता से ये सादि-सान्त हैं।

(१७५) जलचर पंचेन्द्रिय जीवों की आयु कम से कम श्रन्तमुहूर्त की श्रीर अधिक से अधिक एक पूर्व कोटी की कही है। टिप्पणी—एक पूर्व में सम्रह लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़ वर्ष होते हैं। ऐसे एक करोड़ पूर्व की स्थित को एक पूर्व की कोटी कहते हैं। (१७६) उन जलचर पंचेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति कम से कम अन्तर्महूर्व की और अधिक से अधिक पृथक पूर्व कोटी की है।

दिप्पणी-पृथक् अर्थात् २ से छेकर ९ तक की संख्या।

- (१७७) जलचर पंचेन्द्रिय जीव अपनी काया छोड़कर उसी काया को फिर धारण करें उसके अन्तराल का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त का एवं उत्कृष्ट प्रमाण अनन्तकाल तक का है।
- (१७८) स्थलचर, पंचेन्द्रिय जीव (१) जो पगवाले हों वे चौपद तथा (२) परिसर्प—ये दो प्रकार के हैं। चौपद के ४ उपभेद हैं उन्हें तुम सुनो:—
- (१७९) (१) एक खुरा (घोड़ा, गधा त्रादि), (२) दो खुरा (गाय, वैल त्रादि), (३) गंडीपदा (कोमल पद-वाले जैसे हाथी, ऊँट त्रादि) तथा (४) सनखपदा (सिंह, विही, कुत्ता त्रादि)।
- (१८०) परिसर्प के दो प्रकार हैं, (१) उरपरिसर्प श्रीर (२)
  सुजपरिसर्प। उरपरिसर्प उन्हें कहते हैं जो छाती से
  रेंग कर चलते हैं (जैसे, सांप श्राहि) तथा मुजपरिसर्प वे हैं जो हाथों से रेंग कर चलते हैं जैसे छिपकली,
  साँडा श्राहि)। इनमें से प्रत्येक के श्रानेकों श्रवांतर भेद-

- (१८१) ये सब स्थलचर पंचेद्रिय जीव सर्वत्र लोक में व्याप्त नहीं है किन्तु उसके अमुक भाग में ही स्थित हैं। अब मैं उनका कालविभाग चार प्रकार से कहता हूँ—
- ·(१८२) प्रवाह की अपेद्या से ये सब जीव अनादि एवं अनन्त हैं किन्तु आयु की अपेक्षा से ये सादि-सान्त हैं।
- (१८३) स्थलचरजीवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायुस्थिति क्रम से श्रन्तर्मुहूर्त एवं तीन परयों की है।

टिप्पगी-पल्य यह काल का अमुक प्रमाण है।

- (१८४) स्थलचर जीवों की कायस्थिति (निरन्तर एक ही शरीर धारण करते रहने की ) जघन्य स्थिति श्रन्तर्मुहूर्त की तथा अकृष्ट स्थिति ३ पल्यसिंहत दो से लेकर ९ पूर्व कोटि तक की है।
- (१८५) वे स्थलचर जीव अपना एक शरीर छोड़ कर दूसरी बार वहीं शरीर धारण करें उसके बीच के अन्तराल की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट स्थिति अनंतकाल तक की है।
- .(१८६) खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चमड़े के पंख-वाले (चिमगादड़ श्रादि), (२) रोम पक्षी (चकवा, हंस श्रादि), (३) समुद्गपक्षी (जिन पिचयों के पंख ढंके हुए सन्दूक जैसे हों। ऐसे पची मनुष्यचेत्र के बाहर रहते हैं); श्रीर (४) वितत पच्ची (सूप सरीखे पंखवाले)।
- .(१८७) ये समस्त लोक में नहीं किन्तु लोक के श्रमुक भाग में ही रहते हैं। श्रव मैं उनका काल विभाग चार प्रकार से कहता हूँ।

- (१८८) प्रवाह की श्रपंचा में ये सव जीव श्रनादि एवं श्रनन्त हैं किन्तु श्रायु की श्रपंचा से वे सादि एवं सान्त हैं।
- (१८९) ख़ेचर जीवों की श्रायुस्थित कम से कम श्रन्तर्मुहूर्त की तथा श्रिक से श्रिविक एक पत्य के श्रसंख्यातवें भाग जितनी है।
- (१९०) खेचर जीवों की जवन्य कायस्थिति अन्तमुहूर्त की हैं और उत्कृष्ट कायस्थिति एक पत्य के आर्संख्यातवें भाग सिंहत दो से नौ पूर्व कोटी तक की है।
- (१९१) खेचर जीव अपनी काया छोड़ कर उसी काया को फिर्र यारण करें उसके बीच का अन्तराल कम से कम अन्त-मुंहुत का और अधिक से अधिक अनन्तकाल तक का है।
- (१९२) उनके स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा संस्थान की श्रपेचा से इजारों भेद होते हैं।
- (१९३) मनुष्य दो प्रकार के होने हैं, (१) सम्मूर्छिम मनुष्य श्रीर (२) गर्भन मनुष्य। श्रव मैं उनके उपभेद कहता हूँ मो तुम मुनो।
- (१९४) गर्भज (मातापिता के मंद्रोग से उत्पन्न) मनुष्य तीन प्रकार के कहे हैं—(?) कर्मभूमि के, (२) अकर्मभूमि के, जोर (३) अन्तरद्वीपों के।
- टिण्यां।—कर्मभूमि अर्थात् जहां असि, मसि (वाणिज्यकर्म) कृषि आदि कर्म करके जीविका पैदा की जाय। अन्तरहोप अर्थात् चूट-दिमवंत और शिल्परी इन दो पर्वतों पर ४-४ दादें ई और प्रत्येक दादा में सात २ अन्तरहोप ई। वहाँ पर भोगभूमि की तरह हाग-दिमा मनुष्य दस्यक्ष होते ई

(१९५) कर्मभूमि के १५ भेद हैं. (पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पांच महाविदेह), अकर्मभूमि (भोगभूमि) के ३० भेद हें—(५ हेमवत, ५ हैरएयवत, ५ हरिवास, ५ रन्यकवास, ५ देवकुरु, ५ उत्तर कुरु) और ५६ अन्तरद्वीप हैं। ये सब मिल कर एक सौ एक जाति के गर्भज मनुष्य कहे हैं।

(१९६) सम्मूर्छिम मनुष्य भी गर्भज मनुष्य जितने ही ( अर्थात् १०१) प्रकार के कहे हैं। ये सब जीव लोक के अमुक भाग में ही विद्यमान हैं, सर्वत्र व्याप्त नहीं है।

टिप्पणी—मातापिता के संयोग बिना ही, मनुष्य के मर्लों से जो जीव उत्पन्न होते हैं उन्हें सम्मूर्छिम मनुष्य कहते हैं। गर्भज मनुष्य की तरह उसके पर्याप्त तथा अपर्याप्त —ये दो भेद नहीं होते।

(१९७) प्रवाह की अपेक्षा से ये सब अनादि एवं अनन्त हैं कितु आयुष्य की अपेक्षा से आदि एवं अन्त सहित हैं।

(१९८) गर्भज मनुध्यों की श्रायुश्थित कम से कम श्रन्तर्मुहूर्त की तथा श्रधिक से श्रधिक तीन पत्य कही है।

टिप्पाणि—सम्मूर्छिम मनुष्य की आयुस्थित जघन्य एवं उत्कृष्ट केवल एक अन्तर्मुहूर्त की है। कर्मभूमि के मनुष्य की जवन्य आयु अन्त-र्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट आयुस्थिति एक करोड़ पूर्व की होती है। यहाँ तो सर्व मनुष्यों की अपेक्षा से उपरोक्त स्थिति लिखो है।

(१९९) गर्भज मनुष्यों की कायस्थिति कम से कम श्रन्तर्मुहूर्त की तथा श्रधिक से श्रधिक तीन परुयसहित पृथक् पूर्व कोटी की है।

टिप्पर्गा — कोई जीव सात भव मे तो १-१ पूर्व कोटी की तथा आठवें भव में ३ पत्य की आयु प्राप्त करे इस दृष्टि से उपरोक्त प्रमाण लिखा है। मनुष्ययोगि संकलना रूप से सात या आठ भवों तक अधिक से अधिक चाल गह सकती है और उस परिस्थिति में उतनी आयुह्थिति भी हो सकती है।

- (२००) गर्भज मनुष्य श्रपनी काया छोड़ कर फिर उसी योनि में जन्मधारण करे तो इन दोनों के श्रम्तराल का प्रमाण कम से कम एक श्रम्तर्मुहूर्त का श्रथवा श्रधिक से श्रधिक श्रमन्त काल तक का है।
- (२०१) गर्भज मनुष्यों के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं संस्थान की श्रपेक्षा से हजारों ही भेद हैं।
  - (२०२) सर्वज्ञ भगवान ने देवों के ४ प्रकार वताये हैं। श्रव मैं उनका वर्णन करता हूं सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो। (१) भवनवासी (भवनपति), (२) व्यंतर, (३) ज्यो-तिष्क श्रौर (४) वैमानिक।
  - (२०३) भवनवासी देव १० प्रकार के, व्यंतर देव ८ प्रकार के, व्यंतिहक देव ५ प्रकार के, तथा वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं।
  - (२०४) (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुवर्ण-कुमार, (४) विद्युतकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) दिग्कुमार, (८) उद्धिकुमार, (९) वायुकुमार, श्रीर (१०) स्तनितकुमार—ये १० भेद भवनवासी देवों के होते हैं।
    - (२०५) (१) किन्नर, (२) किंपुरुप, (३) महोरग, (४ गन्धर्व, (५) यत्त, (६) राक्षस, (७) मूत, (८) भिशाच—ये ज्ञाठ भेद व्यंतर देवों के हैं।

- (२०६) (१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) प्रह, (४) नक्त्र, (५), प्रकीर्णक (तारे) ये ५ भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। अढाई द्वीप के ज्योतिष्क देव हमेशा गति करते रहते हैं। अढाई द्वीप वाहर के जो ज्योतिष्क देव हैं वे स्थिर हैं।
- (२०७) वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं (१) कल्पवासी,. श्रौर (२) श्रकल्पवासी (कल्पातीत)।
- (२०८) क्लपवासी देवों के १२ प्रकार हैं:—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) महेन्द्र, (५) ब्रह्म-लोक, (६) लांतक।
- (२०९) (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) त्र्यानत, (१०) प्राण्त, (११) त्र्यारण श्रीर (१२) श्राच्युत । इन सक स्वर्गों में रहनेवाले देव १२ प्रकार के कल्पवासी देव कहाते हैं।
- (२१०) (१) प्रैवेयक श्रौर (२) श्रानुत्तर ये दो भेद कल्पातीत देवों में है। प्रैवेयक ९ हैं :—
- (२११) प्रैवेयक देवो की तीन त्रिक (तीन तीन की श्रेणी) हैं,
  (१) ऊपर की, (२) मध्यम की और, (३) नीचेकी,
  प्रत्येक त्रिक के (१) ऊपर (२) मध्य और (३)
  नीचली—ये तीन तीन भेद हैं। (इस तरह ये सव
  मिलाकर ९ हुए) (१) निचली त्रिक के नीचे स्थान
  के देव, (२) निचली त्रिक के मध्यम स्थान के देव,
  और (३) निचली त्रिक के अपरी स्थान के देव।

लिया है। सनुष्ययोगि संकलना रूप में सात या आठ भवों तक अविक से अधिक चाल रह सकती है और उस परिस्थित में उतनी आयुम्थिति भी हो सकती है।

- (२००) गर्भज मनुष्य अपनी काया छोड़ कर फिर उसी योनि में जन्मधारण करे तो इन दोनों के अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा अधिक से अधिक अनन्त काल तक का है।
- (२०१) गर्भज मनुष्यों के स्पर्श, रस, गन्य, वर्ण एवं संस्थान की श्रपेक्षा से हजारों ही भेद हैं।
- (२०२) सर्वज्ञ भगवान ने देवों के ४ प्रकार वताये हैं। श्रव मैं उनका वर्णन करता हूँ सो तुम ध्यानपूर्वक सुनो। (१) भवनवासी (भवनपति), (२) व्यंतर, (३) ज्यो-तिष्क श्रौर (४) वैमानिक।
  - (२०३) भवनवासी देव १० प्रकार के, व्यंतर देव ८ प्रकार के, व्यंतर देव ८ प्रकार के, तथा वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं।
  - (२०४) (१) असुरक्रमार, (२) नागक्रमार, (३) सुवर्णकुमार, (४) विद्युतक्रमार, (५) श्राग्निक्रमार, (६)
    द्वीपक्रमार, (७) दिग्क्रमार, (८) उद्विक्रमार, (९)
    वायुकुमार, श्रीर (१०) स्तनितक्कमार—ये १० भेद
    भवनवासी देवों के होते हैं।
  - (२०५) (१) किन्नर, (२) किंपुरुप, (३) महोरग, (४ गन्धर्व, (५) यत्त, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच—ये त्राठ भेद व्यंतर देवों के हैं।

- (२०६) (१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) मह, (४) नत्तन्न, (५) प्रकीर्णक (तारे) ये ५ भेद ज्योतिष्क देवों के हैं। श्रढाई द्वीप के ज्योतिष्क देव हमेशा गति करते रहते हैं। श्रढाई द्वीप बाहर के जो ज्योतिष्क देव हैं वे स्थिर हैं।
  - (२०७) वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं (१) कल्पवासी, श्रीर (२) श्रकल्पवासी (कल्पातीत)।
  - (२०८) क्लपवासी देवों के १२ प्रकार हैं:—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) महेन्द्र, (५) ब्रह्म-लोक, (६) लांतक।
  - (२०९) (७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) त्रानत, (१०) प्राणत, (११) त्रारण त्रौर (१२) श्राच्युत । इन सक स्वर्गों में रहनेवाले देव १२ प्रकार के कल्पवासी देव कहाते हैं।
    - (२१०) (१) प्रैवेयक श्रीर (२) श्रानुत्तर ये दो भेद कल्पातीत देवो में है। ध्रैवेयक ९ हैं :—
    - (२११) प्रैवेयक देवों की तीन त्रिक (तीन तीन की श्रेणी) हैं,
      (१) ऊपर की, (२) मध्यम की और, (३) नीचेकी,
      प्रत्येक त्रिक के (१) ऊपर (२) मध्य और (३)
      नीचली—ये तीन तीन भेद हैं। (इस तरह ये सब
      मिलाकर ९ हुए) (१) निचली त्रिक के नीचे स्थान
      के देव, (२) निचली त्रिक के मध्यम स्थान के देव,
      और (३) निचली त्रिक के अपरी स्थान के देव।

- (२१२) (४) मध्यम त्रिक के नीचे स्थान के देव, (५) मध्यम त्रिक के मध्यम स्थान के देव, और (६) मध्यम त्रिक के ऊपरी स्थान के देव।
- (२१३) (७) जपर त्रिक के नीचे स्थान के देव, (८) जपर की त्रिक के मध्यम स्थान के देव, श्रीर (९) जपर की त्रिक के जपर स्थान के देव—प्रैवेयक के देवों के ये ९ भेद कहे हैं। श्रीर (१) विजय, (२) वैजयंत, (३) जयंत श्रीर (४) श्रपराजित।
- (२१४) श्रौर (५) सर्वार्थिसिद्धि—ये पांच श्रनुत्तर विमान हैं। इनमें रइनेवाले वैमानिक देव इस प्रकार से ५ प्रकार के हैं।
- (२१५) ये सब देवलोक के श्रमुक भाग में ही श्रवस्थित हैं सर्वेत्र व्याप्त नहीं हैं। श्रव मैं उनका कालविभाग चार प्रकार से कहूँगा।
- (२१६) प्रवाह की श्रपेचा से तो ये सब देव श्रनादि श्रनन्त हैं किन्तु श्रायुष्य की श्रपेचा से सादि—सांत हैं।
- (२१७) भवनवासी देवों की श्रायुक्षिति कम से कम दस हजार वर्षों की श्रीर व्हिष्ट म्थिति एक सागर से झुझ श्रिष्ठिक कही है।
- (२१८) व्यंतर देवों की आयुश्यित कम से कम दस इजार वर्षों की तथा अधिक से अधिक एक परुष की है।
- (२१९) ज्योतिष्क देवोंकी त्रायुस्थिति लघन्य एक पत्य के त्राठवें भाग की तथा उत्क्रष्ट त्रायु एक लाख वर्ष सहित एक पत्य की है।

- (२२०) सौधर्म स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक पत्य की तथा दो सागर को है।
- (२२१) ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्क्रष्ट श्रायु क्रमशः १ पल्य तथा २ सागर से कुछ श्रधिक की है।
- (२२२) सनत्कुमार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमशः २ सागर तथा ७ सागर की है।
- (२२३) महेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २ सागर से कुछ अधिक तथा ७ सागर से कुछ अधिक की है।
- (२२४) ब्रह्मलोक स्वर्ग के देवों को जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः ७ सागर की तथा १० सागर की है।
- (२२५) लांतक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमशः १० सागर की तथा १४ सागर की है।
- (२२६) महाशुक्र स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमशः १४ सागर की तथा १७ सागर की है।
- (२२७) सहस्रार स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमशः १७ सागर की तथा १८ सागर की है।
- (२२८) ज्यानत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमशः १८ सागर की तथा १९ सागर की है।
- (२२९) प्राणत स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमश: १९ सागर की तया २० सागर की है।
- (२३०) त्र्यारण स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमशः २० सागर की तथा २१ सागर की है।

- (२३१) अच्युत स्वर्ग के देवों की जवन्य एवं उत्कृष्ट श्रायु क्रमशः २१ सागर को तथा २२ सागर की है।
- (२३२) प्रथम दैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २२ सागर की तथा २३ सागर की है।
- (२३३) द्वितीय मैंवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट त्रायु क्रमशः २३ सागर की तथा २४ सागर की है।
- (२३४) तृतीय प्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जवन्य एवं उत्कृष्ट. त्रायु क्रमशः २४ सागर की तथा २५ सागर की है।
- (२३५) चौथे मैंबेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्क्रष्ट आयु क्रमशः २५ सागर की तथा २६ सागर की है।
- (२३६) पांचवे प्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्क्रष्ट त्रायु क्रमशः २६ सागर को तथा २७ सागर की है।
- (२३७) छट्ठे प्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जधन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २७ सागर की तथा २८ सागर की है।
- (२३८) सातवें प्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जवन्य एवं उत्कृष्ट आयु क्रमशः २८ सागर की तथा २९ सागर की है।
- (२३९) आठर्वे प्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट त्रायु क्रमशः २९ सागर की तथा ३० सागर की है।
- (२४०) नौर्वे प्रैवेयक स्वर्ग के देवों की जघन्य एवं उक्छप्ट श्रायु क्रमराः ३० सागर की तथा ३१ सागर की है।
- (२४१) (१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपरा-जित—इन चारों विमानों के देवों की जघन्य एवं ज्लुष्ट श्रायुस्थिति क्रमशः ३१ सागर तथा ३३ सागर की है।

- (२४२) पांचर्वे सर्वार्थसिद्धि नामक महाविमान में सब देवों की ग्रायुस्थिति पूरे ३३ सागर की है। इससे श्रधिक या कम् नहीं है।
  - (२४३) देवों की जितनी जघन्य अथवा उत्कृष्ट आयुस्थिति है उतनी ही उनकी कायस्थिति सर्वज्ञ भगवान ने कहीं है।
- टिप्पग्गी—देवगति की आयुष्य पूर्ण होते ही दुसरा भव देवगति में नहीं होता। देव होने के बाद अन्य गांत में जाना पड़ता है'।
- (२४४) देव अपनी काया छोड़कर उसं काया को फिर पार्वे इस अन्तराल का प्रमाण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त का अथवा उत्कृष्ट अनंतकाल तक का है।
- (२४५) उनके स्पर्श, रस, गंघ, वर्ण तथा, संस्थान की श्रपेक्षा से हजारों भेद हैं।
- (२४६) इस तरह रूपी तथा अरूपी—इन दो प्रकार के अजीवों, तथा संसारी एवं सिद्ध इन दो प्रकार के जीवों का वर्णन किया।
- (२४७) मुनि को उचित है कि यह जीव एवं अजीव संबंधी विभाग को ज्ञानी पुरुष के द्वारा बरावर समके—समक- कर उस पर दृढ़ प्रतीति लावे श्रीर सर्वे प्रकार के नंय निचेप (विचारों के वर्गीकरण) द्वारा बरावर घटाकर ज्ञानदर्शन की प्राप्ति करे श्रीर श्रादर्श चारित्र में लीन हो।
- (२४८) इसके बाद बहुत वर्षों तक शुद्ध चारित्र को पालन कर निम्नलिखित कम से अपनी आत्मा का दमन करे।
- (२४९) (जिस तपश्चर्या द्वारा पूर्वकर्मी तथा कषायों का क्षय होता है ऐसी दीर्घ तपश्चर्या की रीति बताते हैं)

संलेखना ( श्रात्मद्मन करनेवाली ) तपश्चर्या कम से कम ६ महीने की, मध्यम रीति से एक वर्ष की श्रीर श्रियक से श्रिधिक १२ वर्षों तक की होती है।

- (२५०) प्रथम चार वर्षों तक पांच विगय ( घी, गुड़, तैल, दही, दूघ ) का त्याग करे और फिर वाद के चार वर्षों तक भिन्न २ प्रकार की तपश्चर्यों करें।
- (२५१) नौवें तथा दसवें वर्ष—इन दोनों वर्षों तक उपवास एवं एकान्तर उपवास के पारणा के बाद आयंबिल करे और स्वारहवें वर्षे के पहिले ६ महीने तक अधिक तप-श्रवीं न करें।
- (२५२) ग्यारहर्वे वर्ष के श्रान्तिम ६ महीनों में तो श्रष्ट, श्राष्टम श्रादि कठिन तपश्चयोणं धारण करे श्रीर बीच बीच में उसी संवत्सर में आयंविल तप भी करें।
- टिप्पणी—अार्यविक अर्थात् रसविद्दीन भाजन मात्र पृक्ष ही पार प्रदेण करना ।
- (२५३) वह मुनि वारहवें वर्ष के प्रारंभ तथा श्रन्त में एक सरीखा तप करें ( प्रथम श्रायंविल, बीच में दूसरा तप श्रीर उस वर्ष के श्रन्त में श्रायंविल करें उस कांटी सिंहत श्रायंविल तप कहते हैं ) श्रीर बीच २ में मास-खमण या श्रर्थमास खमण जैसी होटी मोटी तपश्रयीएं करके इन वारह वर्षों को पूर्ण करे।
  - दिष्पर्शा ऐसी तपदचर्याएं करते समय बीच में अथवा तपश्चर्या कें पीछे मृत्यु आने का अवसर हो तब मृत्यु पर्यंत का अणसण धारण

करना होता है जिसकी विधि आगे लिखी है। उस समय शुभं एवं शांति भाव रखना जरूरी है।

- (२५४) (१) कांदर्पी, (२) श्रामियोगी, (३) किल्बिषकी, ( ४ ) त्रासुरी त्रादि ब्रह्मभ भावनाएं मृत्यु समय त्राकर जीव को बहुत कष्ट देती हैं श्रीर वे सब दुर्गति की ही कारणभूत हैं
- (२५५) जो जीव मिथ्यादर्शन ( श्रसत्य प्रेमी ) में लीन, श्रात्म-घात करनेवाले त्र्रथवा नियाण ( निदान-तप की सांसा-रिक भोगोपभोग की इच्छा ) करते हैं त्रौर उक्त तीन प्रकार की भावनात्रों में मृत्युप्राप्त होते हैं उन त्रात्मात्रों को बोधिलाभ होना बहुत २ दुर्लभ है।

टिप्पणी-बोधिलाभ अर्थात् सम्मक्त्व की प्राप्ति।

(२५६) जो जीव सम्यग्दर्शन में लीन, निदानरहित और शुक्क लेश्याधारी होते हैं और इन्हीं की आराधना करते हुए मृत्यु प्राप्त होते हैं उन जीवों को (दूसरे जन्मों में भी) वोधिवीज को बड़ी त्र्यासानी से प्राप्ति हो जाती है।

- (२५७) जो जीव मिध्यादर्शन में लीन, कृष्ण लेश्याधारी श्रीर निदान करतें हैं श्रौर ऐसी भावना में मृत्यु प्राप्त होते हैं ऐसे जीवों को वोधिलाभ होना ऋति ऋति दुर्लभ है। (२५८) जो जीव जिन भगवान के वचनों में अनुरक्त रहकर भाव-
- पूर्वक उन वचनों के अनुसार आचरण करता है वह . पितत्र (मिध्यात्व के मेल से रहित) एवं असंक्लिंट (रागद्वेष के क्लेशरहित ) होकर थोड़े ही समय में इस

दुःखद संसार को पार कर जाता है।

टिप्पणी—जिन अर्थात् रागद्वेष से सर्वथा रहित परमात्मा ।

- (२५९) जो जीव जिन वचनों को यथार्थ रीति से जान नहीं सकते हैं वे विचारे अज्ञानीजीव बहुत वार वालमरण तथा अकाममरण को प्राप्त होते हैं।
  - (२६०) ( अपने दोषों की आलोचना कैसे ज्ञानी सत्पुरुषों के पास करनी चाहिये उनके गुण बताते हैं ) जो बहुत से शास्त्रों के रहस्यों का जानकार हो; जिनके बचन समाधि (शान्ति) उत्पन्न करनेवाले हों, और जो केवल गुण् का ही महण करते हो—ऐसे ज्ञानीपुरुष ही दूसरों के दोषों की आलोचना करने के योग्य हैं।
    - (२६१) (१) कंदर्ष (कायकथा का संलाप), (२) कोत्कुच्य (मुख द्वारा विकार भाव प्रकट करने की चेप्टा), (३) मौखर्य (हॅंसीमनाक अथवा किसी का निंदाच्यंजक अनुकरण) तथा कुकथा एवं कुचेष्टाओं से दूसरों को विस्मित करनेवाला जीव कांदर्पी भावना का दोधी है।
    - (२६२) रस, मुख, अथवा समृद्धि के लिये जो साधक वशीकरण ज्यादि के मन्त्र अथवा मंत्र-जंत्र (गंडे तावीज आदि) करता है वह आभियोगी भावना का देशी है।
    - टिप्पणी—कांद्रपीं तथा आभियोगी आदि दुष्ट भावना करनेवाला यदि कदाचित देवर्गात प्राप्त करे तो वह हीन कोटि का देव होता है।
    - (२६३) केवलीपुरुप ज्ञान, धर्माचार्य, तथा साधु साध्वी एवं श्रावक श्राविका की जो कोई निन्दा करता है तथा कपटी होता है वह किल्विपीकी भावना का दोपी है।

- (२६४) निरन्तर जो गुस्से में भरा रहता है, मौका आने पर जो शत्रु का सा आचरण करता है—ऐसे २ अन्य दुष्ट कार्यों में प्रवर्तनेवाला जीव आसुरी भावना का दोषी है।
- िटप्पाणी —िनिभित्त शब्द का अर्थ निमित्तशास्त्र भी होता है और वह एक ज्योतिष का अग है। उसको झूंठ मूंठ देखकर जो कोई जनता को ठगता फिरता है वह भी आसुरी छूत्ति का दोषी है ।
  - (२६५) (१) शस्त्रप्रहर्ण (शस्त्र आदि से आत्मघात करना), (२) विष (द्वारा आत्मघात करना), (३) ज्वलन (अग्नि में जल मरना), (४) जलंप्रवेश (पानी में डूब मरना) अथवा (५) अनाचारी उपकरण (कुटिल कार्यों) का सेवन करने से जीवास्मा अनेक भवपरं-परात्रों का बंध करता है।
- ैटिप्पाणी —अकारुमरण से ज़ीवायमा मुक्त होने के बदले दुगुना बध जाता है।
- ः(२६६) इस प्रकार भवसंसार में सिद्धि को देनेवाले ऐसे उत्तम इन छत्तीस अध्ययनों को सुन्दर रीति से प्रकट कर केवलज्ञानी भगवान ज्ञातपुत्र आत्मशान्ति में लीन हो गये।
- ्टिप्प्रााि—जीव और अजीव इन दोनों के विभागों को जानना जरूरी है उनको जानने के बाद ही नारकी एवम् तिर्यंच गति के दुःख और मनुष्य एवं देवगति के सुखदुःखपूर्ण इस विचित्र संसार से छूटने के उपाय को अजमाने की उत्कट अभिलापा प्रकट होती है। ऐसी उत्कट अभिलापा के वाद आत्मा का समभाव उस उचकोटि को पहुँच

जाता है जहाँ वह दुःख में भी सुख, बेदना में भी शांति का अनुमव करने लगता है। परम प्रगाद सन्तोप की भावनाएँ उसके हृदय समुद्र में हिलारे मारने लगती हैं।

#### ऐसा में कहता हूं —

इस प्रकार 'जीवाजीवविभक्ति' संवंधी छत्तीसवां अध्ययक समाप्त हुआ।

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्ति !! ॐ शान्ति !!!



## इसी लेखक की श्रान्य किर्ताशत पुस्तक

[ संस्कृत भाषा के सामान्य अभ्यासी के लिये भी विशेष उपयोगी ]

# जैन-सिद्धांत पाठमाला

[ संस्कृत छ।या साहित ]

उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक सूत्र संस्कृत छाया तथा गुजराती टिप्पणियों के साथ। इनके सिवाय भक्तामरादि स्राठ म्तोत्र।

डाक खर्च ६ श्राना : पृष्ठ संख्या ४६८ : मूल्य मात्र २) रुपया



#### विद्वानों द्वारा मुक्तकंठ से प्रशंसित

[ गुजराती भाषा में ]

# सुखनो साचात्कार

जिसमें त्रांतरिक एवं वाह्य दोनों सुखो की बहुत ही बारी-काई से सरल एवं सुन्दर व्याख्याएँ देकर सबे सुख के साधन बताऐ गये हैं।

डाक खर्च एक आना : पृष्ठ संख्या ८८ : मृत्य डेढ़ आना सच्चे सुख के शोधकों को इस पुस्तक को मंगाकर एक बार तो इसे जरूर सांगोपांग पढ़ जाना चाहिये। सस्ता!

कुःदर ॥

जिसने अनेक जिज्ञासुओं को सन्तुष्ट किया है। जिसकी सभी ने एक स्वर से प्रशंसा की है।

वह

# उत्तराध्ययन सूत्र

[ गुजराती अनुवाद ]

जिसमें संपूर्ण उत्तराध्ययन सूत्र के सरल एवं सुबोध गुजराती भाषा-न्तर के सिवाय उपयोगी समृद्ध एवं भावपूर्ण टिप्पणियां भी दी गई हैं।

डाक खर्च चार आना : पृष्ठ संख्या ४०० : कीमत केवल छ: आना यदि आप जैन धर्म का आदर्श जानना चाहते हैं तो इसे आज ही मंगाकर पर्डे ।

तिसकी न कुछ समय में दो दो आवृत्तियां छपकर हार्योहाथ बिक गई फिर भी उसकी मांग ज्यों की त्यों बनी हुई है।

आत ही एक प्रति मंगा लीजिये, नहीं तो पीछे पछताना पदेगा ।

# स्मरण शक्ति

[ गुजराती भाषा में ]

[ भनुभूत प्रयोगों द्वारा सज्जित ]

यह पुस्तक ज्ञान-जिज्ञासुओं एवं अभ्यासियों के लिये बढ़े ही काम की है। जगत में भाज तक ऐसी एक भी दवा आविष्कृत नहीं हुई जो स्मरण शक्ति की वृद्धि के लिये गेरंटी दे सकती हो। प्रंथकर्ता ने इस छोटी सी पुस्तक में अपने स्वयं अनुभृत प्रयोग देका इस गहन विषय की अस्पन्त ही सरक बना दिया है। भाषाशैकी भी इतनी सरक है कि आबाल इद सभी इससे एकसा लाम उठा सकते हैं।

थ्राज ही मंगाकर पढ़िये।

हाक खर्च-एक आना : पृष्ट संख्या २४ ई.मृत्य एक आना

### पाप का प्रायश्चित

इस पुस्तक में आधुनिक युगोचित प्रतिक्रमण और बारह वर्तों में लगनेवाले दोषों के प्रायिश्वत बड़ी ही सरल एवं सुबोध भाषा में दिये गये हैं। इसके पहिले पृष्ठ पर प्राकृत भाषा में मूल गाथा और उसके नीचे छायासिहत संस्कृत स्रोक और उसके सामने के दूसरे पृष्ठ पर गुजराती भाषा में अन्दित पद्य और उसके नीचे विशद् अर्थपूर्ण भावानुवाद दिया गया है।

डाक खर्च एक द्याना : पृष्ठ संख्या सौ : कीमत-मात्र एक द्याना

श्राप जिसकी बहुत दिनों से राह देख रहे थे, ग्रहस्थाश्रम घर्म को श्रादर्श की तरफ प्रेरित करनेवाला श्रौर विद्वानों

द्वारा भूरि २ प्रशांसित

## त्रादश गृहस्थाश्रम

[ गुजराती संस्करण ]

गृहस्थ धर्म सम्वन्धी कर्तन्यों पर बहुत ही मार्मिक विवेचन किया गया है। पुस्तक को एक बार उठा लेने पर इसे पूरा किये विना आपका जी न मानेगा। गृहस्थाश्रम में रहते हुए आत्मिक एवं श्राध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति की एक मात्र कुन्जी। श्राज ही मंगा लीजिये। केवल थोड़ी-सी प्रतियां शेष हैं।

पृष्ट संख्या २००: 'डा. ख. तीन त्रा. : मूल्य-लागत मात्र १० त्रा.

## हाल ही में शित हुई पुस्तकें

आपके जीवनपथ में पद पद पर प्रेरणा देनेवाली प्रत्येक जिज्ञासु को एक सरीखी उपयोगी एवं लाभदायी

# साधक सहचरी

[ गुजराती संस्करण ]

निसमें उत्तराध्ययन, दशवैकालिक तथा स्यगडांग सूत्रों में से चुने हुए श्लोक पुष्पों का सुंदर वर्गीकरण कर सुमधुर पुष्पमाला बनाई गई है। प्रारंभ में प्राकृत मूलगाथा, उसके नीचे उसी भाव से ओतशोत गुजराती अनुष्टप छंद तथा उसके नीचे भाववाही संक्षिप्त सुवोध अर्थन

दिया गया है। अप-टू-डेट छपाईं और सुंदर वाहर्निडग।

मूख्य लागत मात्र केवल चार आना : पृष्ट संख्या १०४

# हिंदी भाषा भाषी

जैनवंधुत्रों के लिये शुभ समाचार

हमें यह लिखते हुए वड़ा हर्ष होता है कि वहुत से हिन्दी भाषाभाषी जैन वशुओं के आग्रह से हमने इस पुस्तक माला द्वारा गुजराती भाषा में प्रकाशित प्रायः प्रत्येक पुस्तक का हिंदी भाषा में संस्करण निकालने का प्रवंध कर लिया है और बहुत शीव्र ही (१) आदर्श गृहस्थाश्रम, (२) सुख का साक्षाकार, (३) स्मरण शक्ति, (४) साधक सहचरी, (५) पाप का प्रायक्षित—ये पुस्तक हिन्दी में प्रकाशित की जायगी। हमें पूर्ण आशा है कि हिन्दी—भाषाभाषो जैन बन्ध हमें इस पुनीत कार्य में अपना अमृत्य सहयोग देकर भगवान महावीर की पुनीत वाणी एवं विद्वानों के ज्ञान एवं अनुभवों का वर वर प्रचार करने के समीचीन उद्देश्य की पूर्ति करेंगे। बिद्धा छपाई होने पर भी मृत्य लागत मात्र ही स्वस्त जायगा। जिन वाणी के प्रेमी बन्ध अभी से इस संस्था के सभ्य बनकर दरसाहित करेंगे—ऐसी हमें आशा है।

निवेदक—महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, माणेक चोक अहमदाबाद

## श्राप के लाभ की बात!

धार्मिक साहित्य सृष्टि में अपनी उच्चतम उपयौगिता, बेहद सस्ताई और सुन्दर छपाई के कारण घूम मचा देनेवाले प्राणवान साहित्य की खूब ही मांग है। इस संस्था द्वारा प्रकाशित छनेक प्रन्थों के ६—७ महीनो ही मे दो दो तीन तीन हजार प्रतियां बाले दो दो 'स्करण प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी मांग ज्यों की त्यों चालू है। इस संस्था के सभ्य हो जाने से आपको घर बेठे ही स्वल्प मूल्य में भगवान महावोर की पीयूषवर्षी वाणी का, महापुरुषों के अनुभूत बचनामृतों का और ज्ञानी पुरुषों के ज्ञान भगडार का लाभ मिल सकता है। ज्ञान के इस युग में आप ही ज्ञानार्जन के साधन बिना क्यों रहते हैं? आज ही केवल रु० २) भेज कर इस संस्था के स्थायो सभासद बन जाइये। विशेष्ट

#### उक्त पुस्तकें मिलने के ठिकाने:--

१—महावीर साहित्य प्रकाशन मन्दिर, ठि० एलिस त्रिज, छाह्मदाबाद

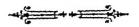
२--दिनकर मन्दिर,

ठि० साबरमती, श्रहमदाबाद

३—ग्रजरामर जैन विद्याशाला, ठि० लींबडी (काठियावाड़)

# शीघ ही पकोशित होने वाले

## अमूल्य ग्रन्थ



#### (१) याचारांग सूत्र—

इस प्रनथरान की प्रशंसा करना मानों सूर्य को दिया दिखाना है। भगवान महावीर के वचनों का अपूर्व संष्रह और आचार विषयक अनुपम प्रनथ है। भगवान महावीर के, हृदय को और जैन धर्म के अन्तरंग रहस्य को जानने का यह एक मात्र उपाय है। सरल एवं सुवोध गुजराती में टीका टिप्पणी सहित। मनोहर इपाई और सफाई के साथ मृल्य भो केवल लागत मात्रही रक्खा जायगा। अभी से अपनी कापी का आईर भिजवा दीजिये।

#### (२) लेख संग्रह—

भिन्न भिन्न धार्मिक विषयों पर विद्वान लेखक के गवेपणा-पूर्ण लेखों का संग्रह । इस पुस्तक में कई एक विवादमस्त प्रश्नों पर प्रमाणपुरस्सर प्रकाश डाला गया है जिन्हें पढ़ कर सच्चा निर्णिय करने में प्रापको यड़ी सहायता मिलेगी ।

#### (३) क्रांति का सर्जनहार—

क्रांतिकार की समालोचना। इसमें ऋषि लौंकाशाह के अमाणिक जीवन श्रीर उनकी साधना पर प्रकाश डाला गया है अत्येक जैन के घर में इस कर्मयोगी के चरित्र की १—१ प्रति श्रवरय होनी चाहिये।

#### क्या श्रापके यहां पुस्तकालय, ग्रन्थ-भएडार या शास्त्रभएडार है ?

. यदि है

तो

फिर

#### ञ्चवश्य मंगालें

#### श्री अर्घमागधी कोष भाग ४

सम्पादकः—शतावधानी पं॰ मुनि श्रीरत्नचन्द्रजी महाराज । प्रकाशकः—श्रो अखिल भारतवर्षीय दवे॰ स्था॰ जैन कान्फरेन्स ।

मुल्य रु० ३०) : पोस्टेज श्रलग

अर्धमागधी शब्दों का—संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी चार भाषाओं में स्पष्ट अर्थ बताया है। इतना ही नहीं किन्तु उस शब्द का शास्त्र में कहां कहां उल्लेख है सो भी बताया है। सुवर्ण में सुगन्ध— प्रसंगोचित शब्द की पूर्ण विशदता के लिये चारों भाग. सुंदर चित्रों से अलंकृत हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने तथा जैन साहित्य के अभ्यासी और पुरातत्व प्रेमियों ने इस महान ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

प्रिन्सी पछ युछनर साहव ने सुन्दर प्रस्तावना छिख कर ग्रंथ को और भी उपयोगी बनाया है। यह ग्रन्थ जैन तथा प्राकृत साहित्य के शौखीनों की छायबेरी का अत्युत्तम शणगार है।

इस अपूर्व प्रन्थ को शीघ ही ख्रीद छेना जरूरी है। नहीं तो पछ ताना प्रना। छिखें:—

> श्री रवे॰ स्था॰ जैन कान्फरेन्स ४१ मेडोभ स्ट्रीट, फोर्ट, वम्बई १

# क्या आप स्थानैकवासी जैन हो ? क्या आप ''जैन प्रकाश" के ग्राहक हो ?

# यदि ग्राहक न हो तो शीव्र ही ग्राहक वन जाइए। बार्षिक खागत साच रु०-३)

मासिक मात्र चार आने में भारत भर के स्थानकवासी स्माज के समाचार प्रत्येक रिववार को ख्रापके घर पर पहुंचाता है। तृहपरांत सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय प्रश्नों की विशद विचारणा और मननपूर्वक लेख, जैन जगत्, देश-विदेश और अपयोगी चर्चा रज्ज करता है।

ं जन-प्रकाशः श्री व्यखिल भारतवर्षीय स्वे० स्था० जैन कॉन्फरेन्स का मुख्य पत्र है।

्रिन प्रत्येक स्थानकवासी जैन को 'जैन-प्रकाश' के प्राहक अवस्य होना चाहिये। हिन्दी और गुजराती भाषा के परस्पर अभ्यास से दो प्रान्त का भेद मिटाने का महाप्रयास स्वरूप 'जैन-प्रकाश' को शीव अपना लेना चाहिये—

शीत्र ही प्राहक होने के नाम लिखाच्यो-

श्री जैन प्रकाश श्रॉकिस ४१ मेडौभ स्ट्रीट फोर्ट, वम्बई.